को ही वयणसगाई के लिये उचित माना जाता है। इस प्रकार का प्रयोग 'मन मृग के कारणे मदन ची,' पक्ति में तथा अन्यत्र भी पाया जा सकता है। यहाँ ची को कारकचिह्न मानकर उसका अन्तर्भाव सज्ञा में कर लिया गया और मन के ग का सम्बन्ध मदन के म से मान लिया गया। इसी प्रकार क्रिया-विशेषण अव्यय, सर्वनाम अव्यय, अथवा सम्मुच्चय वोधक अव्यय के चरण के प्रथमाक्षर के रूप में आने पर—यथा, 'किरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी'—उन्हें भी छोड़कर सज्ञा से ही प्रारम्भ किया जाता है। ऊपर व का सघटन इसी प्रकार का है। कभी ऐसा भी प्रयोग ठीक मान लिया जाता है कि प्रथमाक्षर की वयण सगाई अन्तिम शब्द के अन्तिम अक्षर से सघटित हो। यथा—'कस छूटी छुद्र-घटिका' में क का प्रयोग किया गया है। जहाँ कही इसका प्रयोग कवि बिल्कुल कर ही नही सका है वहाँ शब्दानुप्रास लाकर उसकी न्यूनता का पता भी नही लगने दिया है। तात्पर्य यह कि पृथ्वीराज ने यथासभव वयणसगाई का निर्वाह किया है और जहाँ सभव हुआ है वहाँ नवीनता प्रदर्शन की भी चेष्टा की है। किन्तु वयण सगाई के पालन न करने पर भी उसकी रमणीयता में कोई अन्तर नही आता।

वेलियो गीत

यह छन्द डिगल के मात्रिक छन्दो की छोटी सैणोर नामक जाति के चार उपभेदो में से एक है। रघुनाथदीपक ग्रथ के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है —

चार भेद तिण रा चवै, कवियण वड ओकूब।
समझ वेलियो, सौहणो, षूद, जाँगडो, पूव ॥

अथवा— सौळै कळा विषम पद साजै, समपद पनरै कला समाजै।
धुर अठार मोहरा गुरु लघु धर, कहजै 'मछ' वेलियो इम कर ॥

अर्थात् इसके विषम चरणो में १६ तथा सम चरणो में १५ मात्राएँ होनी चाहिये। कही प्रथम चरण, जिसे धुर कहते हैं, में १८ मात्राएँ तथा अन्त में गुरु लघु होता है। इसके प्रयोग में कवि ने पूरी स्वतन्त्रता वरती है। विषम चरण का नियम पालन करते हुए भी सम चरणो की १३-१४ तथा १५ मात्राओ की भी रखा है। किन्तु दूसरी और चौथी पक्तियो की सममात्रिकता कभी नष्ट नही होने दी है भले ही १५ मात्राओ तथा अन्त में गुरु लघु

के स्थान पर लघु लघु के साथ १३ मात्रा तथा लघु गुरु के साथ १४ मात्राओ का प्रयोग करके स्वतत्रता प्रदर्शित की है।

वेलि में प्रकृति चित्रण

'वेलि' भाव-रमणीयता की दृष्टि से ही नही प्रकृति की रमणीयता से भी मनोहर और मुग्धकर है। 'वेलि' का प्रकृति-वर्णन हिन्दी साहित्य मे अनुपम ही है। प्रकृति की सुरम्य छटा का जो वैभव 'वेलि' में है, वह कवि की मौलिकता, सूक्ष्मनिरीक्षण कुशलता तथा प्रकृति-प्रेम का परिचायक है, इस वात का प्रमाण है कि कवि पृथ्वीराज अकवर की मजलिस से अथवा चम्पादे के सौन्दर्य से ही अपना मन और आँख वाँध कर नही रहे, उन्होने प्रकृति का निरावृत सौन्दर्य, उसका मोहक आकर्पण और आह्वान का स्वर सुना था और उसका पूरा पूरा रस लिया था।

'वेलि' में सूक्ष्म कथानक में भी कवि ने वडी कुशलता पूर्वक ऐसे स्थल खोज लिये है जहाँ वह प्रकृति का रूप-चित्रण कर सके। रुक्मिणी के अग-प्रत्यग मानो प्रकृति की वस्तुओ से होड ले रहे है। उसके शरीर पर पहना हुआ आभूपण भी खिले नक्षत्र से कम प्रभावोत्पादक नही है। रुक्मिणी स्वय कनक-लता है। वह समानवयस्का, समान कुलशीला सखियो में खेलती हुई साक्षात् पद्मिनी के समान सुशोभित है और सखियाँ ऐसी है जैसे कमलिनी की पखुडियाँ हों अथवा निर्मल आकाश में नक्षत्रो के वीच निर्मल पूर्ण चन्द्रमा हो। कितना निर्मल रूप है, कितना कोमल अग है। अलकार की सहायता से प्रकृति की छटा रुक्मिणी की शोभा का निर्मल रूप-चित्र खडा कर रही है —

> सग सखी सीळ कुळ वेस समाणी, पेखि कळी पदमिणी परि।
> राजति राजकुँअरि रायअगण, उडीयण वीरज अम्व हरि॥१४॥

नक्षत्रो ने ही मानो रुक्मिणी के आभूपणो का रूप रख लिया है —

> गजरा नवग्रही प्रोंचिया प्रेंचे, वळे वळै विधि विधि वळित।
> हमत नखत्र वेधियौ हिमकरि, अरध कमळ अलि आवरित॥९३॥

शिशिर और वसन्तादि ऋतुओ का उद्गम रुक्मिणी के ही शरीर में होता है, क्योंकि —

सँसव सु जु सिसिर वितीत थयौ सहु। गुण गति मति अति एह गिणि।
आप तणौ परिग्रह लै आयौ तरुणापौ रितुराउ तिणि ॥१९॥

वेलिकार को अलकार के कारण न केवल रुक्मिणी के शरीर में ही प्रकृति की छटा छिटकती दिखाई देती है वलिक युद्ध का दृश्य भी उसे वर्षा से कम रजक नही लगता। रूपक के फेर मे कवि ने युद्ध रूपी वर्षा का विस्तृत वर्णन करके अपनी अलकार प्रियता को तो स्पष्ट किया है सही, किन्तु वह वर्षा के नाद-सौन्दर्य को भी भूल नही सका है।

कळकळिया कुन्त किरण कळि ऊकळि, वरजित विसिख विवरजित वाउ।
धड़ि धडि धवकि धार धारूजळ, सिहरि सिहरि समखै सिळाउ ॥११९॥
यहाँ वर्षा और युद्ध की भयकरता तथा तज्जनित त्रास एव नाद-सौन्दर्य का एक साथ जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है वह सस्कृत कवि भवभूति के ही वश की वात थी, अन्य के नही।

किन्तु इन उदाहरणो से यह भ्रम न होना चाहिए कि पृथ्वीराज ने केवल अलकार के सहारे ही प्रकृति का चित्रण किया है, उनकी दृष्टि प्रकृति के खुले वक्ष पर नही पडी है अथवा उनका दृष्टि–प्रसार नील वितान के नीचे विस्तृत हरी भरी भूमि और सध्या, प्रात के अनुराग में नहाये हुए जगत् पर नही हुआ है। इसके विपरीत पृथ्वीराज के प्रकृति-वर्णन का सारा सौन्दर्य तो वही है, कवि की मौलिकता, नवीन कल्पना का चमत्कार, रम्य रूप विधान, और सूक्ष्म-निरीक्षण के साथ साथ प्रकृति के प्रति आकर्षण का भाव तो आगे जाकर ही प्रस्फुट हुआ है। पृथ्वीराज के वर्णन सहज सौन्दर्य मे नहाये घुले और खिले हुए हैं। उसने न केवल सध्या तथा प्रात के वर्णन का ही अवसर खोज लिया है। वलिक कथा में आवश्यक स्थल पर षड् ऋतुओ का समावेश भी कर लिया है सध्या वर्णन के दो स्थल हैं और दोनो का अपना अपना चमत्कार है। पहला स्थल है, विप्र के कुण्डिनपुर से निकलते ही सध्या हो जाना, जो एकदम स्वाभाविक है। दो पक्तियो में कवि ने सध्या मे गृह-द्वार की जगमगाहट, यात्रियो की थकान और उनका रुक जाना, उनका कोलाहल और रवि की

किरण का धीरे से सरक जाना, सब कुछ, एकदम अद्भुत सफलता के साथ अकित कर दिया है।—'गई रवि किरण ग्रहे थई गहमह, रहरह कोइ वह रहे रह।' सचमुच ईर्ष्या करने योग्य चित्र है। एक सकेत में बंधा हुआ सध्या का सारा सौन्दर्य और तत्कालीन वातावरण खुल उठा है। कवि का लाघव सराहनीय है।

रति के पूर्व प्रथम मिलन की उत्सुकता में सध्या का आगमन प्रेमियो के लिये क्या प्रभाव लेकर आता है इसका भी मोहक चित्र कवि ने उपस्थित किया है :—

> सकुडित समसमा सध्या समयै, रति वछिति रुषमणि रमणि।
> पथिक वधू द्रिठि पख पखियाँ, कमळ पत्र सूरज किरणि ॥१६२॥
> पति अति आतुर त्रिया मुख पेखण, निसा तणौ मुख दीठ निठ।
> चन्द्र किरणि कुलटा सु निसाचर, द्रवडित अभिसारिका द्रिठ ॥१६३॥

इस वर्णन की विशेपता का विशद रूप में जैसा विद्वान् सम्पादक पारीकजी ने वर्णन किया है वह यहाँ उद्धृत किया जाता है। उनका विचार है कि —"यह न केवल सध्या के सकोच और विस्तार रूपी द्वैव भाव से पूर्ण शकित हृदय के प्राकृतिक दृश्य का ही चित्र है वरन्, तज्जन्य, नायक-नायिका के प्रेम-पूर्ण हृदयो में, रति-भावोदय का पृथक-पृथक् रागो से रजित भाव-चित्र भी है। यह स्वाभाविक मानवधर्म है कि प्रेम का प्रथम उद्रेक शीलधर्मा स्त्री के हृदय में सकोच को लिये हुए उद्भासित होता है और पुरुप के हृदय में उत्सुकता और सामीप्य-वाछा को लिये उत्पन्न होता है। एक मे हृदय के भावो का सकोच और दूसरे में उनका विस्तार होता है। एक का धर्म निषेधात्मक है दूसरे का विधेयात्मक। जड प्रकृति में दोनो के सम्मिश्रण से वह अनिर्वचनीय प्राकृतिक अवसर उत्पन्न होता है जिसे सध्या कहते है। मानव-प्रकृति में दोनो के सम्मिश्रण से वह अवर्णनीय भाव उत्पन्न होता है जिसे रति कहते है। कवि ने अपने प्रतिभा-बल की तीव्र सूझ से दोनो प्रकृतियो को पारस्परिक सहानुभूति और एकत्व के सूत्र में सगठित कर अद्भुत काव्य-गुण और सौष्ठव उत्पादित किया है। पदार्थ-विज्ञान का भी यह सिद्धान्त है कि प्रकृति में सघर्प और सकोच इन दो सिद्धान्तो के सघट से ही भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति है। इस वर्णन के अपूर्व सौन्दर्य और गभीर सैद्धान्तिक एव दार्शनिक तत्वो पर विचार

करते हुए हमें ऋग्वेद के १० मण्डलान्तर्गत उस पुरातन स्वर्गीय वर्णन का स्मरण होता है जब उषस् और रात्रि का पारस्परिक सम्बन्ध कल्पित करते हुए हमारे पूर्वज ऋषियो ने उच्चतम काव्यमयी भाषा में उन्हें एक पिता की दो पुत्रियाँ बताया है जो उभय सध्याकालो में उत्कठा और सकोच के भावो को हृदय में भरकर मिलन करती है और पुन बिछुड जाती है।"—पृ० ९३।

प्रभातकाल का स्वाभाविक, अलकृत, सश्लिष्ट चित्र देखना हो तो रत्यन्त में वर्णित १८२ से १८६ दोहले तक पढ जाइये। १८२ पद में चन्द्रमा की मलीनता की कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है कि चन्द्रज्योत्सना तथा पतिव्रता नारी दोनो की समानता अपनी सम्पूर्ण शुचिता में खिल उठी है। पतिव्रता का सारा सुख उसका पति ही है। उसके सुख से ही वह सती सुखी रहती है और उसकी तनिक मलिनता भी उसे मलिन कर देती है। उसके इस पतिव्रत-धर्मपालन को यदि कोई और पालन कर सकता है तो वह प्रकृति में केवल चन्द्रज्योत्सना है जो विना चन्द्र के दिखाई भी नही देती। जो चन्द्र से कभी भिन्न ही नही होती। पतिव्रता की तपोज्वलता में जितनी शुचिता और आत्म-कान्ति है वैसी ही शुचि है यह ज्योत्स्ना भी और वैसी ही प्रकाशित भी है —

गत प्रभा थियौ ससि रयणि गलन्ति, वर मन्दा सइ वदन वरि।
साथ ही दीपक परजळतौ इ न दीपै, नासफरिम सू रतनि नरि॥१८२॥

दीपक के न जलने की भी बडी ही सुन्दर कल्पना की गई है।

प्रभात का हृदयावर्जक दृश्य उपस्थित करते हुए कवि ने १८३ दोहले बडी चतुराई, लाघव और सकेत से काम लिया है। उसके द्वारा सयोग के अन्त और उसके पश्चात् की स्थिति का वडा ही रमणीय दृश्य उपस्थित किया गया है —

मेली तदि साध सुरमण कोक मनि, रमण कोक मनि साध्र रही।
फूले छडी वास प्रफूले, ग्रहणे सीतळता इ ग्रही॥१८३॥

इसी प्रकार लेखक ने प्रभातागमन पर सयोगियो का वियोग तथा वियोगियों का सयोग दिखाते हुए १८५ तथा १८६ दोहलो में घर से लेकर प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र तक और गोशाला से लेकर वाणिज्य स्थानो तक अपनी दृष्टि दौडाई है

और सवका एक सश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया है। प्रभात का यह वर्णन अपनी नैसर्गिक शोभा में अनूठा है।

कवि ने बडे उपयुक्त अवसर पर षट्‌ऋतु वर्णन का अवकाश भी निकाल लिया है। उसकी कथा केवल विवाह और विलास में ही समाप्त नही होती वलिक अभी प्रद्युम्न-जन्म भी होना है। उसके लिये कवि को कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पडती है। अतएव उस बीच में कवि ने ऋतुओ का वर्णन करके एक ओर तो प्रकृति-वर्णन का अवसर निकाल लिया, दूसरी ओर कथा के सौन्दर्य को बनाये रखा और काल के व्यवधान को जानने ही नही दिया। साथ ही उसे पारिवारिक जीवन का सकेत करने का भी अवसर मिल गया। और काव्यनियमो का पालन भी हो गया।

वेलिकार का ऋतु-वर्णन वसन्त से आरभ न होकर कालिदास के ऋतु-संहार के समान ग्रीष्म से आरभ होकर वसन्त में समाप्त होता है। उसके प्रकृति-वर्णन की सबसे बडी विशेषता है प्रत्येक मास के अनुसार परिवर्तन का ज्ञान तथा नक्षत्रो एव राशियो के ऋतुओ पर प्रभाव का विचार। कवि ने जहाँ प्रकृति का सीधा और सजीव चित्रण किया है, वहाँ उसे अपने ज्ञान से नवीन और मौलिक भी बना दिया है। प्रत्येक ऋतु के होने वाले सूक्ष्म परिवर्तन, राशि-प्रभाव तथा कोण आदि का पूरा पूरा विचार जैसा इस कवि ने रखा है वैसा हिन्दी के क्या अन्य कवियों में भी बहुत ही कम पाया जा सकेगा। दूसरी विशेषता पृथ्वीराज के प्रकृति-वर्णन की है, उनका सूक्ष्म-निरीक्षण। वर्षा का वर्णन करते हुए जिस प्रकार उन्होने समय समय पर वदलते काले–पीले बादलो का वर्णन किया है वह उनके सूक्ष्म-निरीक्षण का प्रमाण है। कवि ने सूक्ष्म-निरीक्षण का उपयोग करते हुए वातावरण की जो सृष्टि की है वह भी इनके कौशल और प्रतिभा की द्योतक है। इनके ऋतु-वर्णनो में राजस्थान की ऋतुओ तथा दृश्यो का समावेश उसे और भी प्रभावपूर्ण बनाने में सफल हुआ है। इस ऋतु-वर्णन की काव्य में दो विशेष कारणो से और भी महत्ता सिद्ध होती है। एक तो यह वर्णन आलम्बन रूप में होने के कारण हिन्दी में अपने ढंग का ह, क्योकि सेनापति के अतिरिक्त हिन्दी में आलम्बन रूप मे प्रकृति-वर्णन कही कही नाम मात्र को ही हुआ है, दूसरे, इस चित्र

से नायक-नायिका के सयोग-सुख का अनुमान करने में सहायता मिलती है, जिससे कथा का स्वरूप स्पष्ट होता है। कथा को विस्तार मिलता है और साथ ही काव्य को रमणीयता। अस्तु,

ग्रीष्म का वर्णन करते हुए कवि ने ७ दोहलो में उसके भिन्न भिन्न रूप उपस्थित किये है। ग्रीष्म के आगमन से प्रकृति में एक परिवर्तन आ गया है, सूर्य ही सब से अधिक गर्वित होकर चलने लगा है कि उसने दूसरो के सिर पर से होकर मार्ग बना लिया, किन्तु वृक्षो की शरणागतवत्सलता तथा परोपकारिता देखिये कि उन्होने सूर्य का ताप अपने सिर पर सहन करके दूसरो को छाया दी। सरोवरो का जल घट जाने से पृथ्वी भी कठोर हो गई।

नदि दीह वधे सर नीर घटे निसि, गाढ धरा द्रव हेमगिरि।
सुतरु छाँह तदि दीध जगत सिरि, सूर राह किय जगत सिरि ॥१८७॥

न इसमें केशव जैसी दुरारूढ कल्पना ह, न अलकरण की चेष्टा और न उपदेश की इच्छा। यह चित्र है जो सस्कृत कवियो के आलम्बन के वर्ग में बैठ सकेगा।

ग्रीष्म में छाया बडी आकर्षक तथा प्रिय लगती है। मध्याह्न के ताप से थका हुआ त्रस्त प्राण छाया ढूंढता है। बिहारी ने इस छाया की महत्ता जानकर ही, ग्रीष्म की भीषणता का वर्णन करने के लिये छाया को भी छाया ढूंढते बताया है। उनका चित्र बडा रम्य है, कल्पना एकदम अनूठी है —

बैठि रही अति सघन वन, पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहौ चाहति छाँह॥

किन्तु, बिहारी के पूर्ववर्ती कवि पृथ्वीराज की कल्पना देखिये, उन्होने ज्योतिष का सहारा लेकर क्या ही अनुपम बन्धान बाँधा है —

आकुळ थ्या लोक केहवो अचिरज, वछित छाया ए विहित।
सरण हेम दिसि लीधौ सूरिज, सूरिज ही व्रिख आसरित॥

बिहारी की छाया तो चल नही है, अतएव हमें उनकी कल्पना की दाद देनी पडेगी। किन्तु, हमें सूर्य नित्य ही चलता हुआ-सा दिखाई देता है। भले ही विज्ञान के अनुसार सूर्य न चलता हो, किन्तु हमारी ज्योतिष सूर्य के दक्षिणायण और उत्तरायण होने की बात कहती है। अत इसी लोकसामान्य तथा शास्त्र-सिद्ध बात को लेकर पृथ्वीराज ने जिस प्रकार की कल्पना की है

वह कल्पना भी है और सत्य के अविक निकट भी। इस सम्वन्व में ग्रीष्म का ताप और छाया की सुखदता का सेनापति ने भी सुन्दर वर्णन किया ह'—

मेरे जान पौनो सीरी ठौर को पकरि कोनो,
घरी एक वैठि कही घामे वितवतु है।

ग्रीष्म का मध्याह्न माघ मास की मेघ-घटाओ से आच्छादित कृष्णवर्ण अर्द्धरात्रि की अपेक्षा अविक निर्जन और भयकर होता है, इसका अनुभव भी कवि से नही वचा रहा है, जिसका वर्णन उसने १९० दोहले में किया है। इस ग्रीष्मकाल में यदि कही ठडक रह गई है तो वह केवल कामिनी के कुचो मे, अतएव सयोगी उसी का सेवन करते है —"वणी भजै वण पयोवर।" कृष्ण के पास ग्रीष्म से वचने की सामग्री की क्या कमी, अतएव वे रईसी ठाट से उसीका आनन्द ले रहे है। किन्तु अन्य जनो को ग्रीष्म सचमुच कैसा प्रतीत होता है, उसका राजस्थान मे कैसा भयकर रूप उपस्थित हो जाता है, किस प्रकार धूल के वगूले उठकर वातावरण को अन्वकारमय वना देते है इसका वडा ही सच्चा, अनुभवयुक्त और प्रभावपूर्ण चित्र कवि ने उपस्थित किया है —

ऊपडी वुडी रवि लागी अम्वरि, खेतिए ऊजम भरिया खाद्र।
मृगशिर वाजि किया किकर मृग, आद्रा वरसि कीघ धर आर्द्र ॥१९३॥

हिन्दी में ग्रीष्म का वर्णन एक से एक अच्छा हुआ है सही किन्तु उनमे ताप तथा वमक का नामोल्लेख है। पृथ्वीराज के वर्णन में ग्रीष्म की भयकरता तो है ही स्थानीय विशेपता का चित्रण भी है और वातावरण की सृष्टि हुई है। मृगवात तथा मृगतृष्णा की वात से ग्रीष्म की भयकरता सकेतित है, कथित नही। उसके साथ ही वर्पा का सुखद आगमन और किसान की कर्म-शीलता भी वर्णित है।

वर्पा-वर्णन के ११ दोहलो में कवि ने शृगार भावना को प्रवानता दी है। कही उसने वर्पा को नग्न नारी के रूप में देखा है, यथा दोहला १९७, कही (दो० २०० से २०२ तक) उसे पृथ्वी तथा मेघ के सम्मिलन में रति-भाव की छाया ही दिखाई दी है। किन्तु वर्पा के स्वाभाविक चित्रो की भी कमी नही है और न कवि का सूक्ष्म-निरीक्षण ही यहाँ छिपा रहा है।

स्वाभाविक वर्णन के लिये दोहले १९४ तथा २०३ आदि देखे जा सकते है। सूक्ष्मनिरीक्षण के लिये १९५वें दोहले का उल्लेख आवश्यक है। वर्षा मे किस प्रकार काले काले वर्तुलाकार मेघो के प्रान्तभाग में श्वेत वादल लगे चलते है, किस प्रकार श्रावण में धरणी जल से आप्लावित हो जाती है, किस प्रकार वादल उमडकर फिर पिघलते और मिटते चले जाते है, इस सबको देखते तो वहुत लोग होगे किन्तु उनका वर्णन कर सकने की क्षमता आज तक कितनो ने प्रदर्शित की है, यह किसी से छिपा नही है। किन्तु पृथ्वीराज ने कैसा अद्भुत चित्र अकित किया है, मानो तूलिका लेकर किसी चित्रकार ने मेघो को जहाँ तहाँ काला वनाकर उनके प्रान्त भाग में श्वेत वादल अकित ही कर दिये हो —

काळी करि काँठळि ऊजळ कोरण, धारे श्रावण धरहरिया।
गळि चालिया दिसो दिसि जळग्रम, थभि न विरहिण नयण थिया ॥१९५॥

पृथ्वीराज कल्पना का सहारा लेकर भी अपनी आँखो को खुली रखकर प्रकृति के रूप-रग और उसकी छवि को निहारते, उसका आनन्द लेते चले है। कालिदास के मेघदूत का-सा सौन्दर्य उनकी कविता में देखना हो तो २०४ तथा २०५ दोहले पढ जाइये।

पृथ्वीराज के शरद-ज्योत्स्ना के चित्र, अथवा सौन्दर्य की कल्पनाएँ अत्यन्त मनोरम है। इस वर्णन में भी कवि की दृष्टि विशषत नारी-रूप और सौन्दर्य की ओर ही आकर्षित रही है। कही कही पर उपमा के सहारे तथा कही शारीरिक साम्य के वडे सुन्दर रूप अकित किये गये है। दोहले २०६ तथा २०७ में शरद् के सौन्दर्य का वर्णन यद्यपि वहुत ही सुन्दर है किन्तु कवि ने उस स्वाभाविक सौन्दर्य को रत्यन्त में नायिका के सौन्दर्य के साथ तौलकर दृष्टि सीमित कर दी है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन स्थलो पर भी वर्णन अत्यन्त रजक तथा मार्मिक है। २०८ तथा २०९ में शरद् का स्वाभाविक वर्णन ह। २१० तथा २११ दोहलो का रूप शरद् जुन्हाई में घुला हुआ और अत्यन्त आकर्षक है। ज्योत्स्ना में हस की शुभ्रता ऐसी मिल गई है कि हसिनी पास ही होते हुए भी नही जान पाती। चांदनी ऐसी छिटकी है

कि उसकी धवलिमा मे स्वय चाँद खो गया-सा प्रतीत होता है —सोळह कळा समाइ गयौ ससि, ऊजासहि आप आपणै ॥२११॥ दिन की लघुता तथा रात्रि की दीर्घता की कल्पना भी वडे ही चमत्कारपूर्ण रूप मे प्रस्तुत की गई है। देखिये दोहला २१२। पाश्चिमात्य पवन ने हेमन्त के लगते ही उत्तरदिशा मे अपना निवास स्थान वना लिया और पति के लिये पत्नियो का हृदयस्थल स्वर्ग हो उठा। सर्प और धनाढ्च दोनो ही अपने अपने विवर में चले गये। कवि के इस कथन में उसके चातुर्य और उक्ति-वैचित्रय का रूप ऐसा ही खिला है जैसा सेनापति के वर्णनो में। सर्प और धनाढच को एक ही गति में पहुँचाकर कवि ने उनकी विषमयता के साम्य का भी सकेत कर दिया है। सभवत. उनके समकालीन धनाढ्य भी सर्प से कम क्रूर न होगे, जिसके कारण कवि को यह साम्य और भी सूझ गया। पृथ्वीराज की उपमाएँ वडी ही मार्मिक और सूझ-बूझ से भरी हुई है। उन्होने ऋतुओ के कारण दिन के घटने वढने का वर्णन इन्ही उपमाओ का सहारा लेकर अनुपम ढग से किया है। जिस प्रकार सर्प तथा धनाढ्य की एक ही गति का चित्र उन्होने पहिले प्रस्तुत किया है उसी प्रकार ऋणदाता और ऋणी की स्थिति का भी रोचक वर्णन करते हुए वे कहते है —

दिन जेही रिणी रिणाई दरसणि,
क्रमि क्रमि लागा संकुडिणि ॥
नीठि छुटै आकास पोस निसि,
प्रौढ़ा करषणि पगुरिणि ॥२२०॥

इसी प्रकार की रम्य कल्पना, दैनिक अनुभव के आधार पर साम्य और राशि, दिशा, कोण आदि का ज्ञान पृथ्वीराज की पक्ति पक्ति से विखरा पडता है। उनकी कविता में प्रकृति अपने पूरे सुहास के साथ खिली है, अपने पूर्ण सम्मोहन के द्वारा पाठक को आकर्षित करने में सफल है। सबसे अधिक रम्य है उनका वसन्त, कही वह महफिल सजाकर आनन्द-मग्न हो रहा है। कही उसकी सेवा में वन्दी, सूत, मागध आदि उपस्थित होकर उसका यश गान कर रहे है और कही उसका प्रभातकालीन अनुराग की भाँति सौन्दर्य छलका पडता है। कभी उनका वसन्त एक शिशु के रूप मे दिखाई देता है, कभी

वेलि की संस्तुति

(१) समकालीन चारण कवि आढा जी दुरसा कृत प्रशंसा —

रुकमणि गुण लखण रूप गुण रचावण। वेलि तासु कुण करै वखाण।
पांचमो वेद भाख्यो पीथळ। पुणियो उगणीसवो पुराण॥

(२) किसी अन्य राजस्थानी कवि कृत प्रशंसा —

वेद वीज जल विमल, सुकवि जिण रोपी सद्धर।
पत्र दोहा गुण पुहप, वास लोभी लखमीवर।
पसरी दीप प्रदीप, अधिक गहरी आडम्बर।
जिके शुद्ध मन जपै, तेउ फल पामे अम्मर।
विस्तार कीध जुगजुग विमल, धन्य कृष्ण कहणार धन।
अमृत वेलि पीथल अचल, तैं रोपी कल्याण तन।

(३) केवल भगत अथाह कलावत, तैं जु क्रिसन-त्री गुण तवियो।
त्रिहुँ पांचमो वेद चालवियौ, नव दूणम गति नीगमियौ।
मे कहियो हर भगतप्रिथीमल, अगम अगोचर अति अचड।
व्यास तणा भाखिया समोवड, ब्रह्म तणा भाखिया वड॥

(४) डाक्टर एल० पी० टैसीटरी कृत प्रशंसा —

"राठौड़ पृथ्वीराज, बीकानेर, द्वारा रचित 'वेलि-क्रिसन रुकमणी री' राजस्थानी साहित्य रूपी रत्न-गर्भा खान के अत्यन्त देदीप्यमान रत्नों में एक श्रेष्ठ रत्न है। अकबर बादशाह के चमत्कारपूर्ण जमाने में निर्मित हुई राजस्थानी कविता-क्षेत्र की इस सर्वोत्कृष्ट रचना को उस समय से अब तक के साहित्य के समालोचकों और निर्णायकों ने सर्वसम्मति से काव्य में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया है।—डिंगल साहित्य की यह सर्वांगसम्पूर्ण कृति है। काव्य-कला की दक्षता का एक विचक्षण नमूना है, जिसमें, आगरे के ताजमहल की तरह, भाव की एकाग्र सहजता के साथ अनेकानेक काव्य-गुण-विस्तार का सुखद सम्मिश्रण हुआ है और जिस रस और भाव का सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य और काव्य के बाह्य आकार की निष्कलंक शुद्धता को जाज्वल्यमान स्वरूप में प्रदर्शित करता है।'—पारीक जी द्वारा अनुवादित।

वही अपने पूर्ण यौवन-मद मे खिलखिला कर हँसता दिखाई देता है और सारी प्रकृति उसकी मोहन मुस्कान से मस्त और मतवाली हो उठी है। कही वही दिग्विजय के लिये निकले हुए राजा के समान दिखाई देता है जिसने दिग्-दिगन्त को जीतकर अपना साम्राज्य फैला लिया है और सारी प्रकृति वसन्त जसे सुराजा को पाकर मग्न हो गई है, प्रफुल्लित होकर उत्सव मना रही है। कभी कभी कवि का ध्यान इस वसन्त की धीर समीर की ओर चला जाता है और वह मन्द मन्द आते हुए गज के समान उसे मोहित करने लगता है। कभी पवन पुरुष के समान कुज लता पुजो का पार करता कली के पास जाकर उसे चूम लेता है। कभी अपने नखो से फूल तोडती हुई मालिनियो को पुष्प की ललाई के कारण अपने नखो का ही आभास नही रहता। साराश यह कि कवि की कल्पना, चित्रकार की सी सजगता, सगीतज्ञ का ज्ञान, महफिली साजवाज और रग-ढग, आदि को चित्रित करने का कौशल यदि कही अपने समग्र रूप में प्रस्फुट हुआ है तो वह वसन्त की वासन्तिकता में। इस प्रकार के चित्र, ऐसी मिठास भरी कल्पनाएँ, ऐसे साम्य और ऐसा उक्ति-सारल्य किसी अन्य हिन्दी कवि में खोजने से ही मिलेगा। पृथ्वीराज अपनी इस कला मे सर्वोत्तम कवियो की श्रेणी में बैठने के अधिकारी है। यहाँ वसन्त के रम्य रूप तथा कवि कल्पना के दो एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा। इसी वसन्त-के मुख्य पर्व होली की ओर से भी कवि की आँख हटी नही है। वनस्पति रूपी जच्चा, वसन्त का जन्म, पवन रूपी बधाईदार के लिये आरभ के २२९ से २३२ तक के दोहले देखे जा सकते है। वसन्त मे वन उपवन की शोभा के स्वाभाविक तथा हृदयाकर्षक चित्र के लिये २३४ दोहले का मनन किया जा सकता है, जो अपने सौन्दर्य में कालिदास के तपोवन के वर्णन से किसी दशा में कम नही है। वसन्त में पत्रों पर पडे हुए जलकणो की उपमा देखें —

आयौ इळि वसँत ववावण आई, पोइणि पत्र जळ एणि परि।
आणद वणे काचमै अगणि, भामिणि मोतिए थाल भरि ॥२३५॥

कवि की कल्पना देखिये कि स्वर्ग तक फैले हुए ऊँचे ताड के चचल पत्र क्या है मानो वसन्त की दिग्विजय के घोषणा-पत्र ही है। २४२ दोहे में मालिनियो की दशा पठनीय है —

तनु रग वास तनु वास रग नण, कर पल्लव कोमल कुसुम।
वणि वणि माळिणि कैमरि वीणति, भूली नख प्रतिविम्व भ्रम ॥२५७॥

वसन्त रूपी सुराजा के नुराज्य का रूप देखना हो तो २४९ से २५३ तक पढ जाइये, और सराहिये। यहाँ पवन रूपी हाथी का चित्र देखिये और फिर विहारी के वर्णन से तुलना करके देख लीजिये कि कौन कहाँ तक सफल है। ध्यान रखिये विहारी पृथ्वीराज के परवर्ती कवि है। पृथ्वीराज की उक्ति है —

तोय झरणि छटि ऊवसत मळय तरि, अति पराग रज धूसर अग।
मधु मद श्रवति मद गति मल्हपति, मदोनमत्त मारुत मातग ॥२६३॥

और विहारी कहते है —

रनित भृ ग घटावली, झरित दान मधुनीर।
मन्द मन्द आवत चल्यौ, कुजर कुज समीर॥

विहारी के कुजर-कुज-समीर के वर्णन में शोरगुल अधिक है, मदोन्मत्तता और निश्चिन्तता कम। पृथ्वीराज का मदमत्त समीर अपने शरीर से धूल लपटाये, झरनो के छीटे उडाता, चन्दन-वृक्षों से शरीर का घर्षण करता मद झरता हुआ निश्चिन्त भाव से चला आ रहा है। विहारी ने कुज के साथ अनुप्रास की रमणीयता को प्रधानता देते हुए कुंजर का वर्णन किया है। किन्तु 'कुजर' मे उसकी वह मस्ती कहाँ प्रकट होती है जो विहारी दिखाना और देखना चाहते है। किन्तु पृथ्वीराज का शब्द-शोध देखिये कि मदमत्त समीर की मस्ती के लिये उन्होंने उस 'मातग' शब्द का प्रयोग किया, जिससे स्वत. भाव फूट पडता है। कहने की आवश्यकता नही कि विहारी का चित्र अधूरा है और मातग की मदमत्तता का दर्शन कराने में असमर्थ है, जब कि पृथ्वीराज की पक्तियाँ चित्रकार की सफलता का नमूना है।

रसलीन को ही देख लीजिये जिन्होंने पवन को राजहस का रूप दिया है। कहते है —

सरवर माँहि अन्हाइ, अरु वाग वाग विरमाइ।
मन्द मन्द आवत पवन, राजहस के भाइ॥

उनसे पूछिये उन्हें इससे कितनी तृप्ति मिली, कितना रूप वह अकित कर पाये।

पवन बहुत थक गया है, अतएव वह मन्द मन्द चल रहा है। इसका वर्णन विहारी और पृथ्वीराज दोनों ने ही किया है। विहारी कहते हैं —

चुवत स्वेद मकरद कन, तरु तरु तर विरमाय।
आवत दच्छिन देस तें, थक्यो बटोही बाय॥

पृथ्वीराज का पवन नद-नदी को तैरते हुए, वृक्षो को फाँदते हुए, लतिकाओ के गले लगता, दक्षिण से उत्तर की ओर जा रहा है, इसी कारण इतना थक गया है कि पाँव आगे बढते ही नही —

तरतौ नदि नदि ऊतरतौ तरि तरि, वेलि वेलि गळि गळै विलग्ग।
दखिण हूँत आवतौ उतर दिसि पवन तणा तिणि वह न पग्ग॥२५९॥

उसके श्रमकण ही देखने की चाह हो तो वह भी लीजिये यहाँ है —

केवडा कुसुम कुन्द तणा केतकी, श्रम सीकर निरझर श्रवति।
ग्रहियौ कन्धे गध भारगुरु, गधवाह तिणि मद गति॥२६०॥

इतना ही नही रत्यन्त म शौच करके लज्जित पवन-पुरुष किस प्रकार धीमे धीमे चलता है, अधीर नायक के समान पवन किस प्रकार रजस्वला नायिकाओ के समान पुष्पवती लतिकाओं का स्पर्श किये बिना नही मानता, सयोगिनी तथा वियोगिनी के लिये किस प्रकार यह पवन सुखद अथवा दुखद प्रतीत होता है, इसके भी अत्यन्त मधुर मादक और एकान्त रम्य चित्र पृथ्वीराज ने उपस्थित किए हैं। ऊपर के चित्रो से स्पष्ट ही है कि प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में, चित्र बाँधने साम्यउपस्थित करने में पृथ्वीराज हिन्दी के कवियो में प्रथम कोटि के अधिकारी हैं। आधुनिक काल में 'जूही की कली' रचकर निरालाजी ने जो मधुमादक चित्र उपस्थित किया वह अनुपम है और प्राचीन काल मे पवन की विविध स्थितियों का जो सजीव चित्र पृथ्वीराज ने खीचा वह भी अपनी सुषमा मे अनुपम है। सुखद और रतिमधुर चित्रो के अकन में पृथ्वीराज की लेखनी तूलिका का काम करती है। उनकी कविता सूक्ष्म-निरीक्षण के सौन्दर्य से यौवनवती है, उसमें कालिदास का सा रूप-सौन्दर्य का आकर्षण है। कोई भी स्थल ऐसा नही है जहाँ कवि ने रग भरकर उसे चमका न दिया हो, दूसरो के चित्र उनके सामने फीके न हो गये हो। कवि ने जिस वर्णन को उठाया है उसका पूरा रूप खडा किया है उसे पूर्ण भाव-तन्मयता से चित्रित किया है।

वेलिकार की बहुज्ञता

प्राचीन काल के साहित्य-शास्त्रो मे इस वात की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि कवि को अनेक वातो का ज्ञान रखना चाहिये। इस प्रकार के ज्ञान का निर्देश सस्कृत के कई ग्रथो में वर्णित है। राजशेखर की सुप्रसिद्ध पुस्तक काव्यमीमासा में इस ज्ञान के अनेक विभाग करके कई अध्यायो मे उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। सस्कृत का एक ग्रथ कविकर्पटिका के नाम से प्रसिद्ध है। इसके लेखक का तो कहना है कि यदि उनके द्वारा दिये गये कुछ शब्दो आदि को कोई स्मरण कर ले तो कैसी भी समस्या हो वह उसकी पूर्ति कर सकता है।—

यत्नादिमा कण्ठगता विवाय, श्रुतोपदेशाद् विदितोपदेश ।
अज्ञातशब्दार्थविनिश्चयोपि, श्लोककरोत्येव समासु शीघ्रम् ॥

इससे प्रकट होता है कि सस्कृत कवियो के लिये विशद ज्ञान की अनिवार्य रूप से आवश्यकता मानी गई है। हिन्दी में भी इसी प्रकार की कुछ सूचियाँ देने की प्रवृत्ति केशवदास आदि में लक्षित होती है। कभी कभी ऐसा भी हुआ है कि उल्टा सीधा वर्णन कर देना ही आवश्यक समझ कर कवि कुछ न कुछ कह गया है। फिर भी इतना निश्चय है कि यदि कवि का ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत है तो वह उसका उपयोग करके काव्य को अत्यन्त मार्मिक और प्रभावपूर्ण वना सकता है। वेलिकार पृथ्वीराज भी इस वात को आवश्यक मानते रहे होगे इसीसे उन्होने 'वेलि' मे आए हुए ज्ञान का स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा है —

ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी, सगीती तारकिक सहि।
चारण भाट सुकवि भाखा चित्र, करि एकठा तो अरथ कहि ॥२९९॥

कोई चाहे तो आक्षेप कर सकता है कि पृथ्वीराज की यह गर्वोक्ति है, उन्हें विनम्रता से काम लेना चाहिये था। निस्सन्देह कवि की यह उक्ति विनम्रता की वडी भारी सूचना तो नही देती किन्तु इसे एकदम आत्मश्लाघा कहकर भी नही रहा जा सकता। 'वेलि' में प्रयुक्त ज्ञान के आधार पर यदि वेलिकार ने यह सव कहा है तो इसे गर्वोक्ति न कहकर हमें उनका स्पष्टीकरण, उनका वक्तव्य मानना चाहिये। उन्होने यदि अपने ग्रथ को समझने के लिये एक मार्ग का दर्शन करा दिया है तो हमारी सहायता ही की है। हमें देखना यह चाहिये कि यदि

यह उक्ति सत्य नही है तो कवि का यह मिथ्या दम्भ मात्र है, अन्यथा यह मार्ग निर्देश हमारा सहायक है। नीचे हम कवि की बहुज्ञता के उदाहरण वेलि से देंगे जिनसे उनकी यह उक्ति सत्य सिद्ध होगी।

कथाकार का आवश्यक और पहला गुण होना चाहिये कि वह अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक, कथाओ का ज्ञाता हो और उनका उपयोग अपनी कथा मे कर सके। इससे काव्य के विस्तार तथा उपदेश आदि में सहायता मिलती है और काव्य की रोचकता की वृद्धि होती है। वेलिकार को पौराणिक ज्ञान तो सीधे भागवत से मिला ही था, यह असदिग्ध है। इसके अतिरिक्त कि वह अपने ग्रथ की उपयोगी कथा को ठीक ठीक जानता था, उसे अन्य कथाओ (यथा, अनेक अवतारो तथा समुद्र मन्थन की कथा) का भी पता था। रुक्मिणी का पत्र भागवत की कथा से नही लिया गया है वह कवि की स्वच्छन्द प्रतिमा के प्रताप से उद्भुत हुआ है। उस पत्र मे लेखक ने क्रमश वलिबन्धन, वाराहावतार, नृसिहावतार, समुद्रमन्थन, रामावतार और रावण का नाश, लका से सीता का उद्धार और समुद्र बन्धन, चतुर्भुज रूप आदि का उल्लेख किया है, जिससे प्रकट है कि कवि को पौराणिक कथाओ का ज्ञान था। ऐतिहासिक ज्ञान का बोध, चन्देवरी नगरी का नाम देकर सूचित किया गया है।—पहिलुं इ जाइ लगन ले पुहती, प्रोहित चन्देवरी पुरी ॥३६॥ प्राचीनकाल में होनेवाले राजसूय, अश्वमेघ आदि यज्ञो के द्वारा किस प्रकार दिग्विजय की घोषणा की जाती थी, यह ऐतिहासिक ज्ञान भी उन्ह था, जिसका सकेत उन्होने २४२ वें दो० में 'जगहथ पत्र' कहकर किया है। महाभारत की कथाओ तथा महाभारत कालीन कथाओं और महान् विभूतियो का उन्हें परिचय था अतएव उन्होने महात्मा विदुर का उल्लेख वसन्त की महफिल में—विदुर वे चक्रवाक विहार—पक्ति में कर दिया है १५९वे दोहले में कवि ने क्षीरसागर का वर्णन—सेज वियाज खीर सागर सजि— तथा २१६ में धनजय तथा दुर्योधन के कृष्ण से सहायता माँगने की कथा का वर्णन करके कवि ने अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान की पुष्टि ही की है। यह दोहला तो कवि के ज्योतिष ज्ञान का भी नमूना है। दोहला इस प्रकार है —

एहिज परि थई भीरि कजि आया,
धनजय अनै सुयोधन।——आदि।

२७१ में उषापति कहकर वाणासुर की पुत्री उषा का, २७३ मे सिंधुसुता कहकर समुद्रमन्थन से निकली लक्ष्मी का, तथा २७४ मे शम्वरारि कहकर शम्वर की कथा के ज्ञान का भी परिचय दिया है।

कवि के भौगोलिक ज्ञान का पता भी २२४वे दोहले की निम्न पक्तियो से लगता है —

निय नाम सीत जाळै वण नीला, जाळै नळणी थकी जळि।
पातिग तिण द्वारिका न पैसै, मँजियै विणु मन तणै मळि॥

द्वारिका समुद्र की समीपता के कारण अधिक शीत तथा अधिक गर्मी से वचा रहता है। किन्तु वहाँ शीत का भी आगमन हो गया जो उस स्थान की स्थिति के विरुद्ध है। यही लक्ष्य करके कवि ने उसे पातकी कहा है।

कवि का प्रकृति का ज्ञान तो वहुत ही वढा चढा था। पवन के त्रिविध गुणो का वर्णन कर देना तो रूढि से प्रचलित है, किन्तु वनस्पति का जैसा ज्ञान वेलिकार को है वैसा कम कवियों को रहा होगा। प्रकृति का ज्ञान रखने के कारण ही कवि ने कृषक के कार्यों से भी परिचय प्रकट कर दिया है। अनेक पुष्पो का ज्ञान कराते हुए कवि ने २३७ वाँ दोहला लिखा है जिसमें—'कणियर तरु करणि सेवती कूजा, जाती सोवन गुलाल, आदि का नाम आया है। ऐसे कितने ही पुष्पो के नाम २५६ तथा २६० आदि दोहलो मे भी पाये जा सकते है। पक्षियो में भी लेखक ने चक्रवाक, कोकिल, किरीटी, खजरीट आदि का नाम लिया है और उनके कार्यो अथवा गुणो से साम्य के आधार पर अथवा उद्दीपन के रूप मे वडी ही सुन्दर, चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ कही है। सन्ध्या के समय चक्रवाक का अलग हो जाना तथा प्रात फिर मिल जाना रति के वर्णन से पूर्व तथा पश्चात् उद्दीपन के रूप में ही किया गया है। भाव व्यजना के लिये किरीटी का नाम भी वडे ही सुन्दर स्थल पर रखा है। कृष्ण प्रात काल किरीटी की आवाज़ सुनकर रुक्मिणी से अलग होने की व्यथा से व्यथित हो उठे है —

लिखमीवर हरख निगरभर लागी, आयु रयणि त्रूटन्ति इम।
क्रीडाप्रिय पोकार किरीटी, जीवितप्रिय घडियाल जिम॥

राजहस, भ्रमर, झिल्ली, मोर तथा चकोर इन सबका काम भी एक ही साथ वसन्त की महफिल मे बाँट दिया गया है।—

कळहस जाणगर मोर निरतकर, पवन तालधर ताल पत्र।
आरि तन्तिसर भमर उपगी तीवट उघट चकोर तत्र॥

तोता, सारस, खजरीट तथा कबूतर का वर्णन भी अगले ही दोहले में कर दिया गया है। खजन पक्षी की चालपर रीझकर उसे गतिकार कहना उचित ही है।

ऋतुराज के गति, मति तथा गुण का सुन्दर साम्य १९वें दोहले मे रुक्मिणी की गति, आदि से बैठाया गया है। २२६वें दोहले मे ऋतु-परिवर्तन के वर्णन से कवि के वानस्पत्य-ज्ञान का भी परिचय मिलता है।

रवि बैठो कळसि थियौ पालट रितु, ठरे जु डहकियौ हेम ठठ।
ऊडण पख समारि रहे अलि, कण्ठ समारि रहे कळकठ॥

ऋतु-परिवर्तन का वनस्पति तथा जीवो पर प्रभाव का यह ज्ञान राशि ज्ञान से सम्पन्न है। ऋतुओ के ज्ञान के कारण ही कवि को कृषक के धान्य बोने आदि का समय भी ठीक ठीक ज्ञात है। उसकी विशेषता यह है कि वह धान्य बोने और काटने की विधि से भी पूर्ण परिचित है। यथा उसका यह कथन कि वर्षा के समय हल चलाने से थोडे परिश्रम से ही पूरा लाभ हो सकता है —

वूठै वाहवियै आ वेळा, हल जीपिस्यै जु वाहिस्यइ हाथ।
अथवा— विसरियाँ विसर जस बीज बीजिजै, खारी हाळाहळाँ खलाँह॥
त्रूटै कन्ध मूळ जड त्रूटै, हळधर काँ वाहताँ हलाँह॥

कृषक द्वारा किये जाने वाले गाहटन कर्म का भी चित्र कवि ने खीचकर कृषक के सभी कार्यों से अपना परिचय प्रदर्शित किया है —

रिण गाहटतै राम खळाँ रिण, थिर निज चरण स मेढि थिया।
फिरि चडियै सघार फेरता, केकाणाँ पाइ सुगह किया॥

प्रशसा की बात यह है कि कवि ने ऐसे स्थलो पर कृषी-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो का ही प्रयोग करके उसे वास्तविक रूप प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है।

कृषक के काम के अतिरिक्त कवि ने लोहार और जुलाहे के कामो पर भी ध्यान दिया है तथा उनका क्रमश १३२ तथा १७१ दोहले में रूपक के रूप मे वर्णन किया है। रुक्मी को दण्ड देते समय कृष्ण की दशा एकदम लोहार जैसी है। युद्धक्षेत्र ऐरण वन गया है, कृष्ण का शरीर ही लोहार का वाँया हाथ है, मन सडसी है और रुक्मी ही लोहा है —

रुकमइयौ पेखि तपत आरणि रण, पेखि रुपमणी जळ प्रसन।
तणु लोहार वाम कर निय तणु, माहव किउ साँडसी मन॥

जुलाहे का रूपक तो और भी सुन्दर है। वहाँ प्रेम का मधुर वन्धन सूत्र रूप में वध गया है —

मन दम्पती कटाछि दूति मै, निय मन सूत्र कटाछि नळी॥

विज्ञान की चर्चा में भी कवि किसी से पीछे नही। ज्योत्स्नाके प्रभाव से जल का वेग तथा लहरो का वढना सामुद्रिक सत्य होने के साथ ही साथ वैज्ञानिक भी है। इसका कवि ने २३ तथा १४१वे दोहले में भी वर्णन किया है। १९६ मे तो उन्होने विजली को 'जलवाला' कहकर विज्ञान की आधुनिक घोषणा को सत्य कर दिया है। पानी से विजली निकाल लेना तो आज की वात है किन्तु पचतत्वो के तत्व का वर्णन करने वाले ग्रथ इस विषय में पूर्व से ही निश्चित मत है।

वैद्यक शास्त्र से कवि का परिचय ही नही था वलिक उसकी सूक्ष्मताओ का भी उसे अच्छा ज्ञान था। दोहला २८४ में लेखक ने चतुर्विध—शस्त्र, औषधि, मन्त्र तथा तन्त्र—चिकित्सा का उल्लेख इस प्रकार किया है —

चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा, ससत्र उखध मँत्र तत्र सुवि।
काया कजि उपचार करन्ताँ, हुवै सु वेलि जपन्ति हुवि॥

तथा अगले ही दोहले में उन्होने वात, पित्त, कफ आदि का भी रोग के रूप मे उल्लेख किया है।

कवि के ज्योतिष के ज्ञान का आभास तो इतने सेही लग सकता है कि उसने जहाँ तहाँ सवसे अधिक इसी ज्ञान का प्रदर्शन किया है। नक्षत्रो, राशियो, योगिनियो, मासो, कोणो, आदि का स्थान स्थान पर वर्णन लाया गया है। नक्षत्रो का वर्णन क्रमश ८५, ९३, १९३ दोहलो में किया गया है।

पहिले में 'कुआर मग' कहकर नक्षत्र मार्ग अथवा आकाश-मार्ग का वर्णन किया गया है। ९३ वें में नवग्रहो के लिये पृथक पृथक् शुभ नुवरत्नो से जटित कण्ठी का उल्लेख है। नक्षत्र के आकार के ज्ञान का तो कवि ने अत्यन्त सुन्दर सदुपयोग किया है। एक नक्षत्र, जिसमे पाँच तारे सम्मिलित होते है, हाथ के पजे के समान होता है यही देखकर कवि ने रुक्मिणी के हाथ के पजे को हस्तनक्षत्र की उपमा देते हुए कहा है —

गजरा नवग्रही प्रोंचिया प्रेंचे, वळे वळै विधि विधि वळित।
हसत नखित्र वेधियौ हिमकरि अरध कमळ अलि आवरित॥ ९३॥

उत्प्रेक्षा, से सज्जित यह दोहला कवि के ज्योतिष ज्ञान का काव्य में सुन्दर निर्वाह का प्रमाण है। १९३वाँ दोहला तो मृगशिरा तथा आर्द्रा नक्षत्र का उपयोग तथा समय का ज्ञान ही नही प्रकट करता बल्क यमक के आधार पर कवि के देशीय ज्ञान के, उपयुक्त स्थल पर, प्रयोग की ओर भी सकेत करता है। दोहला है —

ऊपडी धुडी रवि लागी अम्बरि, खेतिए ऊजम भरिया खाद्र।
मृगशिर वाजि किया किंकर मृग, आद्रा वरसि कीध घर आर्द्र॥

यह मृगशिरा नक्षत्र में उडती धूलि का ही चित्र नही है, आर्द्रा नक्षत्र के आने पर वर्षा का भी सूचक है तथा मृगतृष्णा के रेगिस्तानी अनुभव का प्रमाण भी है। कवि ने ज्योतिष ज्ञान का देशीय अनुभव के साथ पूरा उपयोग किया है। साथ ही राजस्थानी लोकविश्वास को भी दोहले की पक्तियो में समेट लिया है।

दोहला सख्या ९६, २१२ तथा २२२ से कवि के राशि सम्बन्धी ज्ञान का भी प्रमाण उपलब्ध होता है। ९६ में एक ही साथ ग्रह-गण तथा सिंघराशि का नाम लेकर उनके भावीसूचक माने जाने के विश्वास को भी प्रकट किया गया है।—

स्यामा कटि कटिमेखला समरपित, क्रिसा अग मापित करल।
भावी सूचक थिया कि भेळा, सिंघरासि ग्रहगण सकल॥ ९६॥

ज्योतिष का विचार है कि यदि सिंघराशि पर ग्रह एकत्र हो जायें तो शीघ्र ही बडे भारी लाभ की आशा होती है। इसी बात को लेकर कवि ने उक्त दोहला कहा है। रुक्मिणी का नाम रकार से आरभ होने के कारण तुला राशि का है किन्तु उनकी कटि तो सिंह के समान क्षीण है और उस पर

धारण की गई मेखला नवरत्नों से जटित होने के कारण मानो ग्रहगण युक्त है। अतएव मानों सिंहराशि पर समस्त ग्रह उपस्थित होकर किसी भावी शुभ की सूचना दे रहे है। भाव की दृष्टि से भी कवि ने यहाँ नाटकीय विधान से काम लिया है, 'भावी की सूचना' ऐसा कह कर भावी की सूचना यही दे दी है। इस प्रकार कवि का ज्योतिष-ज्ञान भाव के लिये सोने मे सुहागे का काम करता दिखाई दे रहा है।

२१२ मे तुलाराशि का उल्लेख भी किया गया है। २२२ में मकरराशि का सकेत है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि कवि को राशियो, नक्षत्रो, मास के अनुसार ऋतुओ, ऋतुओ के लक्षणो आदि ज्योतिष की समस्त वातों का वडा ही गहन अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ था जिसका उसने अवसर के अनुसार उपयोग भी किया है। राशि आदि का इस प्रकार का ज्ञान साधारण ज्योतिष ज्ञान का परिचायक नही है। उनके गभीर चिन्तन और मनन का सूचक है। इस प्रकार का ज्योतिष-ज्ञान हिन्दी क्या सस्कृत के भी एकाध ही कवि में मिलेगा, और उसे निवाहने की कला तो पृथ्वीराज की अपनी ही है। इसके अतिरिक्त, नैऋत्य आदि कोण, योगिनियाँ, चातुर्मास्य की स्थिति, चन्द्रमा की कलाओ आदि का भी उन्हें ज्ञान था जिसका प्रदर्शन उन्होने क्रमश. १९१, ११७ व १२१ तथा १२२, १९४, २११ दोहलों में किया है।

ज्योतिष जैसा ही विशद ज्ञान पृथ्वीराज को सगीत तथा नृत्य का भी था। उसका उपयोग भी उन्होने अत्यधिक किया है। इस प्रकार के उदाहरणो के लिये क्रमश २२७, २४४, २४५, २४६, २४८ तथा २९१ दोहले देखने चाहिये। २२७ में उन्होने वीणा, डफ, महुअर तथा वशी का नाम लिया है। फाग के साथ सगीत का कितना लगाव है इसी को जान कर कवि ने फाग के वर्णन के साथ इसका नाम ही नही लिया है, पचम राग से परिचित होने का भी सकेत करते हुए कहा है –

वीणा डफ महुयरि वस वजाए, रोरी करि मुख पचम राग।
तरुणी तरुण विरहि जण दुतरणि, फागुण घरि घरि खेलै फाग ॥

यह दोहला फाग मे तरुण तरुणियो की तरुणाई से एकदम हास और उल्लास का चित्र चित्रित करता है। २४४वें दोहले मे 'तालधर' शब्द इस वात का प्रमाण है

भूमिका

पृथ्वीराज का जीवन तथा उनकी साहित्य-सेवा

हिन्दू-वैभव के सान्ध्य-काल में जब विदेशी सत्ता देश को पदमर्दित और देशी राजाओ को भू-लुण्ठित करके अपनी विजय-पताका फहराकर नौरोज़ के जश्न मनाने और सौन्दर्य-तृष्णा की शान्ति के लिये मीनाबाज़ार सजाने में लगी हुई थी और उनके गर्वोन्नित मस्तक को झुका देने की शक्ति रखकर भी अपनी फूट, गृह-कलह, अविश्वास तथा मिथ्यादम्भ के कारण राजपूती तलवार या तो जग खाने लगी थी अथवा शाही सेना के सैनिक की सगिनी बनकर अपने ही भाइयो का शिर उतार लेने के लिये जबतब लपलपा उठती थी, ऐसे समय अपने देश, अपनी जाति तथा अपने मान, अपनी आन और अपनी शान पर मर मिटने वाले, विदेशी-सत्ता के साथ रहकर भी निर्भीक भाव से उसका तिरस्कार करने वाले, देश के गौरव से गौरवान्वित, राजपूती रक्त की ओजस्विता से ओजयुत, राठौड वशावतस, शील, विनम्रता, वीरता और धीरता की मूर्ति पृथ्वीराज का जन्म, पालन और वर्द्धन हुआ था। वह समय था मुगल-सत्ता के मध्याह्न का, जिसके प्रचण्ड ताप मे हिन्दू-शक्ति हिम की भाँति गलकर बही जा रही थी। फिर भी कभी कभी विद्रोह का, हिन्दू आत्मगौरव तथा सम्मान का स्वर अकबर जैसे प्रतापी मुगल सम्राट् को चकित और भ्रमित कर दिया करता था। अपने गौरव और स्वतन्त्रता को पुन प्राप्त करने अथवा प्राप्त की रक्षा करने का प्रयत्न करते हुए शाही तलवार को भी कुण्ठित कर देने का साहस, बल और पराक्रम लेकर बीकानेर और चित्तौर की दो अग्निवाहक शक्तियाँ देश में चेतना फूंकने का अदम्य प्रयत्न कर रही थी। यह शक्तियाँ थी महाराणा प्रताप तथा हमारे चरित्र-नायक के कनिष्ठ भ्राता रामसिंह। ये लोग अकबरी सत्ता के विरुद्ध युद्ध की सिंगी अकबर से दूर रहकर फूंकते, किन्तु अकबर के समीप रहकर, उससे सम्मान और जागीर पाकर भी प्रताप के ताप और अकबर के उत्ताप का खुले शब्दो में बखान करने की शक्ति का प्रदर्शन करता था पीथल। पृथ्वीराज अपने काल मे पीथल के नाम से ही विख्यात थे।

कि वे समय-विराम ताल को भी जानते थे और करताल, मजीरा आदि जो वाद्य ताल के उपयोगी है, उनका भी परिचय उन्हे अवश्य था। ताल का विशेष सम्बन्ध नृत्य से है। इसका उपयोग क्रिया का परिमाण बताने के लिये किया जाता है। इसकी परीक्षा के लिये मात्रा की गणना के साथ साकेतिक शब्दो का प्रयोग किया जाता है। कवि ने उसे ही 'उघटना' शब्द के द्वारा बताया है।

कळहस जाणगर मोर निरतकर, पवन तालधर ताल पत्र।
आरि तन्तिसर भमर उपगी, तीवट उघट चकोर तत्र ॥

इस दोहले में ताल तथा उघट के अतिरिक्त तीवट या त्रिवट राग, जो हिंडोल राग का पुत्र कहा जाता है और जिसके गाने का समय दोपहर है, तन्त्रीस्वर एव नसतरग बजाने वाले उपगी का भी उल्लेख किया गया है। निश्चय ही इस दोहले मे सगीतशास्त्र का पूर्ण ज्ञान द्योतित है। २४५ में मरू अर्थात् सप्त स्वरो के आरोहावरोह सम्बन्धी मूर्च्छना तथा चन्द धरू से ध्रुपद राग का सकेत दिया गया है। उरप, तिरप शब्दो का प्रयोग इस बात की घोषणा कर रहा है कि पृथ्वीराज नृत्य तथा सगीत के पूर्ण ज्ञानी थे। २४८ में यवनिका, कोक, पात्र आदि शब्दो के प्रयोग से प्रतीत होता है कि लेखक ने कोकशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के साथ साथ नाटक तथा नाटकीय सिद्धान्तो का भी ज्ञान प्राप्त किया था। इन सब उदाहरणो से पृथ्वीराज सगीत के भी पूर्ण अनुभवी तो प्रतीत होते ही है, नृत्य, कोक, तथा नाट्य से भी उनका परिचय था। 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' में उद्धृत उनके निम्न पद से भी उनके इस ज्ञान की पुष्टि होती है —

घुघुकट घुघुकट घुघुकट घुघुकट घुघुकट घुघुकट।
गरें जाल झाँझि परझन कत्त तत्त तत्तत्तत्त धैया धामक धैया।
घुंघुरु कि घूंटिक पुगरू कि पुटुंक घुघुरुक करुपुनि वैन वजैया।
सकल प्राण प्रथीराज सुकवि कहि वजत मृदग ध्वननि नचति कन्हया ॥

लेखक ने जहाँ तहाँ दार्शनिक आधार लेकर अच्छी उक्तियाँ कही है। हठयोग, मायावाद, न्याय-दर्शन; इन तीन के विषय में उन्हें अच्छा ज्ञान था, इस वात का प्रमाण भी उनके पदो से उपलब्ध होता है। किन्तु इन सब दर्शनो में

लेखक का योग-सम्वन्वी ज्ञान सवसे अधिक समृद्ध था। योग की अनेक क्रियाओ की ओर उन्होने कई पदो मे सकेत किया है। प्रभातकालीन सौन्दर्य का वर्णन करते हुए, यौगिक क्रियाओ के आधार पर रूपक बाँधते हुए कवि कहता है —

धुनि उठी अनाहत सख भेरि धुनि, अरुणोदय थियौ जोग अभ्यास।
माया पटल निसामै मजे, प्राणायामे ज्योति प्रकास॥१८४॥

"योगी की शुचिता निस्सन्देह प्रात कालीन शुचिता के समान ही है। प्रात काल मे मन्दिरो और घरो से उठनेवाली शख, भेरी आदि की ध्वनि, योगाभ्यास-निरत योगी के लिये अनाहत नाद के सुख के समान ही, नागरिको के लिये सुखकर है। रात्रि का अन्धकार क्या मिट रहा है मानो योगी के हृदय का अज्ञानान्धकार ही मिटकर अनाहत नाद सुनाई पड रहा है। ज्ञान-सूर्य के उदय के समान ही सूर्योदय हो गया है। योगी जिस प्रकार प्रणायाम के पश्चात् ज्योति को सिद्ध करते है उसी प्रकार सूर्य की ज्योति अन्वकार रूपी मायापटल को हटाकर विकीर्ण हो गई है।"

योग की समस्त पद्धति से परिचित व्यक्ति ही इस प्रकार का वर्णन कर सकता है। 'मायापटल' की वात उनके वेदान्त-ज्ञान को प्रमाणित करती है। वेदान्त का कहना है कि साख्यमतानुसार जो अनेक पुरुषो की कल्पना की गई है वह केवल अज्ञान के कारण। वस्तुत चेतन तत्व तो केवल और एक है, उसीमे सवका लय होकर अद्वैत स्थापित होता है। यह द्वैत की भावना केवल माया के कारण उत्पन्न अहकार रूपी उपाधि के उत्पन्न हो जाने पर ही आती है। अतएव वेदान्ती इसी मायापटल को दूर करना चाहता है। योग, चित्तवृत्तियो के निरोध—योगश्चित्तवृत्ति निरोध—के द्वारा इस मायापटल को अहकार का नाश करता हुआ उघाड देता है। योग की यह साधना प्राणायाम के सहारे ही की जा सकती है।

दोहला २८८ तथा २८९ में लेखक ने संन्यासी, जोगी, तपस्वी, हठनिग्रह, जाग, जप, तप तीरथ, व्रत, दान तथा आश्रम-नियम का उल्लेख किया है, जिससे प्रतीत होता है कि लेखक के समय तक इन सव का अच्छा प्रचलन था क्योंकि कवि ने कहा है कि इन सव का निर्वाह करने की आवश्यकता तव

नही रहती जब 'वेलि' का पाठ कर लिया जाय। २७१ दोहले से यह भी स्पष्ट है कि लेखक को अवतार तथा भगवान की लीला या माया में अमित विश्वास था। वह मानता है कि भगवान ने मानुषी लीला के लिये ही शरीर धारण किया है।—

लीलाधण ग्रहे मानुखी लीला, जगवासग वसिया जगति।

किन्तु वह नारायण, निर्लेप तथा निर्गुण है —

किं कहिसु तासु जसु अहि थाकौ कहि,
नारायण निरगुण निरलेप।—२७२।

२७३ दोहले में न्याय और तर्कशास्त्र का ज्ञान प्रकट करने के लिये ही कवि ने पारिभाषिक शब्द 'प्रमा' का नाम लिया है —

लोकमाता सिंघुसुता श्री लिखमी, पदमा पदमाळया प्रमा।

यह प्रमा यथार्थ अनुभव का ही दूसरा नाम है —यथार्थानुभव प्रमा। इस प्रमा के चार साधन नैयायिकों ने इस प्रकार दिये है —१ प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३ उपमान तथा ४ शब्द। साख्य ने इस केवल तीन को ही स्वीकार करते हुए उपमान को निकाल दिया है।

तन्त्र का भी कवि का कुछ अध्ययन था जिसका उपयोग उन्होने २८४ दोहले में किया है। इन्हीं सब दर्शनादि के आधार पर लेखक को नवीनता प्रदर्शन का अच्छा अवसर मिला है। इन शास्त्रीय वातो के ज्ञान के अतिरिक्त पृथ्वीराज की सवसे बडी विशेषता थी, उनका सामाजिक निरीक्षण तथा अन्यान्य व्यापारो का विशद ज्ञान। उन्हें अपने यहाँ की प्रचलित प्रथाओ का भी वहुत अच्छा ज्ञान था और विवाहादि सस्कारो से वे अभिज्ञ न थे। इसका परिचय उन्होने विशेषत १४०, १५४, १५८, १६१, २३३, २३५ और २५० दोहलो में दिया है। जन-सामान्य के कार्यों,का निरीक्षण उन्होने जितनी सूक्ष्मता से किया है, वह हम लोहार तथा जुलाहे का उदाहरण द्रेकर पहिले ही वता चुके है। सूप और चलनी के व्यवहार का सुन्दर दिग्दर्शन दो० २९५ की निम्न पक्तियो से हो सकता है —

मोतिए विसाहण ग्रहि कुण मूंकै, एक एक प्रति एक अनूप।
किल सोझण मुख मूझ वयण कण, सुकवि कुकवि चालणी न सूप॥

सुकवि कुकवि का भेद भी कवि ने अत्यन्त चमत्कार पूर्ण ढग और सामान्य तुलना से वता दिया है।

रुक्मिणी के शृगार का जैसा विस्तृत और आलकारिक वर्णन पृथ्वीराज ने किया है उससे उनके आभूषण और सज्जा ज्ञान का परिचय तो मिलता ही है, नखशिख के अन्तर्गत मणि तथा रगो के मोहक मिश्रण का ज्ञान भी प्रकट होता है। २०८ दोहला इसके प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है। पृथ्वीराज को महफिल में वैठने का जन्म भर समय मिलता रहा होगा अतएव कवि ने उस ज्ञान का उपयोग वसन्त की महफिल सजाकर किया है।

रस-सख्या तथा नायिका-भेद से उनका परिचय था इसका पता २९२ तथा १६३, १९७, २२० दो० से लगता है। हाव भावादि के ज्ञान का भी किंचित् प्रदर्शन लेखक ने २६९ में कर दिया है।—

अवसरि तिणि प्रीति पसरि मन अवसरि, हाइ भाइ मोहिया हरि।

युद्धवीर पृथ्वीराज के लिये शस्त्रो का ज्ञान तो एक सामान्य वात थी। उन्होंने कई शस्त्रो का नामोल्लेख युद्ध के प्रसग में किया है। अपने समकालीन सेठों और धनपतियो की स्थिति और उनकी धनपूजा का निरीक्षण भी कवि ने किया था, जिसे उसने ऋतुराज की महफिल के अन्तर्गत चम्पक तथा केलि वृक्षों का वर्णन करते हुए प्रकट किया है —

पुहपाँ मिसि एक एक मिसि पाताँ, खाडिया द्रव माडिया ऊखेलि।
दीपक चम्पक लाखे दीधा, कोडि धजा फहराणी केळि ॥२५०॥

अर्थात् पुष्प क्या प्रकट हुए मानो पुष्पो तथा पत्तो के रूप में वृक्ष रूपी धनपतियो का गडा हुआ धन ही सामने आ गया है। चम्पक पुष्पो से ऐसा लदा है जैसे धनपतियो ने धन-रक्षा के लिये लाखो दीपक जलाए हो। केलि ने तो मानो अपने करोडो के धन पर अपनी ध्वजा ही फहरा दी है।

इन सवके अतिरिक्त कवि ने जहाँ तहाँ कामधेनु, सोमवल्ली, चिन्तामणि, शेपनाग के सहस्र फण आदि का उल्लेख करके कवि-समय का भी उपयोग किया है। कवि ने यथाशक्य अपने ज्ञान का उपयोग करते हुए कविता को रमणीय तथा प्रभावोत्पादक वनाने की चेष्टा की है उनकी उपमाएँ, तथा उत्प्रेक्षाएँ उनके सूक्ष्म-निरीक्षण की साक्षी देती है। कवि की दृष्टि का विस्तार अपने महल

की परिधि से लेकर जनसमूह, प्रकृति, युद्ध-क्षेत्र, खेत, धनपति, वैद्य, सगीतज्ञ, वेदान्ती, नैयायिक, राजमहफिल, हिन्दू-प्रथा तथा सस्कार, तीर्थादि, पर्व तथा अन्य इसी प्रकार के अनेक स्थलो तक दिखाई देता है। अपने आसपास की एक एक बात का ज्ञान तो कवि को सहज रूप मे उपलब्ध था ही, अन्य ज्ञान के लिये भी उसका परिश्रम तथा अध्ययन कम नही दिखाई देता। एक ओर वह जुलाहे और लोहार तथा किसान के साथ बैठता है, दूसरी ओर महफिल सजाता है, नाच रग का आनन्द लेता है, प्रकृति में विचरण करके अपनी आँख और मन को तृप्त करता है एव दर्शन, विज्ञान, वैद्यक तथा अन्य विद्याओ का ज्ञान उपार्जन करता है। निश्चय ही इस ज्ञान के लिये पृथ्वीराज को गहन अध्ययन की आवश्यकता पडी होगी। उनका यह ज्ञान प्रशसनीय तथा कवियो के लिये अनुकरणीय है। ऐसा ज्ञान बहुत कम लेखको में दिखाई देता है। फिर भी पृथ्वीराज विनम्रता पूर्वक कहे बिना नही रहते कि —

ग्रहिया मुखि मुखा गिळित ऊग्रहिया, मूं गिणि आखर ए मरम।
मोटा तणौ प्रसाद कहै महि, एठौ आतम सम अधम ॥२००॥

तथा— हरि जस रस साहस करे हालिया, मो पडिता वीनती मोख।
अम्हीणा तम्हीणे आया, श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥३०१॥

गुरुजनो का ही यह प्रसाद है, हरि की यह कृपा है, उसीके प्रेमवश अपनी समझ में जो कुछ भला बुरा आया वह लिख दिया। विद्वज्जन क्षमा करे। यही उनकी प्रार्थना का सार है। फिर भी ऐसे विनीत व्यक्ति को यदि कोई कहे कि वह दम्भी था तो कहने वाले को कोई क्या कहेगा, यह कहने की बात नही।

वेलि में भक्ति का स्वरूप

'वेलि' कवि के शब्दो मे शृगार-ग्रथ है किन्तु उसका बीज धर्मग्रन्थ भागवत में विद्यमान है। भागवत कृष्णभक्तो का कण्ठहार और भक्ति का सम्मानित ग्रथ ह। अतएव यदि किसी ग्रथ का बीज भागवत से उपलब्ध होता है, तो नियमानुकूल उस रचना को भक्ति-काव्य की ही श्रेणी में लोग रखना चाहेंगे। भागवत के दशम स्कध को लेकर व्रजभाषा का इतना विशाल प्रासाद खडा है। यदि भक्ति की रचनाएँ समाप्त कर दी जायें तो व्रजभाषा महत्वशून्य हो जायगी। तात्पर्य यह कि जिस भागवत के आधार पर भक्त

कवियो का वनाया हुआ इतना दृढ गढ खडा है उसी भागवत के आधार पर वढने वाली 'वेलि' को भी भक्ति से शून्य रखना अनुचित ही कहा जाता अतएव लेखक ने प्रस्तुत ग्रथ मे शृगार को प्रधानता देते हुए भी 'वेलि' की परिणति भक्ति में ही की है।

'वेलि' में भक्तिकाव्यो की परम्परा के साथ साथ अनेक ऐसे लक्षण पाये जाते है जिनके आधार पर इसे भक्तिकाव्य के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। ग्रथ के आरम्भ मे ही लेखक ने प्राचीन परिपाटी का अनुसरण करते हुए जो मगलाचरण लिखा है, उसीमें कथा के नायक कृष्ण को मगल-रूप कहा है —"मगलरूप गाइजै माहव।" माधव को मगलरूप कहना और मगलाचरण में ही उनका भी स्तवन करना इस वात का द्योतक है कि लेखक उन्हें कल्याण-कारी प्रभु ही मानता है। उस कृष्ण का वर्णन करते हुए लेखकने अनेक स्थलो पर उनके प्रति अपनी भक्ति और उनके भगवत्स्वरूप का परिचय दिया है। मगलाचरण के तुरन्त आगे दूसरे ही दोहले में लेखक ने कृष्ण को सृष्टि का आदि कर्त्ता तथा गुणनिधि मानते हुए कहा है —"आरभ मे कियौ जेणि उपायौ गावण गुणनिधि हूं निगूण।" और इस तथा आगे के छन्दो से यह विश्वास प्रकट किया है कि सरस्वती तथा सहस्र मुख तथा दो सहस्र जिह्वा वाला शेष-नाग भी उनके गुणो का वर्णन नही कर सकता फिर भला एक कवि की क्या सामर्थ्य। फिर भी भगवान की कथा कहे विना निस्तार का उपाय नही सूझता अतएव अपनी अशक्तता का ज्ञान होते हुए भी उसका कीर्तन करना ही है —"कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन, स्रम कीधा विणु केम सरै।" अतएव समझना चाहिये कि कवि ने अपने कविरूप की रक्षा के हेतु तो काव्य को शृगाररूप दिया, किन्तु उसका हृदय भक्ति और भगवान की दिव्य आभा से आलोकित था। वह इस ग्रथ को स्वय तो भगवान का कीर्तन मात्र ही समझता है। भगवान कृष्ण उसके लिये सृष्टिकर्ता है, पोषक है —"क्रिसन जु पोखण भरण करै।" कृष्ण को लेखक सदैव त्रिविक्रम, श्रीपति, जगत्पति, अन्तर्यामी, देवाधिदेव, कृपानिधि, अशरणशरण, पुरुषोत्तम, त्रिभुवन-पति तथा हरि ही मानता है। कवि होने के नाते पृथ्वीराज ने कृष्ण को 'कृष्ण' केवल तव कहा है जव वसुदेव देवकी को उनकी चर्चा करनी पडी है, भीष्मक ने

रुक्मिणी के वर रूप में उनका नाम लिया है अथवा पुरनारियो ने उन्हे आते देखा है। इन स्थलो पर 'कृष्ण' नाम लेना भी कवि-कौशल से युक्त है। माता-पिता अथवा परिजनो के द्वारा कहा गया नाम केवल प्यार-द्योतन के लिये है। पुरनारियो द्वारा कृष्ण कहने की युक्ति यह है कि वे उन्हे दूल्हा रूप में मानती है और उनकी छवि पर मुग्ध है, अतएव सहजभाव से नाम ले लेती है। जहाँ कृष्ण नाम लिया गया है वहाँ केवल कोई विशेष कारण रहा है। जैसे, ७वें पद में भी 'किसन' कहा गया है किन्तु वहाँ उनके नाम के साथ पोषण-भरण करने की महिमा लगाकर इस नाम को भी विशेष महिमान्वित कर दिया है। कवि ने नाम लेकर कहना चाहा है कि वह कृष्ण का गुणगान कर रहा है, वह कृष्ण ऐसे वैसे कृष्ण नही है कि कही के राजा हो, बल्कि वह कृष्ण है हमारे भरण-पोषण कर्त्ता ही। अतएव यहाँ कृष्ण नाम लेकर उनकी अलौकिकता की ओर बलात् ध्यान आकृष्ट किया है। अन्य नामों के लिये, जिनका उल्लेख हमने ऊपर अभी किया है, पाठक ३,५, ६, ५४, ५८, ६६, ६७, ६८ तथा १११ दोहले देख सकते है। इन सबसे सिद्ध होता है कि वेलिकार ने कृष्ण भगवान का कीर्तन मानकर ही 'वेलि' की भक्ति-पूर्वक रचना की है, कालिदास के समान केवल शृंगार-वर्णन के लिये नही। उसकी तो रुक्मिणी भी लक्ष्मी का ही अवतार है, सरस्वती उनकी सखी है। फिर उनके प्रति माता की दृष्टि को छोडकर कवि और विचार भी क्या रखता। कवि निस्सन्देह रुक्मिणी को माता ही मानता है, इस बात का प्रमाण उसने ९वें दोहले में माता की महिमा गाकर दिया है। वही पिता की भी चर्चा है जिससे स्पष्ट है कि लेखक कृष्ण तथा रुक्मिणी को माता-पिता मानता है। रुक्मिणी के पत्र द्वारा उसने अवतारवाद तथा जन्मान्तरवाद आदि मे विश्वास प्रकट करके अपनी आस्तिकता की और पुष्टि ही की है। पुष्टिमार्ग के अनुकूल द्वारिका न केवल कृष्ण का निवास स्थान है बल्कि वह अमरावती ही है—"आयौ कि हूँ अमरावती", कहकर विप्र चकित भाव से उस तीर्थ को देखता रह जाता है। रुक्मिणी की दृष्टि से यह भक्ति माधुर्य—भक्ति कही जा सकती है, और कवि की दृष्टि से यह एक दास का स्वामी के प्रति निवेदन कहा जायगा। अपनी दासता प्रकट करने के लिये लेखक ने अनेक उपायो से काम

लिया है। कही तो वह मगलाचरण के नाम पर अपनी गुणहीनता तथा भगवान की सगुणता का वर्णन कर जाता है, और अन्त में विनम्रता पूर्वक 'वेलि' को सरस्वती का प्रसाद ही मान लेता है। वह विश्वास करता है कि भाषा तो साधनमात्र है, किन्तु इतना वर्णन कर सकना भी उसके वश की बात न थी, यदि सरस्वती की कृपा न होती। भाषा को साधन—वह भी गौण—मानते हुए कवि की विचित्र उपमा ध्यान देने योग्य है।—

भाषा सस्कृत प्राकृत भणता, मूझ भारती ए मरम।
रस दायिनी सुन्दरी रमताँ, सेज अन्तरिख भूमि सम ॥२९७॥

भक्त की विनम्रता, का प्रदर्शन कवि ने अन्त के पदो, यथा, ३००–३०१, में, विशेष रूप से किया है। वह हरिरस कहता चला है, इसका विश्वास होने के कारण ही उसकी प्रार्थना है कि —

हरि जस रस साहस करे हालिया, मो पण्डिता वीनती मोख।
अम्हीणा तम्हीणे आया, श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥३०१॥

इस कारण ही वह ३०० दोहले में कह चुका है कि सज्जन 'वेलि' को गुरुजनो का प्रसाद ही कहेंगे। गुरुजनो की महत्ता की स्वीकृति और अपनी बुद्धि को उनका प्रसाद कहना भक्त की विनम्रता और शील का पहला लक्षण है। तुलसी ने भी 'कवि न होउँ नहि चतुर कहाऊँ'—कहकर अपनी विनम्रता का प्रदर्शन किया था तथा अन्यत्र भी इसी प्रकार की विनम्रता दिखाई थी। सूर को भी कहना पडा था—'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।' वेलिकार को अपने कृष्ण के भगवान होने पर इतनी आस्था है कि वह वेद तथा अनाहत आदि को उनका सेवक-सा ही समझता है।—

पौढाड़े नाद, वेद परबोधै, निसि दिन वाग विहार नितु।
माणग मयण एण विधि माणै, रुपमिणि कन्त वसन्त रितु ॥२६८॥

भगवान का क्रिया-कलाप ही विचित्र है।

कवि ने मगलरूप भगवान की आराधना की है, इसी कारण उसने, अन्त, में इस वेलि को भक्तिकाव्य बताने के लिये ही मानो कई बार इसे 'वेलि' न कह रुक्मिणी-मगल कहा है। यह मगल लिखने की परम्परा भक्तिकाव्यो में ही काम

में आती थी, यह तो सिद्ध ही है। यही कारण है कि वह 'मुख कहि कृसन रुषमणि-मगल', अथवा 'मन सुद्धि जपन्ता रुषमणि मगल' कहता है।

भक्ति-काव्यो की प्राय एक परम्परा यह रही है कि लेखक उसके पाठ की विधि का उल्लेख करता रहा है। जिन ग्रथो म पाठविधि का उल्लेख कवि की ओर से नही हुआ है उनके साथ वह पाठविधि अन्य लोगो ने निश्चित कर दी है। धार्मिक ग्रथ को पढने के लिये विशेष व्यक्ति तथा उपयुक्त समय का विचार होता आया है। वेलिकार ने इस ग्रथ की धार्मिकता की ओर सकेत करने के लिये इसी उपाय का सहारा लिया है। पृथ्वीराज ने स्वय २८० दोहले में इसकी पाठविधि का निश्चय किया है कि छ महीने तक पृथ्वी पर शयन करके, प्रात काल जल में स्नान करके, अस्पृश्य तथा जितेन्द्रिय रहकर 'वेलि' का नित्य पाठ करना चाहिये :—

> महि सुइ खट मास प्रात जळ मजै, आप अपरस अरु जित इन्द्री।
> प्रागै वेलि पढन्ता नित प्रति ॥२८०॥

इस प्रकार का विधान निश्चय ही 'वेलि' को धार्मिक काव्य की कोटि में ले जाता है। पाठ करने की यह सनातनी शैली सभवत इसी कारण वताई गई है कि हम 'वेलि' को केवल शृगार की रचना ही न समझ वैठे।

पाठविधि के अतिरिक्त भक्ति अथवा धार्मिक दृष्टिकोण की पुष्टि करता हुआ एक और प्रमाण भी उपलव्ध होता है, वह यह कि वेलिकार ने भक्त-कवि तुलसीदास का अनुकरण करते हुए मानस-माहात्म्य के ही समान वेलि-माहात्म्य भी गाया है। यह माहात्म्य लिखने की प्रथा भी केवल उन्ही काव्यो या ग्रथो से वधी चली आ रही है, जिन्हें हम धार्मिक मानने को तैयार ह। जिन तीर्थों अथवा ग्रथो, पर्वों अथवा त्योहारो पर हमारा विश्वास होता है उन्हीके माहात्म्य की कथा भी कही जाती है। अतएव माहात्म्यकथन निश्चय ही धार्मिकता का प्रवल प्रमाण माना जा सकता है। वेलिकार न इस सावन का प्रचुर प्रयोग किया है। २७८ से २९० तथा फिर अन्तिम दोहले तक में इसका माहात्म्य गाया गया है। ससार की कोई ऐसी वस्तु नही जो 'वेलि' के पाठ से उपलव्ध न हो जाय। लौकिक सुखो की तो वात ही क्या है, मोक्ष की कामना करने वाले को भी 'वेलि' रूपी नसैनी का ही सहारा लेना चाहिये —

प्रिथु वेलि कि पँचविध प्रसिध प्रणाळी, आगम नीगम कजि अखिळ।
मुगति तणी नीसरणी मडी, सरग लोक सोपान इळ ॥

साराश यह कि 'वेलि' कथाकार के शब्दो में शृगार का ग्रथ है, इसमें कोई सन्देह नही, किन्तु यह भी असन्दिग्ध ही है कि लौकिक आवरण में यह 'वेलि' मोक्ष की नसैनी ही है। भक्तो की भक्ति-भावना का एक साधन है। पृथ्वीराज का हृदय कृष्ण के प्रति श्रद्धायुत होकर अपनी समस्त भावनाओ को ऐसे रूप में प्रकट कर गया है कि वह लौकिक होते हुए भी मर्यादित हैं। अलौकिक रुक्मिणी और कृष्ण दोनो का चरित्रचित्रण करते हुए कवि ने उनकी मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है, परकीया प्रेम की दुहाई देकर इसमें शृगार का नग्न चित्र नही खीचा गया है। अपनी निर्मलता और स्वच्छता में यह स्वय एक धर्मकाव्य है। भक्ति और शृगार की सरस सम्मिलन-भूमि है। प्रयागराज के समान ज्ञान, भक्ति तथा कर्म की त्रिवेणी से मण्डित यह एक तीर्थ है। यहाँ काव्य की मन्दाकिनी भी है और भक्ति की अमृतवेलि भी है। सभवत इसकी इसी पवित्रता से प्रभावित होकर ही उनके समसामयिक दुरसा जी ने इसे 'पाँचवा वेद' कहा हो और अपनी भक्ति के लिये प्रसिद्ध होने के कारण नाभादास जी ने भक्तमाल में पृथ्वीराज को स्थान भी दिया हो। इनकी भक्ति में किसी प्रकार का सन्देह इस कारण भी नही किया जा सकता कि इनकी अन्य रचनाएँ भी भक्ति-सम्बन्धिनी ही अधिक है। इनकी मृत्यु की घटना भी इनके भक्त-रूप को ही अधिक स्पष्ट रूप में महत्व देती हुई जान पडती है। अस्तु, अनेक प्रमाणो के रहते हुए 'वेलि' का उद्देश्य भक्ति अथवा चतुर्वर्गप्राप्ति मानने में आपत्ति नही होनी चाहिये।

भागवत तथा नंददास का रुक्मिणी मंगल और वेलि

नन्ददासजी का रुक्मिणी मगल १३३ रोला छदो में लिखा गया व्रज-भाषा की माधुरी में पगा एक सुन्दर काव्य है। इसकी कथा का आधार भी भागवत ही है। कथा रुक्मिणी के शिशुपाल से विवाह के प्रस्ताव से आरम्भ होकर रुक्मिणी तथा कृष्ण के विधिवत् विवाह में परिणत होती है। रचना का आरम्भ लेखक ने गुरु-चर—प्रताप के वर्णन से किया है। उसका विचार है कि रुक्मिणी-मगल की पुनीत कथा का पाठ करने अथवा सुनने से

पीथल का जन्म बीकानेर के राजवश मे सवत् १६०६ में मार्गशीर्ष कृष्णा १ को हुआ था। आपके पिता का नाम था, रावकल्याणमल। आपसे वडे भाई रायसिंह ही राज्याधिकारी हुए और छोटा भाई रामसिंह अकवरी शान के प्रति विद्रोह का झडा लेकर आजन्म घूमता रहा और उसीके लिये उसने वीरगति भी पाई। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अपनी थीसिस 'अकवरी दरवार के हिन्दी कवि' में ४१ पृ० पर पृथ्वीराज को महाराजा जयसिंह का छोटा भाई वताया है। कहा नही जा सकता यह उल्लेख उन्हे कहाँ से मिला।

पृथ्वीराज अपनी निर्भीकता, स्वाभिमान-रक्षा, विद्वत्ता, वीरता तथा धर्मनिष्ठता के लिये अपने समय से ही सम्मानित रहे। आपको अकवर अपने साथ ही रखता था। अकवर के द्वारा दिये गये इस सामीप्य को वडा महत्वपूर्ण समझते हुए कुछ विद्वानो ने लिखा है कि ये अकवर के वडे कृपापात्र थे। मेनारिया जी का कहना है कि "पृथ्वीराज मुगल सम्राट् अकवर के वड़े कृपा-पात्र थे और प्राय शाही दरवार में रहा करते थे। 'मुहणोत नैणसी की ख्यात' से पता लगता है कि वादशाह ने इन्हें गागरौन का किला दिया था जो वहुत समय तक इनकी जागीर में रहा।"—रा० भाषा और सा०, पृ० १२२। किन्तु उन्होंने यह लिखते हुए इस वात को विल्कुल भुला दिया ज्ञात होता है कि अकवर के राज्य का वर्णन करने वाला 'आईन अकवरी' ग्रथ, जो अकवर के ही दरवारी द्वारा लिखा गया है तथा जिसका लेखक पृथ्वीराज का समकालीन था, पृथ्वीराज का उल्लेख वडे मामूली ढग से एक दो वार ही हुआ है। यदि ये अकवर के 'वडे' अर्थात् विशेष कृपापात्र रहे होते तो इनका वर्णन इस उपेक्षा से न किया जा सकता। दूसरे, साया चारण के 'रुक्मिणी-हरण' की तुलना में 'वेलि' को हीन वताना भी यदि सच हो तो उससे भी अकवर की, इनके प्रति, उपेक्षा की ही पुष्टि होती है। इतिहासकार टॉड ने पृथ्वीराज को महाराणा प्रताप का पत्र दिखाने के समय उसके पीछे छिपे हुए अकवर के तिरस्कार पूर्ण व्यवहार को मापते हुए लिखा है कि —"महाराणा प्रताप के पत्र से आत्मसमर्पण का सकेत पाकर सम्राट् ने सामूहिक उत्सवो की आज्ञा दी तथा अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक यह पत्र पृथ्वीराज को, जो विवश भाव से अकवर के विजय-रथ का अनुगमन करने के लिये वाध्य हो गये थे दिखाया।" मेनारिया जी ने इस कथा पर

न केवल यमत्रास ही मिट जाता है बल्कि हरिचरनारविन्द के समीप पाठ-कर्त्ताओ तथा श्रोताओ को वास भी मिल जाता है —

रुक्मिणी हरन पुनीत चित दै सुनै सुनावै।
जाहि मिटै जम-त्रास, बास हरि के पद पावै ॥ २ ॥

इस मगल का पाठ इस कारण भी करना चाहिये कि इसके पाठक हरि को भा जाते है और जो हरि को भा जाता है वह सबको भाता है —

जो यह मगल गाय चित्त दै सुनै सुनावै।
सो सब मगल पावै हरि रुक्मिनी मन भावै ॥१३२॥

तथा— हरि रुक्मिणी मन भावै सो सब के मन भावै।
नन्ददास अपने प्रभु कौ नित मगल गावै ॥१३३॥

इस ग्रथ को पुनीत कहने का कारण है, भक्ति की प्रधानता इस ग्रथ की विशेषता है, यह दिखाने की चेष्टा। इसकी कथा शिशुपाल के लिये अपने विवाह के विषय में गये हुए प्रस्ताव को सुनकर रुक्मिणीजी के स्तम्भित रह जाने की दशा मे आरम्भ होती है जिसका कारण यह प्रतीत होता है कि लेखक को भक्ति के दृष्टिकोण से रुक्मिणी के पिता आदि के वर्णन से कोई सम्बन्ध नही था अतएव जिससे कथा का सीधा सम्बन्ध था उसीसे कथा का वर्णन आरम्भ किया गया। इसी प्रकार युद्ध का वर्णन भी इस काव्य में दो ही चार छदो मे निपटा दिया गया है। 'वेलि' के समान युद्ध-वर्णन की लालसा नन्ददास में नही दिखाई देती। कारण स्पष्ट है, 'वेलि' का रचयिता भक्त होते हुए भी राजनीति में सक्रिय भाग लेता था और इसके विपरीत नन्ददास अष्ट-छाप के भक्त समुदाय और गुरु की सेवा में रहते और भक्ति का ही चिन्तन करते थे। दूसरे, पृथ्वीराज की शिराओ में जो राजरक्त तथा राजपूती शौर्य प्रवाहित था उसके लिये मार्ग की आवश्यकता थी अतएव उनके काव्य में वीर रस को शृगार के साथ महत्व मिला।

नन्ददास के 'मगल' तथा 'वेलि' की कथा का मूल उत्स एक ही है—भागवत। अतएव दोनो की कथा में साम्य होना आश्चर्यजनक नही। ऐसी स्थिति में भी दोनो ने अपने अलग अलग काव्यो की रचना करके अपनी

अद्भुत प्रतिभा का निदर्शन किया है। उनके इस कौशल का विचार कुछ रमणीय प्रसगो की योजना के अध्ययन मे स्पष्ट हो जायगा।

वेलि अथवा मगल की कथाओ में निम्न स्थलो पर रमणीय प्रसग-विधान की सभावना है। (१) शिशुपाल को दी गई सूचना के विषय में सुनकर रुक्मिणी की दशा, (२) शिशुपाल के आ जाने पर रुक्मिणी की विकलता और कृष्ण की प्रतीक्षा, (३) कृष्ण को रुक्मिणी का पत्र-लेखन, (४) विप्र से रुक्मिणी का व्याकुल निवेदन, (५) विप्र द्वारा पत्र पाने पर कृष्ण की अवस्था, (६) पत्र का विषय, (७) कृष्ण का प्रस्थान, (८) विप्र का लौट कर रुक्मिणी के पास आना और सूचना देना, (९) रुक्मिणी का नखशिख, (१०) देवालय के समीप कृष्ण का दर्शन, रुक्मिणीजी तथा सेना की अवस्था, (११) युद्ध की तैयारी और ललकार तथा युद्ध, (१२) रुक्मी की पराजय तथा उसके दण्ड से रुक्मिणीजी की दशा तथा (१३) विवाह-प्रसग। हम यहाँ दोनो कवियो के एतद्विषयक प्रसगो की तुलना की चेष्टा करेगे।

नन्ददास के रुक्मिणी मगल में पहले तथा दूसरे प्रसग को लेकर वेलि से कथा-सगठन में कुछ अन्तर प्रतीत होता है। मगल में शिशुपाल को सूचना देने पर ही रुक्मिणी की विकल दशा का चित्रण पहली वार किया गया है। तदनन्तर पत्र-लेखन, विप्र का प्रस्थान, कृष्ण-मिलन और कृष्ण का प्रस्थान, यह तीन वर्णन वीच में आ जाते हैं और तव कृष्ण को आता न देखकर रुक्मिणी एक वार पुन विकल हो उठती है। वेलि में रुक्मिणी की प्रथम विकलता का वर्णन उस समय किया गया है जव शिशुपाल ससैन्य कुन्दनपुर में आ पहुँचता है। दो ही दिन का अन्तर शेष है कि पत्र देकर विप्र को भेजा जाता है और भगवान की अलौकिक शक्ति के द्वारा वह सध्या को चलकर भी अगले ही दिन प्रात काल द्वारिका पहुँच जाता है। पत्र सुनने के पश्चात् कृष्ण प्रस्थान करते है। इधर कुन्दनपुर में उनके आने में विलम्व देखकर रुक्मिणी विकल हो उठती है। तव तक व्राह्मण कृष्ण के आगमन की सूचना लेकर पहुँच जाता है। नन्ददास ने रुक्मिणी को शिशुपाल के आने तक निश्चिन्त भाव से निरपेक्ष नही रह जाने दिया है। शिशुपाल से विवाह निश्चित होने का समाचार सुनते ही रुक्मिणी का विकल हो जाना अधिक स्वाभाविक और सहज प्रतीत होता है। वेलिकार के द्वारा इस प्रसग

की ऐसी योजना न करने का यह कारण प्रतीत होता है कि वह रुक्मिणी को इतना लज्जालु दिखा चुके है कि अब माता पिता के प्रस्ताव को पहले से जान लेना रुक्मिणी के लिये सभव नही लगता। किन्तु रुक्मी के तीव्र विरोध की बात सब जगह फैल जाय और स्वय उसकी बहिन ही, जिसके जीवन से कथा का सम्बन्ध है, इस विषय मे अनभिज्ञ बनी रही, यह कल्पना भी अधिक सगत नही कही जा सकती। निस्सन्देह इस स्थल की योजना में वेलिकार नन्ददास के सामने कल्पना मे हारते दिखाई देते है।

वेलिकार ने पहली स्थिति का वर्णन तो किया ही नही है, और इस प्रकार से एक रमणीय प्रसग को हाथ से खो दिया है, साथ ही दूसरे प्रसग का वर्णन भी दो ही चार दोहलो में करके हाथ खीच लिया है। उन्होने दूसरे प्रसग को दो खण्डो में विभाजित किया है —(१) शिशुपाल के आ जाने पर चिन्ता तथा बीच मे कुछ प्रसग लाकर तब (२) कृष्ण के न आने पर चिन्ता। शिशुपाल के आने पर रुक्मिणी की दशा का वर्णन सात्विकादि से सज्जित न होकर सकेतात्मक है और किसी प्रकार अपने उद्धार के लिये किसी पन्थी की खोज का यह अच्छा चित्र है। शिशुपाल आ चुका है। अतएव अन्यान्य नारियाँ गवाक्षो में चढ चढकर मागलिक गान गा रही है, उनकी प्रसन्न दशा ऐसी है जैसे मानो शिशुपाल के सूर्यमुख को देखकर पद्मिनी नारियाँ पद्मिनी के समान खिल उठीं हो। किन्तु रुक्मिणी की दशा उस समय कुमुदिनी के समान हुई। वह कुमुदिनी के समान ही सकुचित तथा मलीन हो गई। वह कृष्ण के पास सन्देश भेजने की इच्छा से व्याकुल होकर ऊपर चढ़-चढकर द्वारिका जाने वाले किसी पथिक की प्रतीक्षा करने लगी कि कब कोई ऐसा व्यक्ति उस ओर से निकले और कब वह उसे सन्देश दे। इस वर्णन में रुक्मिणी की विकलता, मलीनता, चिन्ता आदि का निस्सन्देह सुन्दर वर्णन है साथ ही श्रेष्ठ नायिका रुक्मिणी का अन्य नायिकाओ से पृथकत्व भी सिद्ध है।

गावै करि करि मगळ चढ़ि चढि गौखे, मनै सूर सिसुपाळ मुख।
पदमिणि अनि फूलै परि पदमिणि, रुखमिणी कमोदिणी रुख ॥ ४२ ॥

तथा— जाळी मगि चढि चढ़ि पन्थी जोवै, भुवणि सुतन मन तसु भिळित ॥ ४३ ॥

दूसरे प्रसग मे भी एक ही दोहले से सन्तोष कर लिया गया है .—

रहिया हरि सही जाणियौ रुपमणि, कीध न इवडी ढील कई।
चिन्तातुर चित इम चिन्तवती, थई छींक तिम धीर थई ।। ७० ।।

इन वर्णनो की तुलना मे नन्ददास की मौलिकता प्रशसनीय है। उन्होने इन प्रसगो में अन्यान्य भावो का समावेश करके वर्णन मे प्राण डाल दिये हैं। शिशुपाल से विवाह प्रस्ताव की सूचना पाते ही रुक्मिणी चित्र-लिखी सी रह जाती है, स्तम्भ हो जाता है। उनके मुख से तुरन्त आह निकलती है —हाय ईश्वर यह अव क्या हो गया। स्पष्ट है कि रुक्मिणी के विश्वास को अनायास ही धक्का पहुँचा है, मर्म पर आघात हुआ है कि वह जड हो गई। जडता, सात्विक भाव का यह सुन्दर सकेत है:—

"सिसुपालहिं को देत" रुक्मिनी वात सुनी जव।
चित्र लिखी सी भई दई यह कहा भई अव ।। ३ ।।

आश्चर्य और भय का यह सुन्दर मिलन है। इतना ही नही रुक्मिणी की दशा का भी साम्य के आधार पर लेखक ने अत्यन्त रजक वर्णन किया है। रुक्मिणी आघात पाकर चारो दिशाओ में निस्सहाय मृगी के समान चकित होकर देखने लगी मानो शिशुपाल रूपी व्याध ही आ गया हो। वह ऐसी मलिन हो गई, जैसे नाल से टूटा हुआ नलिन हो। सचमुच नलिन की सी कोमलता, पद्मिनी नारी रुक्मिणी में होनी भी चाहिये ही थी। कवि ने उत्प्रेक्षा के आधार पर सुन्दर व्यजना की है —

चकित चहूँ दिसि चहति, विछुरि मनु मृगी माल तें।
भयौ वदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल तें ।। ४ ।।

उनकी ऐसी दशा देखकर सखियाँ जुट गई और रुक्मिणी को अनेक प्रश्न करके थकाने लगी। किन्तु नागरी रुक्मिणी ने वडी चतुराई और सहज भाव से उत्तर दे दिया कि, हे सखियो, इस नेत्रजल का और कोई कारण नही केवल पुष्प-रेणु उडकर आँख में पड गई है इसी से पानी वहने लगा है। अपह्नुति-अलकार के रमणीय प्रयोग के सहारे उक्ति का यह चमत्कार नन्ददास मे मिले तो आश्चर्य क्या। उस कवि की तो गोपियाँ भी तार्किक है। फिर रुक्मिणी ने इतना कहा तो आश्चर्य ही क्या —

अलि पूछति वलि वाल, कहौ क्यो नैननि पानी।
पुहुप-रेनु उडि पर्यो, कहत तिन सौं मधु वानी ।। ६ ।।

नन्ददास की रुक्मिणी का उच्छ्वास तीव्र वेग से चलने लगता है, बात कहते कहते आँसू फूट निकलते हैं, मुँह की बात मुँह मे ही रह जाती है। रुक्मिणी वेचारी विवश है। वह कन्या है और कन्या लज्जा, सकोच और मर्यादा के विचार से विरह दुख का निवेदन करे तो कैसे करे, यही बडा भारी सकट है। वह तो घुलकर मर सकती है, पर बात मुख से फूटे तो कैसे — 'कन्या कन्या-विरह-दुख को कासो कहिहै।'—यही तो सारा रोना है, यही तो विवशता है।

नन्ददास ने रुक्मिणी के हृदय की कोमलता तथा परिस्थिति की दयनीयता प्रदर्शित करने के लिये कुछ विशेष उपकरणो से काम लिया है। रुक्मिणी को अपने ताप का ज्ञान हो गया है। उसका कोमल हृदय इस बात से दुखी हो उठता है कि कही उसके ताप से यह माला, जो उसने पहनी है, मुरझा न जाय। इसी सन्देह को कवि ने सरल शब्दो में इस प्रकार रखा है जिससे उस नायिका के ताप, कोमल हृदय तथा सरल और भोले व्यक्तित्व, सब बातो का एक साथ पता लग जाता है —

मति मुरझाय सो माल बाल डरपति है या तै।। १०।।

परिस्थिति का वैचित्र्य कुछ ऐसा है कि नायिका जिसे प्रेम करती है उससे विवाह न होकर अन्य से होना निश्चित हो गया है और उसके लिये बेचारी के हाथ में विवाह का कगन भी अब तो बध चुका है। जब जब कगन की ओर दृष्टि चली जाती है हृदय विह्वल हो जाता है, पीडा से भर जाता है। उसके विवाह के लिये जो मगल वाद्य बज रहे हैं वह उसकी विकलता को ही बढाते है —

मगल दुंदुभि सुनै धुनै धुन जो मन माँही।
निरखि निरखि कर ककन दृग जल भर आही।।

उद्दीपन के लिये इन वस्तुओं का साथ सचमुच प्रसगोपयुक्त है। कवि की दृष्टि उपयुक्त स्थल पर गई है। अपने उद्धार की चिन्ता करते करते थोड़ी देर के लिये रुक्मिणी का मन माता-पिता आदि नातो तथा लोक-लाज पर आकर स्थिर हो गया। अपने को विवश पाकर दीन रुक्मिणी का हृदय इन सबके प्रति

विद्रोह कर बैठा। वह उनसे मुक्ति पाना ही उचित समझने लगी और विद्रोह का स्वर इतना प्रवल हुआ कि वह कह बैठी कि सुन्दर नन्दकुवर की प्राप्ति में यदि मातापिता भी वाधक हो तो वे भट्टी में पडे, जल जाये। रोष का यह स्वाभाविक चित्रण है जिसमें मर्यादा और नाते का भी ध्यान नही रहता। प्रेम के उत्कट होने पर ऐसी दशा सहज सम्भव ही है —

ज्यो पिय हरि अनुसरौ सोइ अव जतन करौं हठि।
मात, तात अरु भ्रात, वन्धु-जन सवै परौं भट ॥२०॥
आगि लागि जरि जाहु लाज जौ काज विगारै।
सुन्दर नन्दकुवर नगधर सो अन्तर पारै॥२१॥

यह खोज का सुन्दर चित्रण भी है और 'छांडि मन हरि विमुखन को सग' की घोषणा भी।

दूसरे स्थल पर किये गये वर्णन के अन्तर्गत केवल दो रोला आ सकते है। कृष्ण के आने मे विलम्व देखकर रुक्मिणी की विकलता का चित्र नवीन नही पुराना है —

चढ़ि चढि अटनि, झरोखनि झाँकत नवल किसोरी।
चन्द उदै विनु जैसे आतुर त्रिषित चकोरी॥ ७॥

प्राचीनता के साथ साथ इस छन्द में आतुर भाव का नाम ला देना भी स्वशब्दवाच्यत्व दोष से दूषित है। अलकार के प्रयोग की ओर यहाँ विशेष ध्यान दिया गया है, भाव की ओर कम।

भागवत में पहले स्थल पर रुक्मिणी की चिन्ता का कोई प्रसग नही रखा गया है। वेलिकार ने इस विषय में भागवत का ही अनुकरण किया है, नन्ददास न स्वतन्त्रता प्रदर्शन की सफल चेष्टा की है। भागवतकार ने रुक्मिणी को प्रतीक्षारत अवश्य दिखाया है और उसकी चिन्ता इन शब्दो में प्रकट की है कि —"मैं यह नही जानती कि हरि क्यो नही आए और यह भी वडी विचित्र वात ह कि सन्देश वाहक ब्राह्मण भी नही लौटा। मुझे तो विश्वास है कि वे अव अवश्य ही नही आवेंगे। मुझ दुर्भाग्य शालिनी का प्रभु ही मेरे विपरीत है।" ऐसा सोचते सोचते वालिका के नेत्रो में अश्रु छा गये।

अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधस ।
नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाह वेद्म्यत्रकारणम् ।।
सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विज ।
'अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किंचिज्जुगुप्सितम् ।।
मत्पाणिग्रहणे नून नायाति ही कृतोद्यम ।
दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वर ।।
देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिजा सती ।
एव चिन्तयती वाला गोविन्द हृतमानसा ।।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकुलाकुले ।।—अध्याय ५३, श्लोक २३–२६।।

तीसरा मार्मिक स्थल है, पत्र लेखन। वेलिकार की रुक्मिणी अत्यन्त विरहातुर है अत॰ उसने नख रूपी लेखनी से आँसुओ रूपी जल मे काजल रूपी मसि घोलकर ही पत्र लिख दिया है। भागवतकार ने पत्र भिजवाया ही नही है, किन्तु नन्ददास के मगल में पत्र-लेखन का वर्णन आया है। दोनो को यह कल्पना कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल से मिली प्रतीत होती है किन्तु लेखन का ढग अपना अपना ही है। नन्ददास की रुक्मिणी जी ने अधिक कुशलता से काम लेते हुए आँसुओ से अपना चीर भिगोकर अपनी दशा का चित्र चित्रित करके विचित्र पत्र भेजा है —

इहि विधि धरि मन धीर, चीर अँसुवन सिराय कै।
लिख्यो पत्र सु विचित्र, चित्र रुक्मिणी बनाय कै।। २४।।

निश्चय ही यह नवीन ढग का पत्र है। नन्ददास की चतुरा रुक्मिणी की चतुराई प्रकट हुए विना नही रहती और वेलिकार की भोली रुक्मिणी अपनी लज्जा मे ही सकुचित हो जाती है। हृदय की बात को सीधे कह सकती है, उसे मार्मिक वनाने के लिये चित्ररचना नही करती। वेलि की रुक्मिणी भावुक अधिक है, नन्ददास की रुक्मिणी कलाकुशल है।

चौथा स्थल है—विप्र से रुक्मिणी का व्याकुल निवेदन। भागवतकार ने इस प्रश्न को ही नही उठने दिया। उसकी रुक्मिणी के पास इतना समय नही कि एक क्षण के लिये भी उसे रोककर अपना रोना रो सके। वेलि की रुक्मिणी इस स्थल पर अत्यन्त आतुर, भावावेशमयी और चचल हो गई है।

आतुरतावश वह विप्र को तीन तीन सम्बोधनो से एक ही वार में सम्बोधित कर जाती है, हठ पकडती आग्रह करती और मानो प्रार्थना के रूप में ही आज्ञा भी करती है कि वह अविलम्ब द्वारिका जा पहुँचे ।—

देहि सँदेस लगि दुवारिका, वीर, वटाऊ, ब्राह्मण ।। ४४ ।।

तथा— म म करिसि ढील हिव हुए हेकमन, जाइ जादवाँ इन्द्र जत्र ।
माहरै मुख हुंता ताहरै मुखि, पग वन्दण करि देइ पत्र ।। ४५ ।।

किन्तु नन्ददास की रुक्मिणी में यहाँ किसी आतुरता का प्रदर्शन नही मिलता। वह वडे सन्तोष से ब्राह्मण को समझाती हुई दिखाई देती है। यहाँ भी रुक्मिणी की चातुरी छिपाये नही छिपती और वह सशक नीतिज्ञ की भाँति ब्राह्मण को समझाने लगती है कि वह इस विषय म किसी अन्य का विश्वास न करे —

काहू नाहि पतीजो, वलि वलि एती कीजो ।। २६ ।।

पाँचवाँ स्थल है .—विप्र द्वारा पत्र पाने पर कृष्ण की अवस्था का वर्णन। भागवतकार ने पत्र द्वारा सन्देश न भेजकर मौखिक सन्देश भिजवाया है जिसके सुनने पर कृष्ण स्वाभाविक प्रसन्नता से प्रमुदित होकर कहते है कि वे भी रुक्मिणी के ध्यान में मग्न हो रात्रि भर नही सोए है। उन्हें रुक्मी द्वारा किए गए अपने विरोध का भी पता है। रुक्मिणी के लाने के लिये अनेक नीच राजाओ का सहार करना होगा और अपने में अनुरक्त यज्ञ की अग्नि-शिखा के समान प्रोज्वल तथा निष्कलुष अनवद्यागी रुक्मिणी का उद्धार करना होगा। ऐसा निश्चय करके वह तुरन्त ही दारुक से रथ जुडवाकर ब्राह्मण को साथ ले एक ही रात में आनर्त देश से विदर्भ पहुँच गये ।—

वैदर्भ्या स तु सन्देश निगम्य रघुनन्दन ।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत् ।। १ ।।
तथाहमपि तच्चित्तो निद्रा च न लभे निशि ।
वेदाह रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारित. ।। २ ।।
तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे ।
मत्परामनवद्यागीमेघसोऽग्निशिखामिव ।। ३ ।।
उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदन ।
रथ सयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम् ।। ४ ।।

स चाश्वैः शैव्य सुग्रीवमेघपुष्प बलाहकैः ।
युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राजलिरग्रत ॥ ५ ॥
आरुह्य स्यन्दन शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः ।
आनर्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः ॥ ६ ॥—अध्याय ५३ ।

वेलिकार ने इस स्थल पर अधिक भावुकता से काम लिया है। पत्र को देखकर उनके कृष्ण आनन्दित हो गये, सचमुच अपनी प्रिया से आया हुआ पत्र आनन्द का ही विषय था। आनन्द के अतिरेक से रोमाच तथा अश्रु जैसे सात्विको के साथ साथ स्वर-भग का लक्षण उत्पन्न हो जाने से पत्र का पढना भी असम्भव हो गया अत पत्र विप्र को ही दे दिया कि वही पढें।—

आणन्द लखण रोमाचित आँसू, वाचत गद्‌गद् कँठ न वणै।
कागळ करि दीधौ करुणाकरि, तिणि तिणि हीज ब्राह्मण तणै ॥ ५७ ॥

निस्सन्देह करुणाकर भगवान का द्रवित हो जाना ही आवश्यक था। यही कारण है कि वे पत्र सुनते ही ब्राह्मण को ले चल पडे। उन्होने स्वय सवेग रथ चलाया और कुन्दनपुर में आते ही ब्राह्मण को तुरन्त रुक्मिणी के सन्तोष के लिये अपने आगमन का सन्देश देने भेजा। देखिये ६७ से ६९ तक दोले। वेलिकार की रुक्मिणी जितनी सरल और भोली है वैसे ही सरल चित्त और रक्षक भाव वाले अनन्य प्रेमी उसके प्रेमी कृष्ण भी है।

नन्ददास ने इस प्रसग का पूरा लाभ उठाते हुए विस्तार से वर्णन किया है। मुद्रित पत्र की मुद्रा खोल कर पत्र पढने का प्रयत्न करते ही परम प्रेम के कारण अक्षरो का पढना ही कठिन हो गया और कृष्ण अपने वक्षस्थल से पत्र लगा लगाकर अपने को शान्ति देने लगे। उन्हें अनुभव हुआ कि विरह–ताप–तप्त हाथो से लिखी जाने के कारण यह पत्री आज भी गर्म है, ताज़ी है। कृष्ण की प्रेमानुभूति और कवि का वाक्चातुर्य सराहनीय है —

श्री हरि हियो सिरावत लावत लै लै छाती।
लिखी विरह के हाथ, सुपाती अजहूँ ताती ॥५४॥

इसी क्रिया में प्रिया के अश्रुजल से भीगी हुई पाती अब प्रिय के अश्रुजल से भी भीग गई। आखिर देह से पहले भाव और अश्रु के सहारे ही मिलन हो गया —

रुकमिनि अमुवनि भीनी पुनि हरि असुवनि भीनी ॥५५॥

विप्र के पत्र पढने पर तो कृष्ण की दशा ही और कुछ हो गई। उनकी समस्त इन्द्रियाँ एकाग्र होकर कान तक खिची चली आई। कृष्ण मुग्ध भाव से पत्र सुनने लगे —

तव हरि के मन नैन सिमिटि सव श्रवनन आये॥ ५६ ॥

रुक्मिणी का पत्र सुनकर कृष्ण ने एकवार पुन उसे छाती से लगाया और सारथी से रथ मगाकर रुक्मी पर खीज कर तुरन्त चल पड़े कि हडवडाहट में—आवेग मे—पीताम्वर ही खिसक गया जिसे द्विज ने सभाल कर उन्हें दिया। पीताम्वर का आवेग के कारण गिर जाना कितना स्वाभाविक है —

तुरत चढे छवि वढे चढत वानक वनि आयौ।
हरवर में खसि पर्यौ पीत-पट द्विज पकरायौ॥ ७२ ॥

शब्द भी कितने वेग से भाग रहे है, जैसे कृष्ण की आवेग अनुभूति उनमें भी आ गई हो। कृष्ण वहाँ से मन की गति से रथ दौडाते हुए आए —मन की सी गति करे चले कुण्डिनपुर आये। परन्तु यहाँ मन के समान कहकर भी वह रूप मूर्त नही हुआ जिसमें पृथ्वीराज को निम्न पक्तियो में सफलता मिली —

खँति लागौ त्रिभुवनपति खेडै, धर गिरि पुर साम्हा धावन्ति ॥६८॥

वेलि के इस वर्णन में रथ–वेग के कारण पर्वत, नगर, आदि का दौडते हुए प्रतीत होना निरीक्षण की सूचना देता ह, कल्पना की नही। इस स्थल पर शाकुन्तल का स्मरण आता है।

छठी और सातवी वात है क्रमश पत्र का विषय तथा कृष्ण का प्रस्थान। प्रस्थान का वर्णन तो अभी इसी प्रसग के साथ आ गया है, पत्र के विषय पर विचार कर लिया जाय। भागवत में ब्राह्मण, लीला के लिये देह धारण किये हुए कृष्ण से, सव कुछ अगोप्य भाव से वताता हुआ कहता है, पत्र नही देता, कि रुक्मिणी का सन्देश यह है कि "प्रभो, मेरा मन आपमें अनुरक्त है, हे अम्वुजाक्ष, मृगपति की वलि के सदृश वीरो के ही उपयुक्त पात्र की भाँति आप चैद्यादि शत्रुओ से मेरी रक्षा करें। मेरा विवाह परसो हो जाने वाला है अतएव यदि आपने दमघोष के पुत्र शिशुपाल से मेरी रक्षा करके मेरा पाणिग्रहण कर लिया तो मेरी इच्छा सफल होगी। आप गुप्त भाव से आकर चैद्य मगधादि नरेशो के सैन्यवल को नष्ट करके मुझसे राक्षस विधि से विवाह कर ल। मै भी

भी ध्यान नही दिया, जो पृथ्वीराज की पत्नी तथा अकबरशाह के बीच मीना-बाजार के दिन घटित हुई थी, और जिसका उल्लेख टॉड ने अपने ग्रथ में बडे उत्साह से किया है। ऐसी घटना घटित होने पर भी पृथ्वीराज पर अकबर की कुदृष्टि न होकर अनुकूल दृष्टि ही बनी रही होगी, यह सभव नही प्रतीत होता। अतएव यदि पृथ्वीराज को गागरौन का किला दिया गया अथवा उनको अपने समीप रखा गया तो निश्चय ही केवल कूटनीति के रूप में, कृपालुता के अथवा प्रीति के कारण नही। पृथ्वीराज की निर्भीकता तथा आत्मसम्मान की भावना से कूटनीतिज्ञ अकबर सदैव सशक और भयभीत बना रहा होगा, जिसके कारण उसने इन्हें अपने पास ही रखना उचित समझा। यदि वह इन्हें अपने से दूर रखता तो सभव था कि महाराणा के समान ही यह भी विद्रोह को तीव्र करने मे महायता प्रदान करते। इसी कारण उसने इन्हें स० १६३८ मे अपने विद्रोही भाई मिरजा हकीम के विरुद्ध काबुल तथा १६५३ में अहमदनगर के युद्ध मे सेना का भार देकर भेजा। यह भी हो सकता है कि पृथ्वीराज को दृढ और विश्वसनीय जानकर अकबर ने विद्रोह की भावना से आशकित रहकर भी इन्हे इन युद्धो मे केवल इसलिये भेज दिया हो कि ये वहाँ मारे जाँय। अकबर के ये बडे कृपापात्र रहे हो, यह इसलिये भी असभव दिखाई देता है कि इनके कनिष्ठ भ्राता रामसिंह अकबर के विरोध में विद्रोह की आग सुलगाते फिरते थे और पृथ्वीराज उसकी प्रशसा करते थे। अतएव अकबर कितना भी उदार रहा हो, अपने शत्रु के प्रशसक तथा उसके भाई से वह मन ही मन कुछ खीझा हुआ अवश्य रहता रहा होगा।

पृथ्वीराज अपनी वीरता, साहस, नीतिकुशलता, स्वदेशाभिमान तथा भक्ति के लिये समकालीन समाज में विख्यात थे और साथ ही इनकी विद्वत्ता की भी धाक थी। आपकी विद्वत्ता की चर्चा का सप्रमाण उल्लेख हमने इसी पुस्तक में अन्यत्र किया है।

पृथ्वीराज की निर्भीकता का प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि उन्होने अकबर के समीप रहकर भी हिन्दुत्व की रक्षा के लिये राणा को उत्साहित किया और, अपनी प्रतिष्ठा को भूलकर आत्मसमर्पण करते हुए, राणा को एक पत्र लिखकर ही वीरोत्साह की सजगता से भर दिया। उनके इस पत्र की

पहले दिन कुलदेवि की यात्रा के लिये जाऊँगी। और यदि आपका प्रसाद प्राप्त न हो सका तो व्रत से कृश हुए इन प्राणो को त्याग दूंगी।"—

एव सपृष्टसप्रश्नो ब्राह्मण परमेष्ठिना।
लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत्॥३६॥

तन्मे भवान्खलु वृत पतिरग जायामात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विधेहि।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद्गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्षम्॥३९॥
पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्रगुर्वर्चनादिभिरल भगवान्परेश ।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणि गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये॥४०॥
श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान् गुप्त समेत्य पृतनापतिभि परीत ।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रवल प्रसह्य मा राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम्॥४१॥
अन्त पुरचरीमनिहत्य वन्धूंस्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम्।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा यस्या वहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात्॥ ४२ ॥
यर्ह्यम्वुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसाद जह्यामसून्व्रतकृशान् शतजन्मभि स्यात्॥४३॥ अ ५२

नन्ददास की रुक्मिणी के पत्र मे रुक्मिणी जी ने पहले अपना परिचय देकर यह वताया है कि किस प्रकार नारद जी से कृष्ण का गुणगान सुनकर रुक्मिणी को उनके प्रति अनुराग हो गया है। इसके अनन्तर रुक्मी की हठ और शिशुपाल के निमन्त्रण की चर्चा करके अन्त में अपनी यह प्रतिज्ञा भी सूचित कर दी है कि —

जो नगवर नन्दलाल मोहिं नहिं करिहौ दासी।
तो पावक परजरिहौं बरिहौ तन तिनका सी॥ ६९॥

इस पत्र की यह नवीनता है कि क्षुब्ध रुक्मिणी पत्र मे भी अपना क्षोभ प्रकट किये बिना नही चूकती। कह ही देती है —

देखत के सब गोरे नव नव पानिय घोरे।
हार काजु नहिं आवे जैसे उज्जल ओरे॥६४॥

कैसी सुन्दर रोष भरी उक्ति और साम्य की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है। माता पिता तथा अपने सगे भाई को ही अपने विरुद्ध जाते देखकर किसे इस वात की सत्यता मे सन्देह रह जायगा। पत्र में रुक्मी को शिशुपाल के साथ

साथ शठ भी कहा गया है जिससे रुक्मिणी की खीज ही व्यक्त होती है। पुनः रुक्मिणी कृष्ण को उत्तेजित करने के लिये कभी तो उदाहरण दे देकर दया करने के लिये प्रार्थना करती है और कभी शिशुपाल रूपी शृगाल से बचाने की, भागवत की रुक्मिणी के समान ही प्रार्थना करती है और अपना दृढ निश्चय सुना देती है।

वेलिकार की रुक्मिणी प्रार्थना की ऐसी भावधारा मे वह जाती है कि कभी अपनी दीनता प्रदर्शित करती हुई अपनी तुलना गौ से करती है, कभी भागवतकार के समान ही कहती है :—

वळिवन्वण मूझ स्याळ सिंघ वळि, प्रासै जो वीजौ परणै।
कपिळ धेनु दिन पात्र कसाई तुळसी करि चाण्डाळ तणै ॥५९॥

कभी शत्रुदल को म्लेच्छ और अपने को शालिग्राम के समान वताने लगती है। कभी भगवान के अनेक अवतारो की चर्चा करके उनसे अपने जन्मान्तर का सम्वन्ध प्रदर्शित करते हुए इस वार भी अपनी रक्षा की प्रार्थना करती है। रुक्मिणी एक भक्त के समान अपनी आर्त्त पुकार ही मानो कृष्ण-भगवान के पास भेज रही है। अन्त में भागवतकार का अनुकरण करते हुए यह भी प्रकट कर दिया गया है कि जव वह पूजन के वहाने अम्विकालय जायगी तभी ससैन्य आकर कृष्ण उसे ग्रहण कर लें। लज्जालु रुक्मिणी प्रार्थना करने में भी संकुचित हो रही है किन्तु प्रेमातुरता तथा स्त्री-स्वभाव की सरलता के कारण पत्र लिखे विना भी काम नही चल रहा है। उसने क्या लिखा है कुछ पता नही, अतएव जो कुछ भी लिखा है वह मानो विना सोचे समझे प्रेम-प्रवाह मे वह कर लिख दिया है। उस पर ध्यान न देकर प्रियतम कृष्ण तुरन्त आवे यही प्रार्थना है।—

तथापि रहे न हूँ सकूँ वकूँ तिणि, त्रिया अनै प्रेम आतुरी।
राजा दूरि द्वारिका विराजौ दिन नेड़उ आइयौ दुरी ॥६५॥

प्रस्तुत प्रसंग की रमणीयता में वेलिकार को न तो नन्ददास ही पहुँच सके है और न भागवतकार ही।

आठवाँ प्रसग है विप्र का रुक्मिणी के पास लौटना। भागवत मे इस प्रसग का वर्णन इस प्रकार दिया है —चिन्तित रुक्मिणी ने अश्रु भरकर नेत्रो को

वन्द कर लिया। तभी शुभ शकुन के सूचक चिह्न उदित हुए और इतने में ही कृष्ण से मिलकर लौटता हुआ ब्राह्मण भी दिखाई दिया। उस ब्राह्मण को प्रहृष्ट वदन, अव्यग्र, तथा आत्मस्थित अर्थात् स्वाभाविक शान्ति से युक्त देखकर लक्षणाभिज्ञ रुक्मिणी शुचि स्मित के साथ उससे प्रश्न करने लगी। कृष्ण को आया जानकर रुक्मिणी ने ब्राह्मण के बहाने प्रिय को प्रणाम किया।

सा त प्रहृष्टवदनमव्यग्रात्मगतिं सती।
आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता ॥२९॥
तमागत समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा।
न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥३१॥ अ० ५३

नन्ददास की रुक्मिणी को भी विकलता में शकुन से ही शान्ति मिली। अन्य शकुनो के साथ एक और भी शकुन हुआ कि —कचुकि बध तरकन लगे। प्रेम की यह उमग केवल नन्ददास की ही सूझ है, इसका वर्णन वेलिकार ने भी नही किया है। नन्ददास की रुक्मिणी भी ब्राह्मण को प्रसन्न देखकर धैर्य धारण करती है, मुख फिर डहडहा आता है। किन्तु साथ ही लाज और सकोच से कही अधिक आशका ने उसे ऐसा धर दबाया कि पूछने की इच्छा होने पर भी न पूछ सकी —

पूँछि न सक मुख वात, दई, यह कहा कहैगो।
कै अमृत सो सीच, किधौं विष देह दहैगो ॥८०॥

सोच सोचकर उसके प्राण ही निकलने को हो गये और कृष्ण के आगमन की सूचना पाकर ही फिर प्राणवत्ता का अनुभव हो सका। तब लक्ष्मी-स्वरूपा रुक्मिणी ने उठकर ब्राह्मण के पैर छुए, भागवत की रुक्मिणी के समान नही वल्कि पूर्ण श्रद्धा पूर्वक। यह देखकर कवि का कथन है कि लक्ष्मी ही जिसके पैर छू रही हो उसे फिर किस वात की कमी है।—

सुर, नर जाको सेवत सेवतहूँ नहि लहियै। सो लक्ष्मी जिहि पाय परत ताकी का कहियै ॥

वेलिकार इन सव से आगे बढे हुए है। उनका वर्णन एक सजीव चित्र है। भावो का जितना सुखद प्रकाशन वेलिकार ने किया है, वह इन दोनो में नही। रुक्मिणी को धैर्य तो एक छीक हो जाने मात्र से हो जाता है, न वाम वाहु फड़कती है और न उरु। न कचुकि के वन्ध टूटते है। कारण स्पष्ट है,

वेलि की रुक्मिणी कृष्ण के शरीर पर मोहित नही, उनके गुणो पर रीझी है तथा जन्मान्तर से उसका सम्वन्ध है। अतएव उसमें मिलनातुरता शरीर सुख के लिये नही, रक्षा के लिये है। उसका शरीर विप्र को देखते ही पीपल के पत्ते की भाँति काँपने लगता है, वह अस्थिर हो जाती है। कम्प सात्विक का यह सुन्दर सकेत है। पूछने न पूछने का शका तथा लज्जा का भाव इस रुक्मिणी में भी है। किन्तु विप्र को आते देखकर उसकी चिन्ता का जितना सुन्दर चित्र निम्न पक्तियो, जिनसे उसकी आशा, निराशा, आशका, उत्सुकता आदि का एक ही साथ पता लगता है, मे अकित किया गया है वह अपने सौन्दर्य में अनुपमेय है, अनन्य है।—

> चळपत्र पत्र थियाँ दुज देखे चित, सकै न रहति न पूछि सकन्ति।
> ज्यौं आवै जिम जिम आसन्नौ, तिम तिम मुख धारणा तकन्ति ॥७१॥

वेलिकार ने ब्राह्मण की चतुराई तथा रुक्मिणी की लज्जा दिखाने के विचार से वहाँ उपस्थित सखियो का वर्णन करके वडे कौशल से काम लिया है। ब्राह्मण ने सन्देश भी दिया किन्तु कुशल सन्देश वाहक के समान, अपना नाम न लेकर जनता की ओर से सुनी हुई वात के रूप में।—'किसन पधाऱ्या लोक कहन्ति।' कहकर सूचना दी। पृथ्वीराज जैसे राजपरिषद् के नियमो से पूर्ण परिचित व्यक्ति के लिये इस प्रकार की युक्ति अनुभव मात्र है। काव्य में उससे रमणीयता को सहायता मिली है। वेलिकार भी रुक्मिणी द्वारा विप्र के चरणो की पूजा का नन्ददास के समान ही वर्णन करता है। किन्तु उसका सौन्दर्य इस वात मे है कि उसने एक ही दोहले में भागवत का भाव भी समाहित कर लिया है। उदाहरणत देखिये दोहला ७३।

९ तथा ११ प्रसगो की चर्चा हम अन्यत्र प्रसगानुसार करेंगे। शेष का विचार यहाँ कर लिया जाय। १० वाँ स्थल देवालय के समीप कृष्ण का दर्शन है। भागवतकार ने इसका अत्यन्त रोचक वर्णन किया है, जो इस प्रकार है — वह रुक्मिणी मुनिव्रत को त्यागकर अम्विकालय से निकली। उस समय वह देवमाया के समान लग रही थी। उसका आनन कुण्डल मे मण्डित था। वह श्यामा कटि-मेखला पहने, शकित नेत्रो से देखती चल रही थी। स्मित अत्यन्त शुभ्र और अधर विम्वा के समान थे। जिनकी आभा

में कुन्दकली के समान शुभ्र दन्त शोणायमान से प्रतीत होते थे। उस कलहसगामिनी को आता देख वीर मोह ग्रस्त हो गये। उसके उदार हास तथा व्रीडा को देखकर वीर राजाओ ने हृतचेत होकर अपने अस्त्र-शस्त्रो को भी हाथ से छोड दिया। वह यात्रा के बहाने अपनी शोभा को कृष्ण को अर्पण करती हुई जब रथ पर चढ़ने लगी, तभी कृष्ण ने उसका हरण कर लिया —

शुचिस्मिता बिम्बफलाधरद्युति शोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम्।
पदा चलन्ती कलहस- गामिनी सिजत्कलानूपुरधामशोभिना॥
विलोक्य वीरा मुमुहु समागता यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिता ॥५२॥
या वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहासव्रीडावलोकहृतचेतस उज्झितास्त्रा ।
पेतु क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा यात्राच्छलेन हरयेर्पयती स्वशोभाम् ॥५३॥
अध्याय ५३।

नन्ददास ने इस प्रसग का वर्णन १३ रोला छन्दो मे किया है। उनकी रुक्मिणी देवी से वर पाकर सखियो के कहने पर भी धीरे धीरे चलती है। कवि ने उसके चलने तथा अवनि पर प्रतिबिम्बित उसकी शोभा का उपमा तथा उत्प्रेक्षा से युक्त मोहक वर्णन किया है। उसे देखकर समस्त नरपति डरते है, किन्तु दुलहिन स्वय तनिक भी भयभीत नही है। जानती है प्रियतम आए है, रक्षा करेंगे ही —

निरखत नरपति सगरे डरपत नेंकु न दुलही।

उसने जो घूंघट डाल रखा था अब वह भी उठा दिया, मानो चन्द्रमा प्रकाशित हो उठा। कवि ने यहाँ मुख, दन्तादि का अलकृत वर्णन किया है। उसे देखते ही —

परे जहाँ तहँ मुरझि भूप सब उरझि उरेझा।
पच सरन छिद डारि किए मनमथ को बेझा॥११४॥

इसी क्षण कृष्ण रुक्मिणी को दिखाई दिये और ऐसी विकल हुई कि —

अरबराय मुरझाय कछू न बसाय तिया पै।
पख नाहिं तन बने, नतरु उडि जाय पिया पै॥११६॥

धीरे धीरे रुक्मिणी रथ के समीप आई कि रुक्मिणी को कृष्ण ने ऐसे रथ मे ले लिया जैसे घनश्याम के मध्य विद्युत छिप गई हो। बिछुडी हुई बिजली पुन मेघ में समा गई हो।

वेलिकार ने इस स्थल पर रुक्मिणी के सौन्दर्य का बड़ा ही व्यजना पूर्ण वर्णन करके लाघव से काम लिया है :—

आकरषण वसीकरण उनमादक, परठि द्रविण सोखण सरपच।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि, सुन्दरि द्वार देहरा संच ॥१०९॥

कहकर कवि ने एक साथ समस्त अंगो की सौन्दर्य-महिमा तथा उनके मारक प्रभाव का सकेतात्मक वर्णन कर दिया है। ऐसे शरीर वाली रुक्मिणी को देखकर सारी सेना मूर्च्छित हो जाती है। वेलिकार ने उनकी मोहजन्य जड़ता का भी सुन्दर वर्णन किया है जिस तक भागवतकार अथवा नन्ददास की दृष्टि नही गई। उसकी उक्ति है —किरि नीपायौ तदि निकुटी ए, मठ पूतळी पाखाण में ॥११०॥ वेलि के १०९ दोहले में जो सौन्दर्य और कवि-कौशल है उसकी समता में नन्ददास का ११४ वाँ रोला फीका उतरता है।

रुक्मी की पराजय और उसके दण्ड के कारण रुक्मिणी की दशा १२वाँ स्थल है। भागवत में बताया गया है कि कृष्ण को रुक्मी की हत्या के लिये उद्यत देखकर रुक्मिणी उनके चरण पकडकर अपने भाई की रक्षा के लिये अनेक प्रकार से प्रार्थना करने लगी। त्रास के कारण उसके अग काँपने लगे, शोक के कारण मुख सूख गया, कण्ठ रुद्ध हो गया, रुक्मिणी कातर हो उठी। उसे ऐसा देखकर कृष्ण ने रुक्मी को वस्त्र से बाँधकर उसके श्मश्रु तथा केश उतार कर उसे विरूप कर दिया। उसी समय बलराम ने रुक्मी को हतप्राय विरूप अवस्था में देखकर कृष्ण को इस कार्य के लिये समझाया कि यह उचित नहीं हुआ और यहीं एक लम्बा भाषण बन्धु-बान्धवों के अनादर न करने तथा क्षत्रिय धर्म के स्वरूप पर दे दिया। भागवत के इस वर्णन में केवल रुक्मिणी की अवस्था का वर्णन ही काव्य की दृष्टि से कथनीय है।—

तया परित्रास विकम्पितांगया शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया।
कातर्यं विस्रंसितहेममालया गृहीतपाद- करुणो न्यवर्तत ॥३४॥अ ५४।

नन्ददास का इस सम्बन्ध का वर्णन नगण्य तथा भागवत के अपूर्ण भावग्रहण

का नमूना है। यहाँ रुक्मिणी के भय तथा त्रास आदि की तो भूलकर भी चर्चा नही आयी है। कृष्ण ने अपनी इच्छा से ही पहली ही बार में रुक्मी का मुण्डन करके उसे शतचोटी बना दिया। रुक्मी के आक्रमण के साम्य की कल्पना एकदम भागवत से ली गई है।—

इमि कहि रिस भरि धायौ हरि पै आयौ ऐसे।
दुरबल अग पतग प्रवल पावक पर जैसे ॥१२८॥

यह भागवत के—कृष्णमभ्यद्रवत्क्रुद्ध पतग इव पावकम्।—पवित का ही भाषानुवाद है।

१३वाँ प्रसग विवाह का प्रसग है, जिसके वर्णन का श्रेय एकमात्र वेलि को ही है। भागवत तथा रुक्मिणी-मगल दोनो ही इस क्षेत्र से दूर हैं। इस प्रसग का माधुर्य वेलि का प्राण है। शृगार का यह ग्रथ वेलि इसी वर्णन पर जीवित है। इसके अतिरिक्त, षट् ऋतु-वर्णन, सखियो का हास-परिहास तथा कथा के पूर्व-भाग में सद्यस्नाता का चित्र, द्वारिका का वर्णन, वय सन्धि, रुक्मी का रोष, रुक्मिणी की देवालय जाने के पूर्व सज्जा, आदि अन्य कई प्रसग है जिनका सयोजन वेलिकार ने वडी सफलता से किया है। वेलिकार के वर्णन अनूठे है, उनका प्रसग-निर्वाह भी सजीव तथा अधिकतर मौलिक एव सरस है। राजकुल में उत्पन्न पृथ्वीराज का मन अधिकतर शृगार और साज-सज्जा के विस्तृत वर्णन करने की ओर गया है। रुक्मिणी सम्वन्धी इन वर्णनो में से द्वितीय का तो उन्होने वहुत ही लम्बा वर्णन किया है। साधारण पाठक उस वैभव की चमक से चौंधिया जायगा। इस प्रकार के शृगार का वर्णन राजकुलोत्पन्न, वैभव में पले हुए महाराज पृथ्वीराज के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति के लिये सम्भव नही था। उस वर्णन से, अन्य वर्णनो के ही समान, लेखक की सूक्ष्म-निरीक्षणकारिणी प्रतिभा का परिचय मिलता है। रुक्मिणी की सज्जा एक राजपुत्री के सर्वथा उपयुक्त ही कराई गई है। ऐसे वर्णनो का उक्त दोनो काव्यो में अभाव है। तात्पर्य यह कि पृथ्वीराज जहाँ भी हो सका है कथा-निर्वाह में भी अपना कौशल और अपनी मौलिकता दिखाने से नही चूके है, और उन्हें सफलता भी पूर्ण मिली है।

नरहरि कृत रुक्मिणी-मंगल

पृथ्वीराज के समकालीन तथा अकबर के ही दरवारी कवि नरहरि का भी एक रुक्मिणी मगल उपलब्ध होता है। यह रचना अभी तक अप्रकाशित थी किन्तु काशीराज पुस्तकालय की प्रतिलिपि के आधार पर श्रीयुत डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल ने अपने निवन्ध—अकबरी दरवार के हिन्दी कवि—में इसे उद्धृत किया है। हम उसीके आधार पर यहाँ उक्त ग्रथ पर विचार करेंगे।

रुक्मिणी-मगल १५ पृष्ठो की वहुत छोटी रचना है। पहले दो छन्दो मे गणपति, गौरि तथा शारदा की विनती की गई है। इन दो छन्दो के पश्चात् ही कथा का आरम्भ होता है। कथा इस प्रकार है।—

कुन्दनपुर में राजा भीष्मराय निवास करते थे जिनकी रुक्मिणी नामक एक पुत्री थी। उसके विवाह योग्य हो जाने के कारण राजा ने रुक्म को वुलाया और आपसी मित्रो, कुटुम्वियो आदि को बैठाकर विवाह के लिये मन्त्रणा की।—

लोग कुटुंब बैठाइ तो मन्त्र विचारिआ।

रुक्म ने दैत्य वश में उत्पन्न शिशुपाल से विवाह के लिये हठ करते हुए कृष्ण की अत्यधिक निन्दा की। शिशुपाल से विवाह का निश्चय करके उसने लग्न भेजते हुए उसे दलवल सहित आने का निमन्त्रण दिया। इधर तैयारी होने लगी किन्तु माता-पिता तथा साधु-सज्जन दुखी थे। उन लोगो ने रुक्म को समझाने की व्यर्थ ही चेष्टा की। दमघोष ने लग्न पाकर राजाओ को वारात के लिये न्योता दे दिया। जरासन्धादि भूप जो कृष्ण से दैत्यकुल का नाश करने के कारण विरोध रखते थे, अपनी अपनी सेना सजाकर कुन्दनपुर आए। उन्हें आया देख रुक्म को अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने स्वागतार्थ हाट वाट आदि की सज्जा की। दलवल तथा अपने चारो भाइयो के साथ स्वागत के लिये भी गया। सूचना पाकर वेचारी रुक्मिणी छिप कर रोने लगी—

राजकुअरि शुकुमारि शो दुरि दुरि रोवइ। लाज न काहुनि कहे शो जन वीगोवइ॥

अत्यन्त दुखी होती और मनौती आदि मनाती हुई रुक्मिणी को एक उपाय सूझा और उसने एकान्त में विप्र को वुला कर कृष्ण के लिये मुद्रित पाती दी—

वैठि एकान्तहि रुकुमिनि विप्र वोलऐउ। देवन मान निहोर शदेश वुझाऐउ ॥
जदुपति कह कर मुदरी पाती दीन्हेउ। शजल नऐन पगु लागि शो विनती कीन्हेउ ॥

पत्र लेकर विप्र सीधा द्वारिका पहुँचा। उसके अन्दर जाने से पूर्व ही पत्र यदुपति ने पढ लिया है, तभी उसे अन्दर जाने की आज्ञा मिल पाई।—

कुन्दनपुर शो विप्र लिखा लै आएउ। शुनि पाती तव जदुपति निकट वुलाऐउ ॥

यहाँ पत्र उद्धृत किया गया है। पत्र लम्बा है पूर्व जन्म के साथ का सकेत भी दिया गया है और भागवत से प्रभावित होकर वही उपमाएँ भी रखी गई हैं। यथा,—

हरखि सिंह वलि आपनि लेइ शिधावहु। अथवा—
गाइ गहत है बाघ शो आनि छडावहु।

साथ ही यह भी निवेदन किया गया है कि कृष्ण रहते शिशुपाल जैसा असुर उसे व्याहे यह तो उचित नही। इस समय आर्त होने के कारण लाज छोडकर ही रुक्मिणी को यह सव कहना पडा है —

लाज छाडि एहि शकट विप्र पठाएउ।

इस शिशुपाल को न केवल रुक्मिणी ही नही चाहती वलिक सभी पुरपरिजन इस वात से विकल हो रो रहे है कि शिशुपाल से उसका विवाह क्यो किया जा रहा है।—

इह वात शुनि सव नगर रोवै, अशुर काहु न भावई।

पत्र में यह भी सूचना दी गई है कि विवाह की तिथि के तीन ही दिन रह गये हैं। उस दिन वह नगर के वाहर गौरि पूजन के लिये जायँगी तभी उनका हरण कर लिया जाय और यदि पत्र में किसी प्रकार की धृष्टता हो गई हो तो कृष्ण वुरा न माने। थोडे में लिखे को ही वहुत जानें।—

मै जो ढिठाई कीन्ह शो विलग न मानवा। हरि थोरे में लिखा वहुत करि जानवा ॥

कृष्ण पत्र पढकर मुस्कुराए। उन्हें अपने रामावतार तथा सीता की सुधि आई। वे तुरन्त चल पडे। इधर रुक्मिणी चिन्तित हो ही रही थी कि शुभ शकुन हुए, वाम आँख फडकी और विप्र को देखा। वह पूछने की इच्छा करते हुए

भी नही पूछ पा रही थी, विप्र का मुख देखती रही और हृदय मे सोचती रही कि यदुनाथ कहाँ रह गये।—

चीते रही द्विज को मुख पुछन न पारही। कहाँ रहे जदुनाथ शो हृदै विचारही ॥

वह हृदय में विचारती, विप्र का मुख निहारती और मन ही मन सकुच रही थी। उसे यही शका हो रही थी कि विप्र अव क्या कहेगा। द्विज ने सैन से बताया कि वह सुन्दर पति को प्राप्त करके सुख प्राप्त करेगी। इस सूचना से रुक्मिणी इतनी प्रसन्न हो उठी मानो रत्न ही मिल गया अथवा साक्षात् कृष्ण से ही भेंट हो गई।—

हिय विचारे मुख निहारे शकुचि मन ही मै रहै।
दुख शुख मिलन विओग अव दुहु विप्र मोशो का कहै।
दिज कहा शैन वुझाय सुन्दर पाइ पति शुख पाइया।
जनु रग पाऐउ रतन रुकुमनि प्रगट जदुपति आइया।

कृष्ण को आया जानकर नागरिको तथा स्वय भीष्मक ने उनका स्वागत किया। भीष्मक ने उनके सम्मुख माथा नवाते हुए, हाथ जोड़कर रुक्मिणी के उद्धार की उनसे प्रार्थना की। इससे हरि को अत्यन्त सन्तोप हुआ।—

"आएउ भीखम निकट शो माथ नवाइया ॥
रहेउ दोउकर जोरि चरन चित दीन्हेउ।
मोर जन्म हरि आहू क्रीतारथ कीन्हेउ ॥
रुकुमहि दुख न लाइ सो हरि परितोखउ।
कहेउ मरम सव भेद गोविन्दहि तोखेउ ॥
हरि पुनि कीन्ह सतोख वहुत शुख मानेउ।
जरासव शिशुपाल काल वश जानेउ ॥"

कृष्ण को आया जानकर जहाँ नागरिको को प्रसन्नता हुई, वहाँ असुर समूह के मध्य खलवली मच गई। उन्हे नीद भी न आई। प्रात काल शिशुपाल आदि ने मिलकर इस वात पर विचार किया कि कृष्ण विना ही वुलाये क्यों आए हैं। जरासध ने स्पष्ट रूप में समझाया कि उनका आना रुक्म के लिये अत्यन्त अनिष्टकारक है। किन्तु रुक्म अपनी ही हठ पर अडा रहा और कृष्ण को पराजित करने की डींग मारता रहा। जरासव ने रुक्म को वढ़कर न वोलने

प्रशसा करते हुए टॉड ने कहा है कि उसमे 'दश सहस्र घोडो का वल था'। टॉड को यह स्वीकार करने मे कोई लज्जा नही कि पृथ्वीराज की 'उस वलवती कविता का केवल अनुभव ही किया जा सकता है, अनुवाद करने मे उसकी प्राणवत्ता नष्ट हो जायगी।'

पृथ्वीराज को, सौभाग्य से, अपने ही समान वीर, साहसी निर्भय, तथा आत्मसम्मानी पत्नी भी मिली थी। मीनावाजार से उसके अपहरण और अकवर का उसके साहस के सामने आतकित हो जाना केवल इतिहास के पन्ने पर लिखी हुई कथा नही रह गई है। वल्कि अकवर या पृथ्वीराज के विपय में कुछ भी जानने वाला प्रत्येक पाठक उस कथा को अपने कण्ठ मे वसाये हुए है। टॉड ने उस कथा को भी वडे उत्साह पूर्वक लिखा है। लगता है जैसे टॉड स्वय उस वीरपत्नी की वीरता पर मुग्ध और चकित हो गये है।

भक्ति के विपय मे भी पृथ्वीराज को उसी समय इतनी प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी कि 'भक्तमाल' के लेखक नाभादास जी ने उनको भी श्रेष्ठ भक्तो में स्थान दिया है। 'भक्तमाल' का यह उद्धरण हमने उनकी वेलि मे भक्ति की चर्चा करते हुए दिया है। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज की भक्ति के सम्वन्ध में कई किम्वदन्तियो का उल्लेख किया जाता है। कहा जाता है कि ये अपने इष्ट-देव की मानसी पूजा किया करते थे और अकवर को इनकी सिद्धि पर विश्वास भी था। कहते है एक वार आगरे में ही इन्होने यह वता दिया था कि उसी समय वीकानेर में इनके इष्टदेव की सवारी नगर-कीर्तन के लिये निकल रही थी। इनकी भक्ति-विषयक एक और भी कहानी प्रचलित है। कहा जाता है कि 'वेलि' को पूरा करने के पश्चात् आप अपने इष्टदेव के दर्शन करने के लिये द्वारिका जी की ओर चले। मार्ग मे जहाँ यह एक वार ठहरे थे वही एक धनाढ्य भी अपना डेरा लगाकर ठहरा और उसकी प्रार्थना पर आपने उसे रात्रि को 'वेलि' सुनाई। प्रातःकाल जव ये आगे चले तो 'वेलि' को भूल गये मार्ग में इन्हें स्मरण आया तो एक सवार को दौडाया कि वह उस व्यापारी से 'वेलि' ले आवे, जो रात्रि में उसी के यहाँ रह गई थी। सवार ने उस स्थल को जाकर देखा तो आश्चर्य-चकित रह गया। न वहाँ व्यापारी था और न उसके खेमे आदि का कोई चिह्न। हाँ, पृथ्वीराज के खेमे आदि का चिह्न ज्यो का

और हठ छोडने के लिये कहा। उसने दृढता पूर्वक कहा कि निश्चित रूप से कृष्ण रुक्मिणी का हरण कर ले जायेंगे —

रेखा खाचि कहत हो हरि लै जाइहै।

रुक्म सभा छोडकर घर आया और सेना को सजने की आज्ञा दी। हाटबाट में दोहाई फेर दी गई। गौरी का मण्डप घेरने की आज्ञा भी प्रचारित कर दी गई। तव रुक्मिणी सेना की रक्षा में गौरी पूजन के निमित्त गई। उस समय अनेक वाद्य वजे, देवताओ ने पुष्पवृष्टि की। एक सखी ने शिशुपाल का नाम लेकर रुक्मिणी को चिढाया भी। गौरी के पूजन करते समय रुक्मिणी ने कृष्ण की उपलब्धि की प्रार्थना की, जिससे प्रसन्न होकर गौरी ने विहँस कर उत्तर दिया कि उसे कृष्ण की वर रूप में प्राप्ति होगी, तथा असुर कुल का नाश भी हो जायगा। रुक्मिणी पूजन के अनन्तर सखियो सहित बाहर आकर कृष्ण के लिये चकित हो इधर उधर देखने लगी। कृष्ण को न देख कर वह धीरे धीरे चलने लगी। तभी कृष्ण ने आकर उसकी बाँह पकडकर रथ में वैठा लिया, मानो यदुपति को त्रिभुवन की शोभा ही प्राप्त हो गई हो। रुक्मिणी का हरण होते देख सैनिको तथा अन्य दर्शको की गति का वर्णन लेखक ने इन शब्दो में किया है —

पायो जो शोभ शतोख मन माह अतिहि शब देखहि खरी।
जनु जुथ जबुक मध्य नरहरि शिध आपन वलि हरी।
शशि दूरि तजै शे तिमिर पशरै अघु घुघन सूझई।
लै चलै रथहि चढाइ रुकमिनी एक ऐकहि वूझई।।

समस्त असुर ठगे से खडे रह गये। कोई समीप आकर आक्रमण नही करता। तभी लोगो ने पुकार मचाई कि रुक्मिणी हरण हो गया। तव सज्जित होकर रुक्म आक्रमण के लिये चला, किन्तु जरासघ ने फिर भी बाँह पकड कर उसे समझाया —

रुकुमिनि हरन होत है लोग पुकारेउ
पहिरि शजोए रुकुम तव पाछे धाऐउ
जराशीधु तव वाँह धरी समझाऐउ

उसने यहाँ तक कहा कि तू सबका नाश करायेगा और —

मानि ताशु शिशुपाल धाह दै रोइहैं।

किन्तु रुक्म नही माना। उसने गोविन्द को तुच्छ समझा। वह गाली देता क्रोधित हो कृष्ण पर वाण वर्षा करके उनके रथ को ढँकने लगा। महायुद्ध की आशका से रुक्मिणी विचलित होकर भगवान से प्रार्थना करने लगी कि कृष्ण को चोट न लगे। कृष्ण ने उनकी ऐसी दशा देख उन्हें सन्तोष दिया। उन्होने नागपाश डालकर रुक्म की सेना को वाँध लिया। यह देखकर देवताओ ने पुष्पवृष्टि की। कृष्ण रुक्म को पकडकर जव उसके शिर को उतारने लगे तव दुखी होकर रुक्मिणी 'भाई भाई' पुकारती हुई प्रभु के पैरो में शिर रखकर रो उठी। उसकी ऐसी दशा से दयार्द्र हो कृष्ण ने रुक्म की केवल श्मश्रु तथा शिर का मुण्डन करके उसे विरूप कर दिया। तदनन्तर हरि रुक्मिणी को साथ ले द्वारिका आए और वहाँ उससे गवर्व विवाह किया —

हरि रुकुमिनि लै शग दुवारिका आएेउ। कीन्हो गध्रप व्याह शुजस जग छाएेउ॥

यही कथा की समाप्ति है। इसके पश्चात् रुक्मिणी मगल के पाठ करने वाले के कुल सहित उद्धार का माहात्म्य कहा गया है। अन्तिम पक्ति मे लेखक ने अपना नाम दिया है —

नरहरि महा जो पात शव विधि परम पद शो पाइया॥

और नीचे की गद्य पक्ति कहती है कि यह लेखक भाट था —

इति श्री रुकुमीनी-मंगल नरहरि भाट विरचित शमाप्त शुभमस्तु इति।

यह ग्रथ दोहा तथा चौपाई छन्दो में लिखा गया है। तालव्य-श-का प्रयोग कवि का प्रिय प्रतीत होता है, जिसका प्रयोग दन्त्य -स- के स्थान पर सभी जगह किया गया है। इस ग्रथ का मुख्य उद्देश्य सभवत विवाह के समय गाये जाने के योग्य होना था, जिसका सकेत कवि ने निम्न पक्तियो में किया है —व्याह काज कल्यान परम पद पावइ॥

नरहरि का रुक्मिणी-मगल निश्चित रूप से एक सक्षिप्त रचना है, जिसमे घटनाओ का उल्लेख मात्र है। उनकी भावात्मक सौन्दर्योद्घाटन की मनोरम चेष्टा नही के वरावर ही है। वेलि की कथा मे जो सघटन का सौन्दर्य है वह यहाँ इतिवृत्त मात्र रह गया है। भावपूर्ण स्थलो की कवि ने वडी उपेक्षा

की है। वेलिकार ने आरम्भ में रुक्मिणी के भाइयो आदि का नाम तथा उसके बाल्यकाल एव वय सन्धि का चित्र देकर पाठक को मुग्ध करने मे सफलता प्राप्त की है। वेलि अपने सौन्दर्य में मोहक है। किन्तु नरहरि ने कथा को एकदम भीमक से आरभ करके मन्त्रणा की चर्चा कर दी है। रुक्मिणी के प्रति, उसका वर्णन पढते पढते, वेलि मे जो आकर्षण बध जाता है, वह नरहरि के ग्रथ में नही हो पाता। वहाँ रुक्मिणी की कथा प्रधान न होकर केवल घटना की ही प्रधानता है। वेलिकार ने अनेक मार्मिक स्थलो की योजना करके अपने कवित्व कौशल के प्रदर्शन का अवसर निकाल लिया है। उन्होने नखशिख, सौन्दर्य, स्नान आदि के बडे ही रमणीय चित्र अकित किये है। किन्तु नरहरि ने उनकी ओर सकेत भी नही किया। रुक्मिणी की विकलता का थोड़ा सा परिचय नरहरि ने केवल ब्राह्मण के आने पर दिया है, किन्तु हरि को सूचना न दे पाने की विवशता मे रुक्मिणी की दशा का विचार कवि के मन में उठा भी नही प्रतीत होता। वेलिकार ने उस अवसर का सुन्दर उपयोग किया है। कृष्ण की आतुरता का प्रदर्शन भी नरहरि के काव्य में नही है। कृष्ण और रुक्मी के वीच होने वाले युद्ध का वर्णन भी यहाँ नही किया गया है। वलराम तो कथा से एकदम वाहर ही निकाल दिये गये है जिससे सखा का काम ही समाप्त हो जाता है। रुक्मिणी के सौन्दर्य अथवा भगवान की माया से सैनिक मुग्ध होते नही दिखाई देते, वल्कि वे जान वूझकर चुप खडे ज्ञात होते है, क्योकि जरासध पहिले ही युद्ध न करने का प्रस्ताव कर चुका है। विवाह के पश्चात् का वर्णन, द्वारिका तथा कुण्डिनपुर का उत्सव-कालीन अथवा स्वभाव-सुन्दर वर्णन, प्रभात, साय आदि का वर्णन, ऋतु-वर्णन, विवाह आदि सस्कार का वर्णन, यह कुछ ऐसे स्थल है जिनका कथा मे कही सकेत भी नही किया गया है। यदि कथा के सक्षेप के कारण विवाह तथा उसके पश्चात् का वर्णन सभव नही भी था तव भी अन्य वर्णन तो आ ही सकते थे। किन्तु कवि की प्रतिभा के प्रकाश से यह स्थल आलोकित न हो सके। काव्य की सारी रमणीयता, कवि की भावुकता, कल्पना और सूझ-वूझ जैसे कही अन्तर्हित सी हो गई है। निश्चय ही वेलि की समता में यह काव्य इतिवृत्त मात्र है, ओछा है। काव्य का कोई अन्य

लक्षण भी यथा, अलकारादि, इसमें घटित होते नही दिखाई पडते। अतएव वेलि के सामने यह एक मामूली रचना है। हाँ, एकाध स्थल पर लेखक ने नवीनता लाने का प्रयत्न किया है और इस सम्वन्ध में वह सभी रुक्मिणी-हरण साहित्य के लेखको से अलग है। इस काव्य में भीष्मक की जनप्रियता तथा राज्य की सुव्यवस्था दिखाने के विचार से कवि ने विवाह के सम्वन्व में सम्बन्धियो आदि से मन्त्रणा करने का उल्लेख किया है। रुक्म की हठ के कारण नागरिको के दुखी होने की वात भी दो तीन वार कही गई है। यहाँ तक कि शिशुपाल को असुर भी कहा गया है। दूसरे नन्ददास के ही समान यहाँ भी मुद्रित पत्र भेजा गया है। द्वारिका मे विप्र का वैसा स्वागत भी नही किया गया है जैसा अन्य ग्रथो में कहा गया है। वल्कि राजदरवार का नियम पालन करते हुए उसे सिहद्वार पर ही रोककर उसके आने की सूचना देने पर अन्दर पहुँचाने की आज्ञा उपलव्व करने के पश्चात् ही उसे घुसने दिया गया है। यहाँ न कृष्ण सिहासनासीन दिखाये गये है, न वह दौडकर स्वागत करते है, न विप्र को मुख से कुछ भी कहने का अवसर दिया गया है। किन्तु वेलि-कार ने इसका वडा ही चमत्कारपूर्ण वर्णन करते हुए स्वागत-प्रश्नो के द्वारा कृष्ण की उत्सुकता का चित्र अकित करके पाठक को मोहित कर लिया है। नरहरि ने जरासव के चरित्र को यहाँ पर्याप्त उत्कृष्ट दिखाने की चेष्टा की है। वह वार वार रुक्मी को रोकता है और यहाँ तक कह देता है कि शिशु-पाल को रोना पडेगा। जरासध सम्वन्वी यह चित्र निश्चय ही नरहरि की नवीनता है, मौलिकता है। इसी प्रकार देवताओ द्वारा पुष्पवृष्टि कराकर ग्रथ की धार्मिकता की रक्षा करने का उद्योग किया गया है। अन्त में लेखक ने इस विवाह को राक्षस-विवाह न कहकर गन्धर्व विवाह कहा है। समग्र रूप में यह रचना वेलि से ओछी ही है।

रुक्मिणी परिणय

'रुक्मिणी-परिणय अर्थात् रुक्मिणी-हरण, शिशुपालादि युद्ध और श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी के विवाह का लेखक विधिवत् वर्णन, के हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध कवि

रीवा–नरेश महाराज रघुराजसिंह जू देव है। इस ग्रथ के रचना-काल का उल्लेख कवि न स्वय ग्रथ के अन्त में निम्न सोरठा लिखकर किया है :—

ओनइस से अरु सात भादव सित गुरु सप्तमी ।
रच्यो ग्रथ अवदात रुक्मिणि परिणय नाम जेंहि ॥

जिसके अनुसार इसकी रचना वेलि की रचना के कम से कम २५३ वर्ष पश्चात् स० १९०७ के भाद्रपद मास की शुक्ल पक्ष की सप्तमी को गुरुवार के दिन हुई। इस ग्रथ में कुल मिलाकर इक्कीस सर्ग है, जिनमें मुख्यत: दोहा चौपाई छन्दों का प्रयोग करते हुए सोरठा, छप्पय, कवित्त, सवैया, बरवै, भुजगप्रयात, वामन, त्रिभगी, घनाक्षरी, चौपैया, नाराच, तोटक, पद्धरी, तोमर, दडक, रोला, वसन्ततिलका, झूलना, प्रमाणिका, मोतियदाम, चौबोला, द्रुतविलम्बित, चामर, आदि अन्य छन्दो का भी प्रयोग किया गया है। भाषा अवधी है। फारसी तथा उर्दू के शब्दो का प्रयोग भी हुआ है।

ग्रथकार ने अन्तिम सर्ग में भागवत की सम्पूर्ण कथा अत्यन्त सक्षेप मे कही है, साथ ही उसका माहात्म्य-गान भी किया है, जिससे 'परिणय' का आघार भागवत ही है, इस बात में शका नही रहती। किन्तु भागवत के आधार पर लिखे जाने पर भी लेखक ने कथा को ऐसा विस्तार तथा रूप दिया है कि भागवत के वर्णन की ओर से ध्यान हट जाता है और वह सर्वथा एक नवीन कथा-सी प्रतीत होने लगती है। कथा का आरभ रुक्मिणी अथवा कृष्ण के परिणय से सम्बद्ध कथा से नही होता और अन्त भी परिणय मात्र के साथ नही किया गया है। सक्षेप में कथा का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है।

प्रथम सर्ग—केशव, गणनाथ, सरस्वती, शुकदेव, तथा गुरु की वन्दना रूप में मगलाचरण, व्यास जी के प्रति श्रद्धा तथा ग्रथ रचना में अपनी असमर्थता–प्रदर्शन के छन्दो के पश्चात् कृष्ण-जन्म-वर्णन किया गया है। कृष्ण अवतार है यह बात लेखक ने निम्न सोरठा में स्पष्ट कर दी है —

हरण हेत भुव भार प्रकटे हरि वसुदेव गृह ।
कीन्हो चरित अपार गाय गाय जेहि जन तरत ॥

मगलाचरण मे कवि ने तुलसी की .. वन्दौं हरिपद कज, कृपासिंधु नर-रूप हरि। . जैसी ही पक्ति हरि गुरु पितु विश्वनाथ पद वन्दौ वार अनेक, लिखी है तथा विनम्रता प्रदर्शित करते हुए कहा है —

मम गति नहिं ग्रथन रचन पै कछु मति अनुसार।
वरणहु रुकुमिणी परिणयो लहि गुरु कृपा अपार॥

कृष्ण-जन्म, वसुदेव-स्तुति, व्रजगमन, कसवध, उग्रसेन को राज्य समर्पण आदि प्रसगो को अत्यन्त सक्षेप में कहकर लेखक मथुरा मे रामकृष्ण की ख्याति से क्रुद्ध जरासध के आक्रमण की कथा पर आ जाता है। जरासध की पराजय तथा कृष्ण तथा वलराम के मथुरा में स्वागत के साथ यह सर्ग समाप्त होता है।

द्वितीय सर्ग—मगवराज के यहाँ नारद का जाना तथा कालयवन के पास मगवराज द्वारा सहायता का पत्र भेजना, नारद का कालयवन के यहा जाना, सभा का वर्णन, कालयवन का मथुरा पर आक्रमण, युद्ध, कालयवन को भय का वहाना करते हुए कृष्ण द्वारा मुचकुन्द की गुफा में ले जाकर छिप जाना तथा मुचकुन्द की निद्रा खुलने से कालयवन का भस्म होना, मथुरा से वलराम तथा कृष्ण का द्वारिका के लिये प्रस्थान, जरासध द्वारा पीछा करना, प्रवर्षण गिरि को, कृष्ण को मारने के लिये, जरासध द्वारा जला डालना तथा कृष्ण को ज्वाला में जला समझ प्रसन्नचित्त मगध लौटना, इसका विषय है।

तृतीय सर्ग—में द्वारिका का विस्तृत वर्णन किया गया है।

चतुर्थ सर्ग—'वलभद्र परिणय' नाम से लिखा गया है जिसमे उग्रसेन की सभा में वसुदेव जी का यदुवशियो सहित जाना, नारद आगमन तथा रैवत भूपति की कन्या रेवती की प्रशसा करना, रैवत का कन्यासहित विधि के पास जाकर उसके लिये वर पूछना तथा विधि द्वारा वलराम का सकेत देना, रैवत के द्वारिका न जानने की वात कहने पर विधि की ओर से नारद की पथ-प्रदर्शक के रूप में नियुक्ति की नारद द्वारा उग्रसेन को सूचना तथा वलराम का रेवती से विवाह करके उसे लिवा लाना, यह सव कथा वर्णन की गई है।

पाँचवें सर्ग—में कृष्ण से रुक्मिणी के विवाह का प्रस्ताव कराया गया है। यदुकुल के पुरोहित गर्ग मुनि ही इस प्रस्ताव के प्रस्तावक है, जिन्होने भीष्मक तथा उनकी पत्नी का यशगान किया। रुक्मिणीसम्वन्धी वास्तविक

कथा यही से आरभ होती है। लेखक ने रुक्मी की क्रूरता प्रदर्शन के लिये लेखा है —

रुक्मी भयो महाबल शूरा । पितु अज्ञा भजक शठ क्रूरा ।।
अविवेकी अज्ञान गर्ववान अति सान धर । सुनै नीति नहिं कान करत अनीति सदा रहै।।
भयो आसुरै अश ते वीर रुक्मी । करै कोप साधून पै तीव्र हुक्मी ।।
सहस्त्रै दशै दन्ति जोरै सदाही । डरै देवता सन्मुखै होत नाही ।। आदि।

यहा तक कि उसके भय से नागरिक अपने बच्चो को उसका अनुसरण न करने के लिए कभी कहते भी है, तो छिपकर ही। रुक्मी की इस क्रूरता के वर्णन द्वारा कवि ने कुशलतापूर्वक भावी सग्राम की अनिवार्यता की ओर सकेत कर दिया, साथ ही भावी सग्राम मे कृष्ण को जो विजय प्राप्त हुई उसकी महत्ता भी इससे बढ़ गई है।

इसी सर्ग में यह भी बताया गया है कि एक बार अन्तपुर में रुक्मिणी को देखकर भीष्मक ने रानी से वर के विषय मे विचार किया और कृष्ण को ही उचित वर मानकर राजसभा में रुक्मी तथा अपने अन्य पुत्रो तथा मन्त्रियो से कृष्ण के विषय में प्रस्ताव किया। रुक्मी द्वारा पिता का अनादर हो ही रहा था कि नारद पहुच गये। रुक्मी के द्वारा विरोध की बात जानकर नारद जी ने भीष्मक से रुक्मिणी का दर्शन करने की प्रार्थना की। नारद अन्तपुर में गये और वहा रानी तथा रुक्मिणी ने प्रणाम तथा पगवन्दन द्वारा उनका स्वागत किया।

छठें सर्ग—में नारद जी कृष्ण का यश गान करके रुक्मिणी के हृदय मे उनके प्रति प्रेम उत्पन्न करने की चेष्टा करते है। उनकी शूरवीरता, दान-शीलता, शारीरिक सौन्दर्य आदि का विस्तृत वर्णन किया जाता है। यही गोपिकाओ तथा मुरली के मोहन मन्त्र की चर्चा भी कर दी जाती है।

सातवें सर्ग—में रुक्मिणी की कृष्ण के प्रति आसक्ति, रुक्मी का शिशुपाल से विवाह-प्रस्ताव, दमघोष के पास दूत भेजना, दमघोष का प्रसन्न होकर मित्र राजाओ को निमन्त्रण, चन्देरी में कृष्ण से युद्ध की आशका पर सबकी गर्वोक्तिया, वरयात्रा में अपशकुन, रुक्मी द्वारा स्वागत, माता के पास जाकर रुक्मिणी-विवाह के लिये तैयारी करने की प्रार्थना करना, माता द्वारा तैयारी,

रुक्मिणी की विकलता तथा सखि के द्वारा विप्र को वुलाकर द्वारिका के लिये पत्र देना, आदि घटनाओ का वर्णन किया गया है।

आठवें सर्ग—मे जिस दिन ब्राह्मण पत्र लेकर चला नारद का उसी दिन द्वारिका पहुचना तथा रुक्मिणी का नखशिख वर्णन वर्णित है।

नवें सर्ग—की कथा लम्वी है। पत्र लेकर विप्रागमन, स्वागत, ब्राह्मण-गुण-कथन, विप्र का अपने को धन्य समझना, पत्र की सूचना देकर आज्ञा पाने पर पत्र पढना, पुन स्वय कृष्ण से अविलम्व चलने के लिये साग्रह निवेदन करना, कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के प्रति अपने प्रेम की स्वीकारोक्ति, दारुक को आज्ञा, रथ-वर्णन, अस्त्र-शस्त्र धारण करना, विप्र से मार्ग में कृष्ण का विरह-निवेदन, कुण्डिनपुर में आगमन, शत्रुओ के डेरे से अलग दिशा में नगर से वाहर रुकना तथा विप्र को रुक्मिणी के पास भेजना, प्रात वर्णन—इस सर्ग के विषय है।

दशम सर्ग—का प्रसग एकदम नया ही है। जिस दिन कृष्ण कुण्डिनपुर गये उसी सन्ध्या को वलराम उनके दर्शनार्थ उनके पास गये और वहा उन्हें न पाकर शकित होकर द्वारपाल को डाँटकर कृष्ण की सूचना मागने लगे। द्वारपाल से कुण्डिनपुर की वात सुनकर वलराम ने अनुमान लगा लिया कि हो न हो रुक्मिणी के लिये कृष्ण वहा गये है। उन्हें शका हुई कि कही वहा अन्य राजा युद्ध न करें और वे आतुर भाव से कटक-सग्रह करके तभी कुण्डिन-पुर के लिये चल पडे। इधर ये कृष्ण से मिले उधर दूतो ने इनके सेनासहित आगमन का समाचार भीष्मक को जा सुनाया। उसने स्वय जाकर उनका स्वागत किया तथा उनसे नगर में चलन की प्रार्थना की। किन्तु वलराम तथा कृष्ण ने नगर से वाहर ही रहना चाहा और भीष्मक ने उनका अभिप्राय समझकर उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। प्रजा दर्शन के लिये उमड पडी, उनकी प्रशसा करने लगी। इसके आगे रुक्मिणी की चिन्ता तथा विप्र का दर्शन एव कृष्णागमन की सूचना, रुक्मिणी द्वारा विप्र का पग-वन्दन प्रसग भी इसी सर्ग में दिये गये है।

ग्यारहवें सर्ग—में रुक्मी का यदुवशियो पर क्रोध करते हुए शिशुपाल के डेरे में जाना, शिशुपाल द्वारा सहायक राजाओ से सम्मति और सवकी गर्वो-

क्तिया, भीष्मक का उन्हें समझाना और सभा छोड कर लौटना, रुक्मी का अन्य लोगो को युद्ध के लिये तैयार रहने की आज्ञा देकर स्वय घर चले जाना, रुक्मिणी को रुक्मी का अम्बिकालय में जाने का आदेश, रूक्मिणी का सैनिको के साथ अपनी सखियो तथा माता को लेकर पैदल ही अम्बिकालय जाना, शिशुपालादिक को अपशकुन, रुक्मी द्वारा पूजा, पूजा-विधि वर्णन, द्विजनारियो द्वारा दिये गये वस्त्रो को रुक्मिणी द्वारा धारण किया जाना, प्रसग रख गये है। रुक्मिणी-दर्शन से मोह तथा रुक्मिणी का हरण एव द्वारिका के लिये वलराम की आज्ञा से कृष्ण तथा रुक्मिणी के प्रस्थान तक की कथा इस सर्ग में समाप्त हो जाती ह।

बारहवें सर्ग—में शत्रुसेना की सज्जा तथा भयकर युद्ध, (युद्ध का रूपकमय वर्णन) दिया गया है।

तेरहवें सर्ग—में कुछ राजाओ का द्वन्द्व-युद्ध वर्णित है।

चौदहवें सर्ग—में वलराम तथा शिशपाल का युद्ध तथा वलराम का शिशुपाल को उठाकर आकाश में फेंक देना बताया गया है।

पन्द्रहवें सर्ग—में भी युद्धभूमि का ही वर्णन है, युद्ध-भूमि में मृतको की दशा दिखाई गई है। साथ ही इसी सर्ग में शिशुपाल अपने डेरे पर आकर आश्चर्यचकित होता है कि वह वहा कैसे आ गया। दूसरे साथियो से यह जानकर कि वह आकाश मार्ग से गिरा है, वह वलराम पर क्रोध करके प्रण करता है, जरासध उसे समझाता है, (यहा जरासध भाग्यवादी प्रतीत होता है) इन घटनाओ के अतिरिक्त रुक्मी को भीष्मक का उपदेश, रुक्मी का क्रोव तथा शिशुपाल की प्रशसा, रुक्मी की प्रतिज्ञा, युद्ध के लिये प्रस्थान, वलराम का सामना न करके रुक्मी का दूसरे मार्ग से कृष्ण को रेवा-तट पर घेरना, युद्ध, रुक्मी को दण्ड, वलराम का आगमन, उनका रुक्मिणी को सन्तोष देना, रुक्मी द्वारा भोजकट वसाकर वही रह जाने की इच्छा का वर्णन भी किया गया है।

सोलहवें सर्ग—में दूत विजय की सूचना लेकर यदुपुरी जाते है, उग्रसेन की आज्ञा से नर-नारियो द्वारा स्वागत की तैयारी तथा द्वारिका की शोभा, अगवानी की उत्सुकता, सूर्योदय, कृष्ण के आने पर पुरवासियो की भीड का

उनके पीछे ही चलते जाना तथा प्रतीहार को पुरवासियो के आने देने की कृष्ण की आज्ञा, कृष्ण तथा वलराम का जलूस मे निकलना, विवाह तथा परिछन के साथ साथ केलि-गृह तक का वर्णन कर दिया है।

सत्रहवें सर्ग—में नित्य-कर्म से निवृत्त हो राज-सभा में कृष्ण तथा वलराम का जाना तथा उग्रसेन के पूछने पर वलराम द्वारा युद्ध की घटनाओ का उल्लेख, सभा से कृष्ण का लौटना, रुक्मिणी का शृगार तथा सखि-वर्णन, सन्ध्या तथा चन्द्रोदय-वर्णन, कृष्ण का रूप-वर्णन, रुक्मिणी द्वारा कृष्ण की प्रगसा, रास-क्रीडा तथा कृष्ण का अन्तर्धान होना वर्णित है।

अठारहवें सर्ग—मे कृष्ण के विना रुक्मिणी तथा सखियो की विकलता तथा रुदन और कृष्ण की खोज, कृष्ण का प्रकट होना, पुन रास-क्रीडा, जल-विहार तथा अन्त में कृष्ण की आरती का वर्णन किया गया है।

उन्नीसवें सर्ग—में पर्यक-वर्णन, सखियो तथा रुक्मिणी आदि का शयन, रात्रि तथा प्रभात, जागरण, रुक्मिणी का कृष्ण से विलग होने के कारण विरह-निवेदन, कृष्ण द्वारा समझाया जाना तथा पुन कृष्ण द्वारा प्रत्येक ऋतु मे रुक्मिणी के साथ वैठ कर ऋतु-वर्णन करना रखा गया है।

वीसवें सर्ग—में कृष्ण तथा रुक्मिणी के वीच विनोद-वार्ता दी गई है। कृष्ण रुक्मिणी से कह देते है कि उनसे तो किसी का सम्वन्ध ही नही है, रुक्मिणी का भी नही, वेचारी रुक्मिणी मूर्च्छित होकर गिर पडती है, कृष्ण सचेत करते है। इसी प्रकार की वातचीत इस सर्ग का विषय है और इसी वातचीत मे यह भी सूचना मिल जाती है कि भोजकट में विवाह के उत्सव पर वलराम ने कलिंगराज की इसी वीच हत्या भी की है।

इक्कीसवाँ सर्ग—अन्तिम सर्ग है जिसमे भागवत की सक्षिप्त कथा कही गई है।

इस प्रकार सक्षिप्त विवरण देखने से पता लग जाता है कि कवि ने कथा को नया रूप देने मे स्वच्छन्दता से काम लिया है और काव्य को अपने ढग से विस्तार दिया है। आरभ तथा अन्त के कई सर्ग पुस्तक के नाम—परिणय—से कोई सम्वन्ध नही रखते। इसी प्रकार की कथा मे आरम्भ के चार सर्ग लिखे गये है। मुख्य कथा पांचवें सर्ग से ही आरम्भ होती है। यहा भी कृष्ण-

त्यों था। सवार की सूचना पर पृथ्वीराज ने स्वय आकर उस स्थल को देखा और समझ गये कि यह अद्भुत व्यापार भगवान के अतिरिक्त किसी का नही है। इतने मे ही 'वेलि' निकट के एक तुलसी के पौदे पर सुरक्षित रखी दिखाई दी। महाराज ने भगवान की इस कृपा के लिये कि वे स्वय ही दर्शन देने पधारे, प्रभु को नमस्कार किया और अपने सौभाग्य को सराहा।

इसी प्रकार की एक आश्चर्यजनक कथा इनकी मृत्यु के सम्बन्ध मे भी कही जाती है। अकवर ने यह सोचकर कि इनके वश में कोई पीर है, इनसे इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि "पृथ्वीराज, बताओ तुम्हारी मृत्यु कब और कहाँ होगी ?" महाराज ने उत्तर दिया "मथुरा के विश्रान्त घाट पर। उस समय वहाँ दो सफेद कौए उपस्थित होगे।" अकबर ने इनकी यह बात झूठी प्रमाणित करने के विचार से इन्हें अटक के पार किसी काम से भेज दिया। पाँच महीने वीत पाये थे कि अकवर के दरबार में एक व्यक्ति ने ऐसे चकवा-चकवी लाकर दिये जो मनुष्य की वाणी में बात कर सकते थे। अकबर ने प्रसन्न होकर कहा कि यद्यपि भील ने इन्हे शत्रुता से बेचने के लिये पकडा था, परन्तु ऐसे शत्रु पर तो करोडो मित्र भी न्योछावर है। नवाब खानखाना ने, जो उस समय वहाँ उपस्थित थे, इसी उक्ति को पद्यबद्ध करते हुए कहा — 'सज्जन वारूँ कोडघा, या दुर्जन की भेट।' किन्तु इससे आगे वे छन्द पूरा न कर सके। फलत पृथ्वीराज को बुलवाया गया। पृथ्वीराज पन्द्रहवें दिन मथुरा पहुँचे किन्तु मृत्यु की घडी जानकर वे आगे नही गये और बादशाह के लिये एक पत्र लिखकर दिया। कहते है, अकबर के पास जाने से पूर्व ही हरकारे ने देखा कि पृथ्वीराज ने वहुत दानपुण्य करके विश्रान्तघाट पर अपना शरीर छोड दिया और उसी समय वहाँ सफेद कौआ भी आया। पृथ्वीराज की मृत्यु की इस घटना ने अकवर तथा उसके अन्य साथियो को चकित कर दिया। अकवर के नाम जो पत्र पृथ्वीराज ने भेजा था उसमें पूर्ति करते हुए यह पक्ति भी लिखी थी—रजनी का भेला किया, वेह का अक्षर मेंट।

इस घटना का चाहे कोई महत्व हो या न हो इतना अवश्य सूचित होता है कि पृथ्वीराज की मृत्यु मथुरा के विश्रान्तघाट पर हुई थी। इनकी मृत्यु की यह घटना सं० १६५७ की वताई जाती है। यह भी वताया जाता है कि

विवाह का प्रस्ताव पहिले ही गर्ग मुनि द्वारा कर दिया जाता है। रुक्मिणी का पत्र तो बहुत बाद में आता है। नारद जी का कुण्डिनपुर जाना तथा रुक्मिणी के सम्मुख कृष्ण के गुणो का बखान करना भी मौलिक कल्पना ही है। नारद जी दूसरी ओर द्वारिका भी पहुच जाते है और रुक्मिणी का गुण-गान करते है। इस दृष्टि से आठवा सर्ग कवि की कल्पना ही का सृजन है। दशम सर्ग में बलराम का कृष्ण के समीप आना और उन्हें न पाकर द्वारपाल आदि पर क्रोध करना, युद्ध-सज्जा करना तथा उनका भीष्मक द्वारा स्वागत भी नवीन है। ग्यारहवे सर्ग में भीष्मक का शिशुपालादि को समझाना, रुक्मी का रुक्मिणी के लिये अम्बिकालय जाने का आदेश भी नवीन योजनाए है। वेलिकार ने माता से रुक्मिणी की सखी को आज्ञा दिलाई है, रुक्मी का आदेश नही बताया गया है और न भागवत में ही ऐसा है। बारहवें से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक युद्ध का वर्णन ही किया गया है जो महाभारत से अधिक प्रभावित है और उसमें जहा तहा रूपक भी—वेलि के समान—सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। पन्द्रहवें सर्ग में भीष्मक का रुक्मी को समझाना तथा रुक्मी द्वारा कृष्ण पर दूसरे मार्ग से आक्रमण करना भी नवीन सूझ है। इसी प्रकार सत्रहवे सर्ग से लेकर अन्त तक की कथा को नवीन ढग से वर्णन किया गया है। वेलि में युद्ध-विजय करके लौटने पर बलराम सूचनार्थ दूत नही भेजते और न भागवत में ही इसकी कोई सूचना दी गई है, किन्तु 'परिणय' के लेखक ने वह भी जोड लिया है। तात्पर्य यह कि, आदि से अन्त तक लेखक ने कथा को नवीन रूप में सवारने का प्रयत्न किया है। उसकी प्रवृत्ति युद्ध-वर्णन की ओर अधिक है, जिसके कारण उसने बलरामादि के युद्ध का वर्णन तो कई सर्गों में किया ही कालयवन, जरासन्ध आदि के अन्य युद्धो का भी वर्णन किया है। युद्ध के वर्णन में अस्त्र-शस्त्रो के नाम पर विशेष ध्यान दिया गया है। जरासन्ध आदि की कृष्ण तथा बलराम के हाथ पर्याप्त दुर्दशा कराई गई है, किन्तु साथ ही उनके न मरने का कारण भी बता दिया गया है कि अभी उसकी मृत्यु भीम अथवा कृष्ण के हाथ होनी है, इसी कारण वह बच गया है। युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त कवि का ध्यान कृष्ण के गुणगान कराने की ओर भी विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है, इसी कारण उसने कभी

रुक्मिणी के पास से आए हुए विप्र से, कभी नारद से, कभी रुक्मिणी और कभी उनकी सखियो या पुरवासियो से उनका वर्णन कराया है और इसी से जन्म से ही उनकी कथा भी गाई है। रुक्मिणी का गुणगान तो किया गया है किन्तु वह युद्ध तथा अन्य वर्णनो के भार से दव जाता है। बलराम का रूप भी इस काव्य में निखर कर आया है। युद्ध-विजय का सेहरा तो उन्ही के सिर वाधा गया है। रुक्मिणी के नखशिख की ओर ध्यान देने के साथ कवि न कृष्ण का नखशिख भी वर्णन किया है।

प्रस्तुत काव्य वर्णनात्मक है। इसमे एक एक छोटी से छोटी बात को विस्तार से कहा गया है। उदाहरण के लिये वह स्थल देखा जा सकता है जहा कृष्ण की आज्ञा पाकर कुण्डिनपुर जाने के लिये दारुक द्वारा रथ तैयार करने का वर्णन किया गया है। कवि ने इस स्थल पर केवल वर्णन को महत्व दिया है, यह नही देखा कि कृष्ण कितनी शीघ्रता मे होगे अथवा कथानक का वह अश कितना तीव्र गतिशील होना चाहिये वल्कि वड़े धैर्य से दारुक की रथ की तैयारी, रथ का वर्णन, कृष्ण के पास जाकर सूचना देने आदि का वर्णन किया है। जिस प्रकार वेलिकार ने कृष्ण की उत्सुकता का सकेत किया है रघुराज देव इस प्रकार की उत्सुकता दिखाने की ओर ध्यान नही देते और वडी शान्ति से कृष्ण के द्वारा तैयारी कराते तथा विप्र के सम्मुख रुक्मिणी के प्रति उनके प्रेम की उनसे कथा कहलाते रहते है। वे मार्ग में भी कृष्ण से उनकी प्रेमगाथा ही कहलाते चलते है किन्तु शीघ्र पहुचने की वात की ओर विशेष दृष्टिपात नही करते। 'परिणय' के लेखक ने सभी सूचनाओ का काम दूतो से लिया है। फिर भी, जैसा ऊपर दिये गये वर्णन से पता लगता है, कवि ने पर्याप्त नवीन विषयो का समावेश करके काव्य को सौन्दर्य प्रदान करने की चेष्टा की है। युद्ध का जैसा वर्णन कई सर्गों तक किया गया ह उससे वीर रस का पूर्ण परिपाक तो हुआ ही है, युद्ध-भूमि के दृश्य में वीभत्स का भी विधान किया गया है। युद्धस्थल मे वीरो की ललकारें तथा गर्वोक्तिया वीर-रस में अत्यन्त सहायक है। शिशुपाल आदि को आकाश में फेंक देना आदि कुछ कर्म अद्भुत की भी सृष्टि करते है। भयानक तथा रौद्र का परिपाक भी युद्ध के इस विस्तृत वर्णन में सरल हो गया है।

श्रृंगार की माधुरी का अनुभव कराने में भी कवि न कम सफलता नही प्राप्त की है। रास, जलक्रीड़ा, रुक्मिणी तथा कृष्ण की विनोद-वार्ता आदि निश्चय ही श्रृगार का रूप निखार कर सामने लाने मे सहायक सिद्ध हुए है। रुक्मिणी तथा कृष्ण का नखशिख तथा षट्ऋतुओ का वर्णन तो परम्परा के अनुकूल श्रृगार का सहायक है ही। किन्तु साथ ही सखियो का सहयोग, गान-वाद्यादि तथा प्रकृति-सौन्दर्य सबने मिलकर अन्तिम सर्गों को श्रृगार की महक से महका दिया है। रासक्रीडा द्वारा कवि ने विरह वर्णन का रूप भी खडा किया है। इसी प्रकार प्रात.काल होने पर रुक्मिणी का विरह-दुख, कृष्ण की रुक्मिणी से अलग होने में विकलता आदि का वर्णन भी वियोग पक्ष को पुष्ट करता है। सखियो का आनन्द तथा कृष्ण का विनोद मधुर हास का सुखद अनुभव कराने मे सफल है। अन्तिम सर्ग मे भागवत की सक्षिप्त कथा कहकर कवि ने शान्त रस में ग्रथ की समाप्ति की है। तात्पर्य यह कि रसात्मक स्थलो की भी कमी प्रस्तुत काव्य में नही है। अलकार तथा शब्द-चयन की दृष्टि से इस काव्य को विशेष महत्व नही दिया जा सकता। अनु-प्रास कवि को अत्यधिक प्रिय है। जहा तहा उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि गिने चुने अलकारो के छीटे मिल जाते है किन्तु अलकारो का वैसा चमत्कार-पूर्ण समावेश 'परिणय' में नही किया जा सका जैसा 'वेलि' मे देखने को मिलता है। शब्द-चयन तथा शब्द-शक्ति प्रयोग के विचार से यह ग्रथ सर्वथा हल्का है। हा, सम्वादो मे सजीवता दिखाई पडती है और प्रसाद-गुण इस काव्य की विशेषता कही जा सकती है। वर्णन की दृष्टि से कवि ने नगर, ऋतु, प्रात, सायम्, जल-विहार, ज्योत्स्ना आदि का विस्तृत वर्णन किया है और काव्य को महाकाव्य के समान अनेक छन्दो, सर्गों आदि से भी विभूषित करने की चेष्टा की है, किन्तु बहुत कुछ नवीनता और मौलिकता होते हुए भी कलापक्ष की न्यूनता के साथ साथ भावपक्ष में भी अनेक स्थलो पर काव्य का सौन्दर्य न छिटकने के कारण इसे महाकाव्य का सम्मान नही मिल सकता। वेलि की तुलना में कथा-विस्तार में यह भले ही अधिक हो किन्तु उसका सा कला-विलास, उसकी-सी मर्म-व्यजकता, अलकार-सौष्ठव, भाषा का अधिकार आदि 'परिणय' में नही। वेलिकार का-सा पाण्डित्य भी परिणयकार की ओर

से कही प्रदर्शित नही किया गया है। साथ ही यह त्रुटि भी खटकने वाली है कि कवि ने वर्णनो मे काल का ध्यान नही रखा है। इसी से उसने तृतीय सर्ग मे यदुपुरी में तोप का वर्णन करते हुए कह दिया है —

चढी तोप तिनमाह भयावनि। दगत दुवन दल द्रुतहि नसावन॥

इसी प्रकार कालयवन के दरबारियो का वर्णन अपने समकालीन मुसलमानो से मिलता-जुलता किया है।

डाढिन युत मुख लसहिं घनेरे। जनु छतना मधु माखिन केरे॥
कोइ कुरान वाचहि नृप पासै। कहु गणिका वहु करहिं तमासै॥
यवन लसै सव श्याम पोसाकैं। मनहु नील घन रहित वलाकै॥
कोइ आशिक सुनि श्रवण कुराना। उझकहि झूमहि मनहु दिवाना॥आदि।

अन्त में परिणय में आए हुए कतिपय प्रसगो का उद्धरण देकर हम पाठको पर इस वात का विचार छोडते है कि वे वेलि तथा परिणय की विस्तृत तुलना स्वय करने का कष्ट करे।

शिशुपाल से अपने विवाह का प्रस्ताव सुनकर रुक्मिणी किस प्रकार विकल है यह देखिये —

अति शोचति मोचति आसुन को गुणि व्याह निजै शिशुपालहि को।
क्षण लौं रही वावरी सी तह वाल, विचारि दियो पुनि तालहि को॥
तन स्वेद छयो मुख सूखि गयो को कहै रुक्मिणी के हालहि को।
महिहौं विष सो वरिहौं शिखि को बरिहौ विस्वे बीस गुपालहि को॥

उनका लिखा हुआ पत्र रुक्मिणी की पीडा को व्यक्त करने में वैसा सहायक नही जैसा कवि के उक्ति-वैचित्र्य की ओर ध्यान आकर्षित करने मे —

खजन नयनन अजन काजर प्रेम के आसुन की मसि कीनी।
कोमल आगुरी की कलमे करि कागद अचल को करि लीनी॥
नेह ते साने लिखे वर आखर रुक्मिणी केशव के रस भीनी।
प्रीति भरी वतिया पतिया लिखि छिप्रहि विप्रहि के कर दीनी॥

रुक्मिणी का अष्टम सर्ग में किया गया नखशिख वर्णन अत्यन्त उत्तम तथा कल्पनारजित और सुखमय है। मुख का वर्णन देखिये —

कै सुखमा के सरोवर को विकसो अरविन्द अनूपम भावै।

रावरे आनन देखिबे को किधौं आरसी आनद की छबि छावै ॥
केशव की तुव नयन चकोर को रूप सुधानिधि इदु सुहावै ।
भाखै मुनी रघुराज किधौ मुख रुक्मिणी को सुख सिंधु बढावै ॥
अथवा रुक्मिणी की भुजाओ की कल्पना देखिये —
कैंधो सुधा के सरोवर के ढिग सोहै मृणाल उभय अति भाये ।
कैंधो मयक मयूख के पान को पन्नग पीत द्वै ऊरध धाये ॥
भाखै मुनी रघुराज किधौं युग हेम के दण्ड अखण्ड सुहाये ।
कैंधो लसै सुखमा की लता किधौ रुक्मिणी के भुज द्वै छवि छाये ॥

पाटी का वर्णन और भी अद्‌भुत तथा रोचक है। कल्पनाएँ देखने और सराहने योग्य है .—

कैंधो कुहू युग आय मिली किधौ माधव रैनि के ये युग भाग है ।
काम शिंगार अवास किधौं ये पिक के पख द्वै सग लाग है ॥
जान्हवी धार के दोऊ दिशै किधौं कालिन्दी धार द्वै सोहै अदाग ह्वै ।
केशव कैंधौ विदर्भ सुता की सुपाटी लसै युगमैन को बाग है ॥

नखशिख के इसी प्रकार के एक से एक रम्य चित्र आठवे सर्ग की सुषमा बढा रहे है। उनका वर्णन वही से देखा जा सकता है। नवम सर्ग में रथ का वेग कवि ने अलकारो के सहारे कैसा चित्रित किया है यह भी दर्शनीय है —

चले है तुरग रग रग के उमग भरे गति के अभग ढग करत अखर्व है ।
लूक से लखात कहू चचला से चमकत है, अम्बर जात नहिं देखत सुपर्व है ॥
रघुराज भाषत सुरेश औ दिनेश हू के, वाजी वेष वेष लखि लाजि जात सर्व है ।
पच्छिन को पच्छिन के पति को सुगति की त्यो मारुत औ मनहू की गजि डारे गर्व है ॥

किन्तु इसमें वह चित्रोपमता नही, अतिशयोक्ति भले ही हो, जो वेलि के 'धरगिरि पुर साम्हा धावन्ति' पक्ति में है। 'वेलि' में शाकुन्तल का सौन्दर्य निखर कर छलक रहा है, 'परिणय' में बौद्धिक चिन्तन अधिक है। इसी सर्ग में चन्द्रमा के विषय में की गई कल्पनाएँ भी पठनीय है। यथा,

जोन्ह वितान वनायन मै यह रावरे को यश है धौं महासित ।
गौवन मध्य में मत्त महा किधौ भ्रामित है वृपभष विभासित ॥

श्री यदुराज सुनी रघुराज किधौं मुकुतानि मे वज्र प्रकाशित ।
लोकन ताप निवारत आवत तारन मध्य मयक हुलासित ॥

किन्तु कृष्ण की आतुरता का वर्णन केवल इतना कह कर ही समाप्त कर दिया गया है कि :—

यद्यपि पवनहु मनहु ते चपल चलो रथ जात ।
तद्यपि कुण्डिन कृष्ण को कोटिन कोस दिखात ॥

'वेलि' के ही समान 'परिणय' के लेखक ने भी युद्ध का रूपक दिया है और कभी उसका वर्षा, कभी वसन्त, कभी, सगीत, कभी फाग तथा कभी त्रिवेणी के रूप में वर्णन किया है। यहा तक कि उसे विवाह का रूपक भी दिया गया है। युद्ध-वर्षा का रूपक देखिये —

कारे नाग मेघ राजें दुन्दुभी अवाजें गाजें वाजें वेश वासुरी विराजें मोर शोर है।
चमकें कृपाण तेई दामिनी दमंकै दौरि वाद वृन्द बूंदन की भई वृष्टि घोर है ॥
फहरें पताके व्योम डहरें ते वकपाँति मागें पानी घायल ते चातृक वा ठोर है ।
इन्द्र चाप चाप झिल्ली झिलिम झनकति है, फैली रण पावस की शोभा चहु ओर है ॥

विवाह का रूपक देखिये :—वाणन के माडौ छाये कुम्भ मुण्ड ही के भाये, कटे केश तेई कुश शोणित सुनीर है। भटन के पीठिन की पीठि पील वेदी प्रेत और पिशाच ते पुरोहित की भीर है॥ योगिनी जमाति नारी मगल को गान वारी दन्तन के लाजा अरु मेदन की खीर है। कोप कौ कृशानु त्योंही सुरवा कृपाण ही को वधू वै वरागणानि व्याहते प्रवीर है॥

अनुप्रास की छटा में छिपे हुए वसन्त का रूप निहारिये —

हरिना हरिनी गन ही हरप्यो हरुये हर हारन मै डहरै ।
छवि छाय छपाकर की सुछटा छपा मै क्षिति छोड छुये छहरै॥
पिकवाणी पियूप सी पूरति कान सु मानिन के मन मान हरै ।
सु सयोगिनी को है वसन्त सुवा वै वियोगी त्रिचारिन को जहरै॥

अन्य वर्णनो के उदाहरण यहा देना सभव नही। इतने उदाहरण देने का एक मात्र यही उद्देश्य था कि पाठक कवि के वर्णन-कौशल, मौलिकता, तथा कला-विलास का सकेत पा सकें। हमें विश्वास है कि पाठक प्रस्तुत काव्य-

ग्रंथ की काव्यात्मकता की सराहना करते हुए भी 'वेलि' का इससे कही अधिक रमणीय रचना के रूपमें स्वागत करने को विवश होगे।

मराठी रुक्मिणी-हरण काव्य

रुक्मिणी-हरण विषयक जितने काव्य हिन्दी और राजस्थानी में उपलब्ध होते हैं, उनसे कही अधिक मराठी-साहित्य में प्राप्त है। कहा जाता है कि मराठी में लगभग ३० काव्य इस विषय पर लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त नाटको की रचना भी हुई है। हिन्दी में केवल विद्यापति तथा हरिऔध जी ने रुक्मिणी-हरण नाटक लिखा, मैथिली में महाराज नरेन्द्रसिंह के दरबारी कवि पण्डित रमापति उपाध्याय का एक रुक्मिणी-हरण नाटक प्रसिद्ध है, किन्तु मराठी मे रुक्मिणी विषयक ५ नाटको का पता चलता है। तात्पर्य यह कि रुक्मिणी-हरण पर सबसे अधिक समृद्ध साहित्य मराठी का है। इस प्रकार के साहित्य की रचना वहाँ काव्य तथा भक्ति दोनो दृष्टियो से हुई है। महानुभाव पथ के विचारको ने भी इस साहित्य के निर्माण में योग दिया है। इन साहित्यकारो मे से अब जिनके विषय में इस सम्बन्ध में कुछ पता चलता है वे थोडे ही हैं, किन्तु उनकी रचना मराठी ही नही भारतीय साहित्य में अपना महत्व रखती है। श्रव्य काव्य लेखको में जिनका नाम लिया जाता है, वे लगभग ९ हैं। शक सवत् ११२५ से ११७५ के बीच महानुभाव पथ के प्रवर्तक चक्रधर के अन्तेवासी महदवा के कुछ धवल तथा गीत उपलब्ध होते हैं। उनके पश्चात् ११९० से १२५० के बीच नरेन्द्र कवि का रुक्मिणी-स्वयम्वर मिलता है। महानुभाव पथ के श्री भास्कर कवीश्वर तथा सतोष मुनि कृष्णदास ने भी इस सम्बन्ध में काव्य लिखे। श्रीधर स्वामी तथा मराठी के महान् कवि मोरोपत ने भी इस प्रसग पर रचना की। किन्तु मराठी में यदि इस प्रकार के काव्य-लेखको में सबसे अधिक प्रतिष्ठा मिली तो विट्ठल, एकनाथ तथा सामराज कवि को। मराठी-साहित्यकारो के बीच आज भी एकनाथ तथा सामराज के रुक्मिणी-स्वयम्वर तथा रुक्मिणी-हरण काव्य, महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। एक-नाथ का स्वयम्वर तो भक्ति का अत्युत्तम ग्रथ समझा जाता है और आज भी श्रेष्ठ वर की कामना करने वाली तरुणियाँ वहाँ उसका बडी श्रद्धा पूर्वक पाठ तथा पूजन करती हैं। विट्ठल वीडकर शिवाजी के समय के कवि हैं और

आपका रुक्मिणी स्वयम्वर शक सवत् १५९६ का माना जाता है। शिवाजी के समय में ही जयराम स्वामी नामक एक कवि ने रुक्मिणी-स्वयम्वर नामक काव्य लिखा था। इस प्रकार मराठी मे इस प्रसग को लेकर अनेक दृश्य तथा श्रव्य–काव्यो की रचना हुई है जिनमें से वहुत से लुप्त हो गये और वहुत से प्रकाश में नही आ सके। दृश्य काव्यो मे शिवकालीन कुछ ग्रथ उपलब्ध होते है, यथा, शेप चिन्तामणि का रुक्मिणी-हरण जो इ० स० १६७५ के पूर्व की रचना है। तार्किक सिंह का रुक्मिणी-परिणय, राजचूडामणि दीक्षित का रुक्मिणी-कल्याण, सरस्वती-निवास का रुक्मिणी नाटक, वरद कवि का रुक्मिणी परिणय नाटक भी उसी काल की रचनाएँ है। किन्तु यहाँ हम केवल एकनाथ तथा सामराज के काव्यो का ही अत्यन्त सक्षेप से उल्लेख कर सकेगे।

एकनाथ का रुक्मिणी-स्वयम्वर—एकनाथ महाराष्ट्र के महान् भगवद्भक्त सतकवि माने जाते है। आपका जन्म शक सवत् १४५५, ई० सन् १५४८ मे हुआ था। आपके पिता का नाम सूर्यनारायण तथा माता का नाम रुक्मिणी था। आपने काशी तक यात्रा करके, वहाँ रहकर अपने रुक्मिणी-स्वयम्वर काव्य की रचना की। उनका यह ग्रथ काशी में शक सवत् १४९३, चैत्र सुदी नवमी को समाप्त किया गया। यह वह काल था जब अकवर की शासन-सत्ता देश में प्रतिष्ठापित हो चुकी थी। कहा जाता है कि अकवर इनके दर्शनो के लिये काशी आया भी था। आपके नाम से कई ग्रथ, यथा, चतु-श्लोकी भागवत, एकनाथी भागवत, वालक्रीडा, प्रह्लाद् चरित्र, शुकाष्टक, स्वात्मसुख, आनन्द लहरी, अनुभवानन्द, ज्ञानेश्वरी टीका, भावार्थ रामायण आदि प्रसिद्ध है।

एकनाथ का रुक्मिणी-स्वयम्वर आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्थापित करने-वाली रचना है। कृष्ण और रुक्मिणी का यह विवाह मानो आत्मा और परमात्मा का ही सम्मिलन है। यह जीव तथा शिव का ऐक्य-स्थापन है। ग्रथ के आरभ से ही इस रूपक का परिचय दिया जाता है और अन्त में इस आध्यात्मिक ग्रथ के पाठ का माहात्म्य वर्णित है। एकनाथ महाराज ने इस रूपक को सभी स्थलो पर निवाहने का प्रयत्न किया है और ऐसे स्थल भी जहाँ लग्न, खाद्यपदार्थ, आतिशवाजी आदि का वर्णन किया गया है वहाँ

भी इसी रूपक को ही प्रमुख मानकर वर्णन किया गया है। इस रूपक का एक परिणाम यह हुआ है कि काव्य क्लिष्ट हो गया है। उसमें काव्यत्व के ऊपर रूपक-सिद्धि को महत्व मिला है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण को निबाहने का प्रयत्न उभर आया है। वस्तुत इस प्रकार के रूपक का सयोजन उस काल के काव्यो का एक महत्वपूर्ण अग रहा है। मानसरूपक की बात अथवा जायसी के पद्मावत का रूपक उस समय के प्राय सभी कवियो के सम्मुख अनुकरणीय हो गया था, साथ ही सूफी काव्य का प्रभाव कम करने और कहानी के रूप में सूफी सिद्धान्तो के प्रयोग से बचाये रखने के लिये भी यहाँ के कवियो के लिये यह आवश्यक हो गया था कि वे उसी परम्परा के ग्रथो का निर्माण करते जिससे जनता का मन रमता। अतएव इस प्रकार के रूपक का उन काव्यो में अनिवार्य रूप मे समावेश हो गया था। उसी प्रभाव के कारण एकनाथ का स्वयम्वर भी एक रूपक के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। एकनाथ जी ने जायसी का पूरा अनुकरण करते हुए खाद्यपदार्थों की एक लम्बी तालिका भी दी है।

एकनाथ जी के प्रस्तुत काव्य में कथा को १८ प्रसगो में विभाजित किया गया है। कुल मिला कर इन १८ प्रसगो मे १७१२ ओवी नामक छन्द है। कथा प्रसगो में क्रमश इस प्रकार है :—

प्रथम प्रसग —श्रीकृष्ण का रूप-सौन्दर्य तथा उनकी शक्तिमत्ता का वर्णन। विप्र के मुख से श्रीकृष्ण के रूप-गुणो का श्रवण करने से रुक्मिणी का तदाकार वृत्ति वाली हो जाना। माता-पिता द्वारा रुक्मिणी का कृष्ण के साथ विवाह का विचार तथा सभी भाइयो की सहमति, किन्तु रुक्मी का विरोध। उसके द्वारा कृष्ण की निन्दा।

दूसरा प्रसग —कृष्ण निन्दा तथा माता-पिता से विरोध करके चैद्य शिशुपाल को रुक्मिणी देने का विचार। देश-विदेश के राजाओ को लग्न-पत्र भेजकर निमन्त्रित करना। रुक्मिणी द्वारा सुदेव ब्राह्मण का कृष्ण के पास भेजा जाना।

तीसरा प्रसग —द्वारिका का रम्य वर्णन, सुदेव द्वारा कृष्ण से भेंट तथा पत्रिका देना।

चौथा प्रसग —श्रीकृष्ण का आश्वासन । प्रस्थान।

पाँचवा प्रसग —कृष्ण तथा वसुदेव और जरासध तथा शिशुपालादि का कुण्डिनपुर में आगमन। वलराम का युद्ध की आशका से कृष्ण के पीछे सहायतार्थ आना। रुक्मिणी का कृष्ण को आते न देखकर चिन्ताकुल होना। वसुदेव का उसके पास जाकर चिन्ता निवारण करना।

छठा प्रसग —भीमक द्वारा कृष्ण तथा वलराम की अभ्यर्थना तथा नगर में उतर जाने की विनती। कृष्ण द्वारा शिशुपालादि के विरोध और उनकी उपस्थिति से युद्ध की आशका का सकेत करके नगर में न जाने की वात का भीमक को समझाना। नागरो का कृष्ण-दर्शन के लिये उमडना तथा शिशुपालादि का चिन्तित हो जाना। रुक्मिणी का अम्विकालय जाना तथा कृष्ण की वर रूप मे प्राप्ति की प्रार्थना।

सातवाँ प्रसग —रुक्मिणी का मनोहर रूप-वर्णन तथा उसके द्वारा सव राजाओ के देखते हुए कृष्ण के गले मे माला डालना। कृष्ण द्वारा उसका हरण।

आठ से ग्यारह प्रसग तक युद्ध वर्णन किया गया है। वारहवाँ प्रसग .—जरासध के समझाने पर शिशुपाल का चेदि देश को लौटना। रुक्मी का अपना तथा शिशुपाल का अपमान सहन न करने के कारण युद्ध करना, रुक्मी का पराभव तथा कृष्ण द्वारा उसके वध का उद्यम। रुक्मिणी की विनती मानकर रुक्मी को केवल विरूप करके छोड देना।

तेरहवाँ प्रसग —वलराम द्वारा अपने साले रुक्मी के अपमान के लिये कृष्ण की भर्त्सना तथा रुक्मिणी को समझाना।

चौदह से अठारह तक विवाह का प्रवन्ध तथा गान, आतिशवाजी, भोजन आदि का वर्णन।

इन प्रसगो में एकनाथ ने अनेक काव्यात्मक स्थलो का विधान करके कवि-कौशल का परिचय दिया है। कृष्ण रुक्मिणी का जन्मवर्णन, कृष्ण का स्वरूप वर्णन, द्वारिका वर्णन, जरासध शिशुपाल आदि वरातियो का वर्णन रुक्मिणी की चिन्ता, रुक्मिणी के द्वारा अम्विका की प्रार्थना, रुक्मिणी का रूप वर्णन, कृष्ण द्वारा उसका हरण, युद्ध वर्णन, अष्टमातृकाओ की वारात यादवो की वारात की हीनता, खाद्यपदार्थों का रूपकमय वर्णन, आतिश-

इनकी मृत्यु से दुखी होकर अकबर ने खेदपूर्वक कहा —

पीथल सूँ मजलिस गई, तानसेन सूँ राग।
रीझ बोल हँसि खेलवो, गयो वीरवल साथ ॥

जिससे पता लगता है कि पृथ्वीराज का, मजलिस की रौनक और प्रतिष्ठा बनाये रखने में, वडा महत्वपूर्ण हाथ था।

पृथ्वीराज की मृत्यु के सम्बन्ध में एक अन्य घटना का पता 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता' से भी लगता है। घटना का वर्णन इस प्रकार है —

"पृथ्वीसिंघ ने ऐसो नेम लियो जो व्रज में वास करनो, व्रज में देह छोडनी या वात की खवर पृथ्वीसिंघ जी के शत्रुनकूँ पडी सो विननें दिल्ली पतीकुँ सिखायो याकुँ कहुँ दूर पठावें तो ठीक। तव दिल्लीपतीनें पृथ्वीसिंघ जी कूँ मुहिम पर पठाये तौ उहाँ वहुत मुलक जीते। तव उहाँ पृथ्वीसिंघ जी को काल आयो तव पृथ्वीसिंघ जी ने कालतें कही में व्रज में देह छोडूंगो, तव काल हट गयो। तव पृथ्वीसिंघ जी सांडनी में वैठकर उहाँसे सौ दिन में मथुरा आये और वीच मे नदी और पर्वत वहुत हते परन्तु कोई ठिकाने पृथ्वीसिंघकुँ प्रतिवन्ध न भयो। व्रज मे आय के श्रीनाथ जी के दर्शन करके यमुना पान कर के देह छोड दीनी।" इससे भी उनकी मृत्यु मथुरा में होने की पुष्टि होती है, भले ही अन्य घटना की न हो।

विद्वानो ने पृथ्वीराज के दो विवाहो का उल्लेख किया है। इनकी पहली पत्नी का नाम लालादे था, जो परम सुन्दरी और सहृदया थी। उसकी अकाल-मृत्यु हो जाने पर इन्होने जैसलमेर के रावल हरराज की कन्या चापादे से विवाह किया। रूप-गुण तथा रसज्ञता मे यह स्वर्गीय लालादे से भी वढकर निकली और पृथ्वीराज धीरे धीरे लालादे के अभाव को भूल गये। अन्य गुणो के अतिरिक्त चापादे की वडी भारी विशेषता थी, उसकी काव्य-रचना-कुशलता। दोनों का जीवन वडे ही सुखमय रूप मे व्यतीत हुआ। उनके मधुर जीवन की झाँकी देने के विचार से मेनारिया जी द्वारा निम्न घटना का वर्णन किया गया है .—

एक दिन पृथ्वीराज सामने दर्पण रखकर अपने वालो में कघी कर रहे थे कि उन्हें दाढी में एक सफेद वाल दीख पडा। उसे उन्होंने उखाड कर फेंक

वाजी के अनेक प्रकारो का वर्णन, आदि अनेक काव्यमय प्रसगो की योजना से इस काव्य का रूप सवारने का सफलता पूर्वक प्रयत्न किया गया है। विवाह के प्रसग का तो सविस्तर वर्णन करते हुए अनेक परिपाटियो का प्रदर्शन भी करा दिया गया है। साथ ही इन सब वर्णनो के सहारे अनेक रसो का समावेश भी कर लिया गया है। द्वारिका का वर्णन शान्तरस का उदाहरण है, रुक्मिणी की चिन्ता का करुण रस के परिपाक के लिये तथा उसके रूप का वर्णन शृंगार रस के हेतु किया गया है। युद्धवर्णन मे वीर तथा करुण का सयोग एव अष्टमातृकाओ की वारात के वर्णन में हास्यरस का सफल प्रयोग हुआ है। यादवो की वारात का चित्रण वीभत्स रसात्मक है।

एकनाथ ने अपने इस काव्य में न केवल अपनी आध्यात्मिकता का ही प्रदर्शन किया है वल्कि चमत्कारपूर्ण अनेक प्रसगो का विधान करके काव्य की काव्यात्मकता को वनाये रखने का भी सफल उद्योग किया है। भागवत के १४६ छन्दो का आधार लेकर इतने वडे काव्य का निर्माण करना एकनाथ महाराज की अपूर्व प्रतिभा का ही प्रमाण है। आध्यात्मिकता का निर्वाह करते हुए काव्य के स्वरूप को उतना ही रमणीय वनाये रखना उनके कौशल का परिचायक है। इन्होने जहाँ और नवीनताओ का समावेश इस काव्य मे किया है वहाँ रुक्मिणी का विवाह भी भीमक के ही राज्य मे करा दिया है। स्वयम्वर के पश्चात् कथा का अन्त हो जाता है अतएव शृगार के सयोग पक्ष अथवा ऋतु-वर्णन का वह अवसर नही आ पाता जो वेलिकार को उपलब्ध है। फिर भी इस काव्य की अपनी महत्ता है। यह मगल कृष्णकथा है अतएव सहृदय का मन इसमे रमता है, जीव-शिवैक्य का उपदेश होने के कारण ज्ञानी को इससे तृप्ति मिलती है और सुन्दर कथा योजना और प्रसग की काव्यात्मकता से रसज्ञ रसलीन होता है। मन्दाकिनी के तरल प्रवाह सा प्रवाह तथा समुद्र सा गाभीर्य इस काव्य की विशेषताएँ है।

इन सब विशेषताओ के होने पर भी एकनाथ समकालीन प्रभाव से ऐसे प्रभावित हुए है कि उनके काव्य में अनेक कालविरुद्ध प्रसगो का वर्णन हुआ है। उन्होने रुक्मिणी तथा कृष्ण के विवाह का समारम्भ चार दिन तक बताया है। यह परम्परा कृष्ण के समय में भी थी या नही इसका कोई प्रमाण

उपलब्ध नही होता, किन्तु यह रीति नाथकालीन है यह असदिग्ध है। उन्होने विवाह मे आतिशबाजी, चन्द्रज्योति, नले आदि का वर्णन किया है, जो सर्वथा उन्ही के काल की देन है। इसी प्रकार कृष्ण तथा अन्य यादवो को शाकाहारी बताना और भोजन की सामग्री का इतना वर्णन करके भी कही भी आमिषाहार का वर्णन न करना तथा विदर्भराज को भागवतधर्मी तथा एकादशी आदि व्रत का पालन करने वाला मानना भी नाथ जी की अपनी कल्पना है, किसी ग्रथ से प्रमाणित नही होती इसी प्रकार रुक्मिणी को रेवती बहुत देर तक ससुराल मे रहने के ढग का जो उपदेश देती है, वह भी सम्यक् प्रतीत नही होता क्योकि रुक्मिणी को ससुराल में दासदासियो के बीच रहना था, अपने हाथ से काम करने का कोई प्रश्न नही था।

तात्पर्य यह कि नाथ जी का यह ग्रथ मूलत आध्यात्मिक प्रेरणा से प्रेरित है और लेखक ने उस दृष्टिकोण को प्रत्येक वर्णन में रक्षित रखने का प्रयत्न किया है। फिर भी उसके कवित्व-कौशल के दर्शन उनके इस काव्य मे होते है। कवि के अनुरूप उन्होने नवीन प्रसगो की योजना करके कथा को विस्तार देने के साथ ही सरसता भी प्रदान की है। साथ ही उन्होने अपने काल के सूफी काव्य से भी प्रेरणा ग्रहण की और उसके रूप को काव्य मे रक्षित करने का सफल प्रयत्न किया। वेलिकार ने भी नवीन प्रसगो की उद्भावना की है, किन्तु इस प्रकार का विस्तार उन्होने नही दिया। वेलिकार का उद्देश्य शृगार ग्रथ लिखना था और भक्ति उनके एक सहज गुण के रूप में उसमें समा गई है, साथ ही सूफी आदि दृष्टिकोण भी समन्वित हो गया है। इसके विपरीत नाथ जी का उद्देश्य आध्यात्मिक है, किन्तु कवित्व की भी कमी नही है। वे नवीन कल्पनाओ से काव्य को समृद्ध करने में कुशल है, कथा को विस्तार देने में सफल है।

सामराज कवि का रुक्मिणी हरण —महाकाव्य के नाम से प्रसिद्ध सामराज कवि का रुक्मिणी हरण मराठी की अत्यन्त सुन्दर रचना है। इस कवि के काल-निर्णय के विषय में मराठी इतिहासकारो तथा आलोचको के बीच बडा भेद है। यह कोल्हापुर से सम्बन्धित कवि थे। श्रीपंगू के अनुसार वहाँ इन्होने शक स० १५५०से १६६० के बीच किसी समय अपने इस काव्य की रचना की

श्री कानिटकर का विचार है कि सामराज का उद्भव काल एकनाथ, विट्ठल कलपूरकर, लोलिम्बराज आदि के पश्चात् है। यह कवि तुकाराम, समर्थ, वामन पण्डित, नागेश, जयराम तथा शिवभारतकार परमानन्द का समकालीन रहा था तथा वेणूवाई, विट्ठल बीडकर तथा आनन्द तनय इनके पश्चात् हुए। इस प्रकार इनके ग्रथ की रचना १५७० के आसपास की होनी चाहिये। अस्तु,

सामराज कवि ने अपने काव्य के लिये नाथ के स्वयम्वर से सामग्री ग्रहण की है। कानिटकर महोदय ने यहाँ तक कह दिया है कि सामराज ने नाथ के साहित्य की चोरी की है। नाथ के अतिरिक्त इनके हरण में भागवत के दशम स्कन्द के ४१ तथा ५०, माघ काव्य के ३ तथा १३ सर्ग, नैषधचरित के सर्ग ४ तथा १५, रघुवश के सर्ग ७ इत्यादि के कतिपय स्थलो का भी उपयोग किया है। सामराज ने स्वय ऋण स्वीकार करते हुए कहा भी है —

जे बोलिली भागवती पुराणी। विस्तारिली जी पुरुषी पुराणी ॥

ऐसी कथा ही मुझे कहनी है।

सामराज का यह काव्य लौकिक दृष्टि से ही लिखा गया है। फिर भी उन्होने अपने ग्रथ का समर्पण भगवान की सेवा में करते हुए कहा है —

आरावनी अन्य उपाय नाही। समर्पितो याच उपायनाही ॥

सस्कृत-साहित्य की पृष्ठभूमि पर पल्लवित प्रस्तुत काव्य की सस्कृत पद्धति के अनुसार ही रचना भी हुई है। सस्कृत ग्रथो के नवीन प्रसग, सर्गो का सस्कृत के अनुसार नाम, अमित परिमाण में सस्कृत शब्दो का प्रयोग, सस्कृतबहुल दीर्घ समास, सस्कृतानुकूल वाक्य रचना, अलकार प्रयोग आदि सभी इस बात के प्रमाण है कि यह ग्रथ सस्कृत काव्य से अत्यधिक प्रभावित है। वर्णनों के अन्तर्गत दूसरे सर्ग के आरम्भ में भीमक राजा तथा उसका प्रजा-पालन वर्णन 'रघुवश' से प्रभावित है। रुक्मिणी की माता के गर्भ का वर्णन 'शाकुन्तल' के तृतीय अक में किये गये वर्णन के समान है। तृतीय सर्ग में रुक्मी द्वारा कृष्ण-निन्दा 'कुमारसम्भव' में वटु द्वारा शिव-निन्दा से प्रभावित है तथा रुक्मिणी का नखशिख वर्णन पार्वती के नखशिख वर्णन से समानता रखता है। यद्यपि प्रसाद गुण की रक्षा की गई है तथापि सस्कृत पदावली के कारण कही कही दुर्बोधता भी देखी जा सकती है।

ग्रथ के पहले सर्ग मे ससार समुद्र का उत्कृष्ट रूपक उपस्थित किया गया है। दूसरे सर्गमे रुक्मिणी जन्म, उसकी बाल्यावस्था, तीसरे में तारुण्य तथा कृष्ण-वियोग जनित विरह, चौथे में सुदेव ब्राह्मण द्वारा पत्रिका-प्रेषण, सुदेव का गमन, उसकी मन स्थिति आदि कई स्थल काव्य की दृष्टि से अत्यन्त रमणीय बने है। सातवे सर्ग मे विवाह के लिये आई हुई बारात और उनका विनोद-मय चित्रण, देशदेशान्तर के रहन-सहन का परिचय, स्वभाव-वैचित्र्य का वर्णन, भिन्न भिन्न दार्शनिक मण्डलियो का परस्पर विवाद आदि की योजना जितनी ही मौलिक है उतनी ही रोचक, मोहक और आकर्षक भी। सामराज ने विनोद की जैसी योजना की है वह अनुपमेय है। इसके लिये उन्होंने विवाह के समय के अनेक ऐसे प्रसग ढूँढ लिये है जो स्वाभाविक भी है और रोचक भी। किन्तु इस विनोद मे कही भी हीनता की गध नही मिलती। रुक्मिणी के विरहताप, सुदेव ब्राह्मण की पत्नी की झल्लाहट, रुक्मिणी के ससुराल जाते समय उसकी माता के हृदय की करुण स्थिति, रुक्मिणी को दिया गया उपदेश आदि प्रसग कवि-प्रतिभा के प्रमाण है। इन प्रसगो मे सुदेव की पत्नी की तलमलाहट तो एकदम मौलिक कल्पना भी है। कवि का कल्पना-स्वातन्त्र्य, वर्णन--कौशल, रमणीय प्रसगो की उद्भावना और निर्वाह, स्वाभाविक वर्णन आदि सभी एक से एक प्रशसनीय है। कवि ने भिन्न भिन्न रसो की वह सरस रसधार बहाई है कि पाठक का मग्न हो जाना सहज है। रुक्मिणी की आतुरता, तल्लीनता, प्रेम, चातुर्य आदि सभी अत्यन्त कुशल लेखनी का चमत्कार है। रुक्मिणी द्वारा स्वप्न में कृष्ण के दर्शनो का शब्द-चित्र भी रमणीय है। पाँचवे सर्ग मे पत्र पढने का वर्णन श्रीमद्भागवत से प्रभावित है। किन्तु कवि ने इसके द्वारा रुक्मिणी के हृदय की अनन्यता प्रदर्शित करने में सफलता प्राप्त की है। सातवें सर्ग मे रुक्मिणी गौरी पूजन के लिये जाती है। उस समय उसकी माता का उपदेश अत्यन्त ग्राह्य तथा सरस है। इस स्थल पर माता की हृदयाकुलता और उसका प्रेम मुखर हो उठा है। माता ने रुक्मिणी को न केवल ऐहिक दृष्टि से ही उचित उपदेश दिया है बल्कि पारमार्थिक दृष्टि भी वह भूल नही पाई है।

इन प्रसगो के अतिरिक्त कवि ने जिस सफलता मे प्रात, साय आदि

अथवा प्रकृति का वर्णन किया है वह निश्चय ही सराहनीय है। मानव प्रकृति में सामराज की जितनी पैठ थी उससे कम बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य का आकर्षण उन्हे न था। प्रसाद तथा माधुर्य के सम्मिलन से उनकी यह रचना एकदम अनुपम हो उठी है। आपने सध्या अथवा चन्द्रोदय का वर्णन सस्कृत कवियो के अनुसार किया है। ऐसे स्थलो पर कवि की प्रसाद गुण की योजना तथा उसका भाषाविकार देखते ही वनता है। आपने स्थल, काल तथा प्रसगो का वर्णन भी चतुराई से निवाहा है।

प्रस्तुत काव्य में अलकारो का आधिक्य है किन्तु उससे काव्य की प्रकृति पराभूत नही हो सकी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अलकारो के सौन्दर्य का ससर्ग पाकर सामराज की कविता-कामिनी खिल उठी है, उसके यौवन मे निखार और उभार आ गया है। भाषा सस्कृत-प्रचुर होते हुए भी फारसी आदि को ग्रहण करने में सकोच नही किया गया है। काव्य जहाँ एक ओर सस्कृत शैली का अनुकरण करता दीखता है वहाँ मराठी काव्य की श्रेणी मे वैठने की भी सामग्री उसमें है। तत्कालीन आचार विचार, रहन-सहन, शव्द, वस्त्र, आभूषण आदि का भी समावेश कर लिया गया है। कल्पना सौन्दर्य, पदलालित्य, प्रतिभा-प्रदर्शन, सरसता, रस परिपाक, वहुज्ञता, वर्णन-कौशल, आदि के विचार से मराठी में यह ग्रथ निश्चय ही अपना विशेष महत्व रखता है। छन्दो की भिन्नता भी इस काव्य की विशेषता है जो एकनाथ के स्वयम्वर में नही पाई जाती। प्रत्येक सर्ग के अन्त मे कवि ने निम्न छन्द दिया है —

कथा हे कृष्णाची सकल जगदानन्दजननी, मनोभावें ईचें श्रवण करिजे नित्य सुजनी।
प्रसगी श्रोत्याचें सकलहि महादोष हरती, यदुत्तसप्रेमे विषयरस गोडी विसरती॥

जिससे पता चलता है कि कवि ने केवल ऐहिक दृष्टिकोण ही नही रखा है वल्कि वह इसके माहात्म्य से परिचित है और दूसरो को भी परिचित कराना चाहता है। केवल अन्तिम सर्ग मे इसके आगे भी दो छन्द और लिखे गयें है। सस्कृत पद्धति का अनुसरण करते हुए प्रत्येक सर्ग के अन्त मे प्रसग की सूचना देते हुए एक वाक्य लिखा गया है। उदाहरणार्थ, "इति श्रीमद्भगवद्भक्तपदानुरक्त कवि सामराज विरचिते रुक्मिणीहरणकाव्ये कृष्णजन्मो नाम प्रथम. मर्ग॥" आदि। काव्य केवल आठ सर्गो मे विभाजित है और कथा केवल

रुक्मिणी-हरण तक ही सीमित है। रुक्मी तथा कृष्ण आदि का युद्ध-प्रसग इसमें समाविष्ट नही है। यही कारण है कि कवि ने इसे केवल रुक्मिणीहरण नाम दिया है। इतनी छोटी कथा मे जिस सफलता के साथ कवि ने अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दिया है, वैसी काव्य-प्रतिभा प्रत्येक में नही पाई जाती। वहिरग तथा अतरग दोनो दृष्टियो से काव्य अपनी छटा मे अनूठा है। इसमे पहले सर्ग में ८५, दूसरे मे ११६, तीसरे में १३४, चौथे में १३५, पाँचवे में १४३, छठे में १६६, सातवे मे १७५ तथा आठवे में १७९ छन्द है। इस प्रकार काव्य में कुल मिलाकर १०३३ छन्द है।

यहाँ मराठी काव्यो से उद्धरण देना अथवा समस्त काव्यो का विवेचन करना सभव नही है। अतएव हमने सकेत मात्र से सन्तोष किया है। विशेष अध्ययन तथा तुलना के लिये पाठक मूल ग्रथो का उपयोग कर सकते है। हमने केवल उन काव्यो के विषय मे अपनी ओर से वर्णन करना उचित समझा जिनका मराठी साहित्य मे विशेष सम्मान है। अन्य ग्रथो मे से सभी प्रकाशित भी नही हुए है। अतएव उनकी उपलब्धि का भी एक प्रश्न था। इतना होने पर भी हमारा विश्वास है कि पाठको को इस सम्वन्ध मे पर्याप्त निर्देश मिल जाने के कारण मराठी के एतत्सम्वन्धी अत्युत्तम काव्यो का परिशीलन करने का ही अवसर नही मिल जायगा वल्कि आध्यात्मिक तथा ऐहिक काव्यो की दृष्टि से भी तुलना करने के लिये सामग्री मिल जायगी। इतना हम अवश्य कह देना चाहते है कि मराठी-काव्य इस प्रसग को लेकर हिन्दी काव्य से कही अधिक वढा चढा है, उसमें हिन्दी से कही अधिक काव्यो की रचना हुई है। साथ ही उसका गौरव इस वात में भी है कि उसमे महा-काव्य अथवा सर्गवद्ध काव्यो की रचना करके सस्कृत काव्यो की परिपाटी का अनुसरण किया गया है और इस काम मे कवियो को सफलता प्राप्त हुई है। कल्पना की सजीवता और मौलिकता भी इन काव्यो मे दर्शनीय है। जिस प्रकार सस्कृत में शिशुपालवध अथवा किरातार्जुनीय जैसे प्रसगो पर, जो महा-काव्य की कथा के लिये अत्यन्त छोटे है, ऐसे अमर काव्यो की रचना की गई कि काव्य का नाम लुप्त होकर कवि के नाम से ही उनकी प्रसिद्धि हुई और इतने छोटे प्रसग भी महाकाव्य के रूप मे प्रस्तुत किये गये, वैसे ही मराठी

कवियो ने भी इस प्रसग को लेकर अपनी प्रतिभा का सम्यक् प्रदर्शन किया है। इसके लिये मराठी-काव्य पठनीय है और उन कवियो की कवित्व शक्ति और कौशल भी प्रशसनीय तया अनुकरणीय है। हिन्दी मे वेलि को छोड दूसरा कोई भी काव्य इस विषय पर उतना प्रचलित नही है जितना मराठी मे नाथ तथा सामराज के काव्य प्रचलित है। वेलि का प्रचार भी उनके प्रचार को देखते हुए अभी कम है, प्राचीन काल मे उसे वेद की महिमा से भले ही मण्डित किया गया हो। सूर, तुलसी की भक्ति, रीतिकालीन शृगार-परक कविता अथवा वेलि की राजस्थानी भाषा जैसे कारणो से भी इस काव्य को विशेष पनपने का अवसर न मिला। यो कवित्व में यह ग्रथ भी जितना है उतना अनूठा है और सबसे बडी बात यह है कि इसमे किसी कवि का अनुकरण इस स्थिति तक नही पहुँचा है कि वेलिकार की मौलिक सूझ बूझ दब जाय। वेलि की यह अपनी विशेषता है कि पुराने प्रसगो पर भी कवि ने नवीन काव्य-प्रासाद के निर्माण की अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की है। नये प्रसगो और कल्पनाओ के साथ साथ कवि ने पुरानी वस्तु को भी अपनी नवनवोन्मेषशालिनी काव्य-प्रतिभा से भास्वर कर दिया है, उज्वल बना दिया है। अस्तु, वेलि अपनी बाह्य तथा आन्तरिक छवि में ऐसी छविमय है कि इतर भाषाओ के श्रेष्ठ काव्यो के साथ इसकी भी गणना की जा सकती है।

वेलि क्रिसन रुकमणी री

(मूल पाठ तथा सरलार्थ)

दिया, पर पीठ पीछे खडी हुई चापादे यह लीला देख रही थी। वह चुपके से दो कदम पीछे हट गई और मुह फेर कर हँसने लगी। उसका प्रतिबिम्व दर्पण में देखकर पृथ्वीराज ने पीछे देखा और फिर लज्जा विमिश्रित स्वर से बोले—

पीयल धोला आविया, वहुली लग्गी खोड।
कामण मत्तगयद ज्यो, ऊभी मुक्ख मरोड॥

पृथ्वीराज की ग्लानि मिटाने के अभिप्राय से चापादे ने भी कविता का उत्तर कविता में यो दिया .—

हळ तौ धूना धोरियाँ, पथज गग्धाँ पाव।
नराँ, तुराँ, अरु वन फला, पक्काँ पक्काँ साव॥

चम्पादे की कविता तथा पृथ्वीराज के उत्तर का एक प्रसंग और भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि अकवर के विरुद्ध महाराणा के प्रति पक्षपात की बात सुनकर चम्पादे ने चिन्तित होकर इनके पास यह लिख भेजा —

पति जिद की पतशाह सू यहै सुणी मे आज।
कँह पातल अकवर कहाँ, करियो वडो अकाज॥

इस पर पृथ्वीराज ने उत्तर दिया .—

जब ते सुने है बैन, तब ते न मोको चैन,
पाती पढि नेक सो न बिलम्ब लगावेगो।
लैके जमदूत से समत्थ राजपूत आज,
आगरे में आठो याम ऊधम मचावेगो।
कहै पृथ्वीराज प्रिया नेकु उर धीर धरो,
चिरजीवी राना सो मलेच्छन भगावेगो।
मन को मरद्द मानी प्रवल प्रतापसिंह,
वब्बर ज्यो तडप अकब्बर पै आवेगो।

स्पष्ट है कि पृथ्वीराज के हृदय में महाराणा के प्रति असीम श्रद्धा थी और वह अपनी विवशता के कारण ही अकबर के दरबार में टिके हुए थे। किन्तु वहाँ रहकर भी वे चैन से नही वैठते थे। हिन्दू-मर्यादा और गौरव की रक्षा के लिये वे सतत प्रयत्नशील रहते थे और अकबर को भी समय पडने पर मुँह तोड जवाब दिये विना न रहते थे। साथ ही अपना अग्निस्वर महाराणा तथा उनके

वेलि क्रिसन रुकमणी री

(मूल पाठ)

वेलि रूपक

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ,
महि थाणौ पृथुदास मुख।
मूळ ताळ जड अरथ मण्डहे,
सुथिर करणि चढि छाँह सुख॥

पत्र अक्खर दळ द्वाळाजस परिमळ,
नव रस तन्तु व्रिधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सु भगति मजरी,
मुगति फूल फळ भुगति मिसि॥

अथ वेलि क्रिसन रुकमणी री

राठौड़राज प्रिथीराज री कही

अथ मंगलाचरण

परमेसर प्रणवि, प्रणवि सरसति पुणि
सदगुरु प्रणवि त्रिण्हे ततसार[1]।
मंगळ रूप गाइजै माहव
चार सु ए ही मंगळचार ॥ १ ॥

आरम्भ मैं कियो जेणि उपायौ[2]
गावण गुणनिधि हूँ निगुण ।
किरि कठचीत्र[3] पूतळी निज करि
चीत्रारै[4] लागी चित्रण ॥ २ ॥

कमळापति तणी[5] कहेवा कीरति
आदर करे जु आदरी[6] ।
जाणे[7] वाद माँडियौ जीपण[8]
वागहीण वागेसरी ॥ ३ ॥

कथा की महत्ता और कवि की असमर्थता

सरसती न सूझै ताइ तूं सोझै[9]
वाउवौ[10] हुऔ कि वाउलौ[11] ।
मन सरिसौ धावतौ मूढ़ मन
पहि[12] किम पूजै[13] पाँगुलौ[14] ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—१–तत्व का सार अथवा तत्व का तत्व। २–उत्पादित किया। ३–काष्ठचित्रित। ४–चित्रकार को ही। ५–प्रति, की, का। ६–स्वीकार किया, आदर किया। ७–मानो। ८–जीतने के लिये। ९–सूझ से प्रेरणार्थक अथवा अन्वेषण करना। १०–वातरोग ग्रस्त। ११–पागल, वातुलक। १२–परन्तु। १३–पूरा होना, पहुँचना। १४–पगु।

जिणि सेस सहस फण फणि, फणि, बि, बि[1], जीह
जीह जीह नवनवौ जस ।
तिणि ही पार न पायौ त्रीकम[2]
वयण डेडरां[3] किसौ वस[4] ॥ ५ ॥

स्रीपति कुण सुमति तूझ गुण जु तवति[5]
तारू[6] कवण जु समुद्र तरै ।
पंखी कवण गयण[7] लगि पहुचै
कवण रंक करि मेरु करै ॥ ६ ॥

जिण दीध जनम जगि मुखि दे जीहा
क्रिसन जु पोखण भरण करै ।
कहण तणौ तिणि तणौ[8] कीरतन
स्रम कीधा विणु केम सरै ॥ ७ ॥

सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा
सुकवि अनेक ते एक सन्थ[9] ।
त्रीवरणण[10] पहिलौ कीजै तिणि
गूँथियै जेणि सिँगार ग्रन्थ ॥ ८ ॥

दस मास उदरि धरि वळे[11] वरस दस
जो इहाँ परिपाळै जिवड़ी ।
पूत हेत[12] पेखतां पिता प्रति
वळी विसेखै[13] मात वड़ी ॥ ९ ॥

दक्खिण दिसि देस विदरभति दीपति
पुर दीपति अति कुँदणपुर ।

शब्दार्थ —१–द्वि, दो । २–त्रिविक्रम । ३–मेंढक । ४–वश, सामर्थ्य । ५–स्तवति, स्तुति करता है । ६–तैराक । ७–गगन । ८–के, का । ९–सन्ति, हैं । १०–स्त्री का वर्णन । ११–फिर । १२–पुत्रहित, पुत्रवत्सलता । १३–विशेष ।

राजति एक भीखमक[1] राजा
सिरहर[2] अहि नर असुर सुर ॥१०॥
पंचपुत्र ताइ छठी सुपुत्री
कुँअर रुकम कहि विमळ कथ ।
रुकमबाहु अनै रुकमाळी
रुकमकेस नै रुकमरथ ॥११॥
रामा[3] अवतार नाम ताइ रुखमणि
मानसरोवरि मेरुगिरि ।
बाळकति[4] करि[5] हंस चौ[6] बाळक
कनकवेलि बिहुँ[7] पान किरि ॥१२॥
अनि[8] वरिस वधै[9] ताइ मास वधै ए
वधै मास ताइ पहर वधन्ति ।
लखण बत्रीस[10] बाळलीलामै
राजकुँअरि ढूलड़ी[11] रमन्ति ॥१३॥
संग सखी सीळ कुळ वेस समाणी[12]
पेखि कळी[13] पदमिणी परि[14] ।
राजति राजकुँअरि रायअंगण[15]
उडीयण[16] वीरज[17] अम्ब हरि[18] ॥१४॥

शव्दार्थ —१–भीष्मक। २–शिरधर, शिरोधार्य, श्रेप्ठ। ३–लक्ष्मी। ४–वाल-क्रीडा। ५–करती हुई। ६–का–मराठी प्रयोग। ७–दो। ८–अन्यत्, अन्य। ९–वर्धित होती है। १०–वत्तीस लक्षण —१८ सत्वज अलकार, ३ अगज तथा ७ अयत्नज अलकार। ११–गुडिया। १२–समान आयु की। १३–मुग्धा नायिका अथवा कली। १४–भाँति। १५–राजप्रासाद का आँगन। १६–तारागण, उडुगन, । १७–रजहीन, निर्मल। १८–चन्द्र।

सैसव तनि सुखरति[1] जोवग न जाग्रति
वेस सन्धि[2] सुहिणा[3] सु वरि[4] ।
हिव[5] पळपळ चढतौ जि होइसै
प्रथम ज्ञान एहवौ[6] परि ॥१५॥

पहिलौ मुख राग प्रगट थयौ[7] प्राची
अरुण कि अरुणोद अम्बर ।
पेखे किरि जागिया पयोहर
संझा वन्दण[8] रिखेसर[9] ॥१६॥

जम्प[10] जीव[11] नही आवतौ जाणे
जोवण जावणहार[12] जण[13] ।
बहु विलखी वीछड़ती बाळा
बाळ सँघाती बाळपण ॥१७॥

आगळि पित मात रमन्ती अंगणि
काम विराम[14] छिपाड़ण[15] काज ।
लाजवती अंगि एह लाज विधि
लाज करन्ती आवै लाज ॥१८॥

सैसव सु जु सिसिर वितीत थयौ सहु
गुण गति मति अति एह गिणि ।
आप तणौ परिग्रह[16] ले आयौ
तरुणापौ रितुराउ[17] तिणि ॥१९॥

शब्दार्थ —१–सुषुप्ति अवस्था जिस अवस्था मे सोया हुआ व्यक्ति किसी भोगकी इच्छा नही करता और न कोई स्वप्न ही देखता है। 'यत्र सुप्तो न कचन काम कामयते, न कचन स्वप्न पश्यति, तत्सुषुप्तम्।' माण्डूक्योपनिषद्। २–वय सन्धि। ३–स्वप्नावस्था। ४–की भाँति। ५–अब। ६–इस प्रकार का, का। ७–हुआ। ८–सन्ध्यावन्दन। ९–ऋषीश्वर। १०–शान्ति, जल्प। ११–हृदय। १२–जानेवाला, अस्थिर। १३–जान कर। १४–काम के निवास-स्थान, कुच आदि। १५–छिपाने के। १६–परिवार। १७–ऋतुराज।

दल[1] फूलि विमळ वन नयण कमळ दळ
कोकिल कण्ठ सुहाइ सर[2] ।
पाँपणि पंख सँवारि नवो परि[3]
भ्रूहाँरे[4] भ्रमिया भ्रमर ॥२०॥

मळयाचळ सुतनु मळे[5] मन मौरे[6]
कळी कि काम अंकूर कुच ।
तणौ दखिणदिसि दखिण त्रिगुणमै
ऊरघ सास समीर उच[7] ॥२१॥

आणंद सु जु उदौ[8] उहास[9] हास अति
राजति रद रिखपन्ति[10] रुख[11] ॥
नयण कमोदणि दीप[12] नासिका
मेन[13] केस राकेस मुख ॥२२॥

वधिया[14] तनि[15] सरवरि[16] वेस वधन्ती
जोवण तणौ तणौ जळ जोर ।
कामणि करग[17] सु बाण काम रा
दोर[18] सु वरुण तणा किरि डोर ॥२३॥

कामिणि कुच कठिन कपोळ करी किरि
वेस नवी विधि वाणि वखाणि ।
अति स्यामता विराजति ऊपरि
जोवण दाण[19] दिखाळिया जाणि ॥२४॥

धरधर[20] शृंग सधर[21] सुपीन पयोधर
घणी खीण कटि अति सुघट ।

शब्दार्थ —१–शरीरावयव। २–स्वर। ३–रीति से। ४–भौह। ५–मलय-तरु। ६–मजरी युक्त। ७–कहना चाहिये। ८–प्रकट हुआ। ९–प्रकाश। १०–ऋक्ष-पक्ति, नक्षत्र समूह। ११–समान। १२–दीपशिखा। १३–मदन। १४–वढना। १५–शरीर। १६–शर्वरी, रात्रि। १७–कराग्र। १८–हाथ, भुजा। १९–मदजल। २०–धराधर। २१–कठोर।

पदमणि नाभि प्रियाग तणी परि
त्रिवळि त्रिवेणी त्रोणि तट ॥२५॥
नितम्बणी जंघ सु करभ[1] निरूपम
रम्भ[2] खम्भ विपरीत रुख ।
जुअळि[3] नाळि[4] तसु गरभ[5] जेहवी[6]
वयणै वाखाणै विदुख[7] ॥२६॥
ऊपरि पदपलव पुनर्भव[8] ओपति[9]
न्रिमळ कमळदळ ऊपरि नीर ।
तेज कि रतन कि तार[10] कि तारा
हरिहँस[11] सावक ससिहर[12] हीर ॥२७॥

रुक्मिणी की शिक्षा

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि
वेद च्यारि खट अंग विचार ।
जाणि चतुरदस चौसठि जाणी
अनँत अनँत तसु मधि अधिकार ॥२८॥

वर प्राप्ति की इच्छा से रुक्मिणी द्वारा वन्दना

साँभळि[13] अनुराग थयो मनि स्यामा
वर प्रापति वंच्छती वर ।
हरि गुण भणि[14] ऊपनी जिका[15] हर[16]
हर तिणि वन्दे गवरि[17] हर ॥२९॥

शब्दार्थ —१–हाथी का बच्चा। २–रम्भा, केला। ३–युगल। ४–नलिका। ५–मध्य भाग। ६–यादृशी, जैसी। ७–विद्वान्। ८–नख। ९–ज्योति। १०–प्रकाश। ११–हरि अर्थात् कपिल या ताँबे के रंग का। हंस अर्थात् सूर्य। हरिहंस—बालसूर्य। १२–बालचन्द्रमा। १३–समझ कर। १४–पढना। १५–या का, जो कोई। १६–उत्कट इच्छा, वासना। १७–गौरी।

पिता द्वारा कृष्ण को वर बनाने की इच्छा

ईखे[१] पित मात एरिसा[२] अवयव[३]
विमळ विचार करै वीवाह ।
सुन्दर सूर सीळ कुल करि सुध
नाह किसन सरि सूझै नाह[४] ॥३०॥

पुत्र द्वारा पिता का विरोध

प्रभणन्ति पुत्र इम मात पिता प्रति
अम्हाँ[५] वासना वसी इसी ।
ग्याति[६] किसी[७] राजवियाँ[८] ग्वाळाँ
किसी जाति कुळ पाँति किसी ॥३१॥
सु जु करै अहीराँ सरिस सगाई
ओलाँडे[९] राजकुळ इता ।
व्रिधपणै मति कोइ वेसासौ[१०]
पाँतरिया[११] माता इ पिता ॥३२॥
प्रभणै पित मात पूत मत पाँतरि[१२]
सुर नर नाग करै जसु[१३] सेव ।
लिखमी समी रुकमणी लाडी[१४]
वासुदेव सम सुत वसुदेव ॥३३॥
मावीत्र[१५] म्रजाद मेटि बोलै मुखि
सुवर न को सिसुपाळ सरि ।
अति अँबु कोपि कुँवर ऊफणियौ
वरसाळू[१६] वाहळा[१७] वरि[१८] ॥३४॥

शब्दार्थ —१–देखकर। २–ऐसा, ईदृश। ३–चिह्न। ४–नही। ५–हमारे, मेरे। ६–जाति सम्बन्ध। ७–कैसी। ८–राजवशी, क्षत्रिय। ९–उलाघ कर। १०–विश्वास करो। ११–वुद्धि भ्रष्ट होना। १२–मूर्खता मत कर। १३–जिसकी। १४–नववधू। १५–मातापिता, मातृ पितृ। १६–वरसने को तैयार। १७–बादल। १८–भाँति।

'पुत्र का विप्र के यहाँ जाकर शिशुपाल को निमन्त्रण भेजना

गुरु[1] गेहि गयौ गुरु[2] चूक जाणि गुरु[3]
नाम लियौ दमघोख नर[4] ।
हेक[5] वडो हित हुवै पुरोहित
वरै सुसा[6] सिसुपाळ वर ॥३५॥

पुरोहित का चन्देवरी पुरी पहुँचना

विप्र विलँव न कीध जेणि आइस[7] वसि[8]
वात विचारि न भली वुरी ।
पहिलुँ इ[9] जाइ लगन ले पुहतौ[10]
प्रोहित चन्देवरी पुरी ॥३६॥

शिशुपाल का प्रसन्न होकर कुन्दनपुर आना

हुइ हरख घणै सिसुपाळ हालियौ[11]
ग्रंथे गायौ जेणि गति ।
कुण जाणै सँगि हुआ केतला
देस देस चा देसपति ॥३७॥

शिशुपाल के स्वागत में कुन्दनपुर की शोभा

आगमि सिसुपाळ मण्डिजै[12] ऊछव
नीसाणे[13] पड़ती निहस[14] ।
पटमण्डप छाइजै कुंदणपुरि
कुन्दणमै[15] वाझै[16] कळस ॥३८॥

शब्दार्थ —१–शिक्षक । २–मातापिता । ३–भारी, कठिन । ४–वीरपुत्र । ५–एक । ६–स्वसा, वहिन । ७–आयसु, आज्ञा । ८–वश में होकर । ९–ही । १०–पहुँचा । ११–चला । १२–मनाए जाते हैं । १३–नगाडा । १४–प्रहार । १५–स्वर्णमय । १६–बाँधे जाते हैं ।

समर्थको को सुनाने में भी नही झिझकते थे, वल्कि निर्भय भाव से स्पष्ट घोषणा करते हुए अकवर के ही मुँह पर प्रताप की प्रशसा करते थे। यदि अकवर के साथ रहकर भी इस प्रकार के स्वाभिमान की रक्षा का भाव किसी अन्य व्यक्ति मे जागृत था तो वह थे दुरसा जी आढा, जिनकी वाणी भी उतनी ही पैनी मार करके अकवर का गर्व चूर करती थी। पृथ्वीराज की ओजवल पूर्ण कविताओ की समता यदि कोई कर सकता था तो दुरसा जी। दोनो देशभक्त अपनी कविता के द्वारा शत्रु के डेरे मे रहकर भी देश में जीवन की आग वरसा रहे थे। उनमे राष्ट्रीय-कवि के प्राण वोलते थे। एक ओर उनके विना मजलिस सूनी हो जाती थी, दूसरी ओर उनके विना वीरकविता मे प्राणो की दीप्ति का आभास मिलना कठिन जान पडता। एक ओर वे सस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओ के पूर्ण पण्डित और प्रसिद्ध भक्त थे, दूसरी ओर उनकी रसिकता और सगीतप्रियता में भी कमी न थी। युद्ध के मैदान में वे एक योग्य सेना-नायक थे, घर के क्षेत्र मे एक अच्छे पति। उनका विद्यानुराग, शौर्य और उनका धर्म एक साथ ही उन्हें ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी का महत्व प्रदान करते थे। उनकी वीररस पूर्ण प्रवल कविताओ के कारण टैसीटरी को उन्हें 'डिंगल का होरेस' कहना उचित जान पडा और टॉड ने उनके ओजबल से चकित रहकर उनकी कविता में दश सहस्र घोडो का वल वताया। इन सव प्रशसाओ का कारण इनकी 'वेलि' तो है ही, इनके अन्य काव्य भी है।

पृथ्वीराज की अन्य रचनाएँ

पृथ्वीराज के नाम से राजस्थान मे डिगल तथा पिंगल की अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती है। इनकी 'वेलि' की तो अनेक प्रतिलिपियाँ जहाँ तहाँ के पुस्तकालयो मे सुरक्षित है। मेनारिया जी का कहना है कि 'राजस्थानी का यही एक ऐसा ग्रंथ है जिसकी टीकाएँ भी उपलब्ध होती है।' 'वेलि' की टीकाएँ न केवल राजस्थानी मे मिलती है, वल्कि सस्कृत में भी टीका होने का गौरव इस ग्रथ को प्राप्त है। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज के नाम पर 'प्रेमदीपिका' तथा 'श्यामलता' नामक दो अन्य प्रवन्ध भी वताये जाते है। 'दशरथ रावउत', 'वसुदेव रावउत' तथा 'गगालहरी' भी इनके प्रसिद्ध ग्रथ है। इनमें से 'प्रेमदीपिका'

ग्रिह ग्रिह प्रति भीति सुगारि[1] हींगलू[2]
ईंट फिटकमै चुणी अचम्भ ।
चन्दण पाट[3] कपाट ई चन्दण
खुम्भी[4] पनाँ[5] प्रवाळी[6] खम्भ ॥३९॥
जोइ[7] जळद पटळ[8] दळ साँवळ ऊजळ
घुरै[9] नीसाण सोइ घणघोर ।
प्रोळि प्रोळि[10] तोरण परठीजै[11]
मण्डै[12] किरि तण्डव[13] गिरि मोर ॥४०॥
राजान जान[14] सँगि हुंता जु राजा
कहै सु दीध[15] ललाटि कर ।
दूरा नयर[16] कि कोरण[17] दीसै
धवळागिरि कि ना धवळहर[18] ॥४१॥

पुरनारियों की प्रसन्नता तथा रुक्मिणी की विकल दशा

गावै करि मंगळ चढ़ि चढ़ि गौखे
मनै सूर[19] सिसुपाळ मुख ।
पदमिणि अनि फूलै परि पदमिणि
रुखमिणी कमोदणी रुख ॥४२॥

शब्दार्थ —१–हीगलू की गार। २–ईंगुर, चीन देश मे मिलने वाली चटकीली लाल मिट्टी जो वेदी के काम में लाई जाती है। ३–छत में लगाए जाने वाले लकडी के तख्ते। ४–कुम्भी, खम्भे का नीचे का वह भाग जो ऊपर के भाग से कुछ वाहर निकला रहता है तथा जिस पर शिल्प भी रहता है। ५–हरे रग का जवाहर पत्थर। ६–मूंगिया। ७–१ जो या जो भी, २ पण्डाल, ३ स्त्री। ८–१ वस्त्र, पर्दा, २ समूह। ९–घहराना। १०–प्रतोलि, प्रवेश-द्वार। ११–स्थापित किए जाते हैं, प्रस्थापित, प्रस्थीयते। १२–चित्रित। १३–आनन्द का प्रतीक ताण्डव नृत्य। १४–यान, सवारी। १५–दिए हुए या देकर, दत्त। १६–१ नगर, २ निकट। १७–श्वेत मेघा की कोर। १८–धवलगृह। १९–सूर्य।

जाळी मगि चढ़ि चढ़ि पन्थी जोवै
भुवणि[1] सुतन मन तसु भिळित[2] ।
लिखि राखे कागळ नख लेखणि
मसि काजळ आंसू मिळित ॥४३॥

रुक्मिणी को ब्राह्मण का दर्शन तथा उसके द्वारा सन्देश द्वारिका भेजना

तितरै[3] हेक दीठ पवित्र गळित्रागौ[4]
करि प्रणपति लागी कहण ।
देहि सँदेस लगी दुवारिका
वीर[5] वटाऊ ब्राहमण ॥४४॥
म म करिसि ढील हिव[6] हुए हेकमन
जाइ जादवाँ इन्द्र[7] जत्र ।
माहरै[8] मुख हुंता ताहरै मुखि
पग वन्दण करि देइ पत्र ॥४५॥

संध्या-वर्णन तथा द्विज का कुन्दनपुर में ही सो जाना

गई रवि किरण ग्रहे थई गहमह[9]
रहरह[10] कोइ वह[11] रहे[12] रह[13] ।
सु जु दुज पुरा नीसरे सूतौ
निसा पड़ी चालियौ नह[14] ॥४६॥
दिन लगन सु नैड़ो दूरि द्वारिका
भौ[15] पहुचेस्याँ किसी भति[16] ।
सांझ सोचि कुन्दणपुरि सूतौ
जागियौ परभाते जगति[17] ॥४७॥

शब्दार्थ .—१—भुवन अथवा भवन में । २—भेंट करना, मिलना । ३—उतने में, तति, कति । ४—यज्ञोपवीतधारी । ५—भाई । ६—अब । ७—यादवेन्द्र, कृष्ण । ८—मेरे । ९—जगमगाहट । १०—रह जाओ कहते हुए । ११—चलना । १२—रह गये । १३—राह । १४—नहीं । १५—भय । १६—भांति । १७—जगन्निवासी भगवान का स्थान द्वारिका ।

द्वारिका-वर्णन

धुनि वेद सुणति कहुँ सुणति संख धुनि
नद[1] झल्लरि[2] नीसाण नद ।
हेका[3] कह हेका हीलोहल[4]
सायर[5] नयर[6] सरीख सद[7] ॥४८॥

पणिहारि[8] पटळ[9] दळ[10] वरण चँपक दळ
कळस सीस करि कर कमळ ।
तीरथि तीरथि जंगम तीरथ[11]
विमळ व्राहमण जळ विमळ ॥४९॥

जोवै[12] जाँ[13] गृहि गृहि जगन[14] जागवै[15]
जगनि जगनि कीजै तप जाप ।
मारगि मारगि अम्ब मौरिया
अम्बि अम्बि[16] कोकिल आलाप ॥५०॥

ब्राह्मण का चकित होना तथा अन्तःपुर जाना

सम्प्रति[17] ए किना[18] किना ए सुहिणौ[19]
आयौ कि हूँ अमरावती ।
जाइ[20] पूछियौ तिणि इमि जम्पियौ
देव सु[21] आ दुआरामती ॥५१॥

सुनि स्रवणि वयण मन माहि थियौ सुख
क्रमियौ[22] तासु प्रणाम करि ।

शब्दार्थ.—१—शब्द । २—पूजा के समय बजाने का वाद्य । ३—एक ओर । ४—हिल्लोल, हल्ला । ५—सागर । ६—नगर । ७—शब्द । ८—पनिहारिन । ९—समूह । १०—१ समूह, २ पुष्पसमूह । ११—चल तीर्थ । १२—देखना । १३—जहाँ । १४—यज्ञाग्नि । १५—जगती है । १६—प्रत्येक आम पर । १७—प्रत्यक्ष । १८—क्या नहीं । १९—स्वप्न । २०—जिससे । २१—तो, यह तो । २२—आगे चला ।

पूछत पूछत ग्यौ अन्तहपुरि
हुऔ सुदरसण तणौ[1] हरि ॥५२॥
वदनारविन्द गोविन्द वीखियै[2]
आलोचै[3] आपो आप सूँ ।
हिव रुषमणी कृतारथ हुइस्यै
हुऔ कृतारथ पहिलौ हूँ ॥५३॥

कृष्ण द्वारा स्वागत

ऊठिया जगतपति अन्तरजामी
दूरन्तरी आवतौ देखि ।
करि वन्दण आतिथ ध्रम कीधो
वेदे कहियौ तेणि[4] विसेखि ॥५४॥
कस्मात् कस्मिन् किल[5] मित्र किमर्थं
केन कार्यं परियासि कुत्र ।
ब्रूहि[6] जनेन येन भो ब्राह्मण
पुरतो[7] मे प्रेषितम् पत्र ॥५५॥

पत्र देखकर कृष्ण की अवस्था, विप्र द्वारा पत्र-पाठ

कुन्दणपुर हुँता वसाँ[8] कुन्दणपुरि
कागळ दीधो एम कहि ।
राज लगै[9] मेल्हियौ[10] रुषमणी
समाचार इणि माहि[11] सहि[12] ॥५६॥
आणन्द लखण रोमांचित आँसू
वाचत गदगद कँठ न वणै ।

शब्दार्थ —१—का । २—देखकर । ३—सोच विचार करता है । ४—से । ५—अवश्य । ६—कहो । ७—मेरे सम्मुख । ८—रहता हूँ । ९—आपके लिये । १०—भेजा है । ११—इसमें । १२—सभी ।

कागळ करि दीधौ करुणाकरि
तिणि तिणि होज व्राह्मण तणै ॥५७॥
देवाधिदेव चै[1] लाधै[2] दूवै[3]
वाचण लागौ व्राह्मण ।
विधि पूरवक कहे वीनवियौ
सरण तूझ असरण सरण ॥५८॥
बळिबन्धण मूझ स्याळ[4] सिंघ बळि
प्रासै[5] जो बीजौ[6] परण ।
कपिळ धेनु दिन[7] पात्र कसाई
तुळसी करि चाण्डाळ तणै ॥५९॥
अम्ह कजि तुम्ह छण्डि अवर वर आणै
एंठित[8] किरि होमै अगनि ।
साळिगराम सूद्र ग्रहि संग्रहि[9]
वेदमन्त्र म्लेच्छां वदनि ॥६०॥
हरि हुए वराह हए हरिणाकस
हूँ ऊधरी पताळ हूं ।
कहौ तई[10] करुणामै केसव
सीख दीध किण तुम्हाँ सूँ[11] ॥६१॥
आणे सुर असुर नाग नेत्रै[12] नहि[13]
राखियौ जई मन्दर रई[14] ।
महण[15] मथे मूँ[16] लीध महमहण[17]
तुम्हाँ किणै सीखव्या[18] तई ॥६२॥

शब्दार्थ —१–से । २–लब्ध करके, पाकर । ३–प्रार्थना, आज्ञा । ४–शृगाल, गीदड । ५–खाये । ६–द्वितीय, अन्य । ७–दी । ८–उच्छिष्ट वस्तु । ९–स्थापना । १०–तदा, उस समय । ११–को, तुमको । १२–नागनेत्रै–मथानी की रस्सी । १३–नाथकर । १४–पर्वत रूपी मन्थन दण्ड । १५–महार्णव, महासमुद्र । १६–मुझको । १७–महासमुद्र का मन्थन करने वाले । १८–शिक्षा दी ।

रामा अवतारि वहे[1] रणि रावण
किसी सीख करुणाकरण ।
हूँ ऊधरी त्रिकुटगढ़[2] हूँती
हरि बन्धे[3] वेळाहरण[4] ॥६३॥

चौथीआ वार वाहर करि चत्रभुज
संख चक्र धर गदा सरोज ।
मुख करि किसूँ कहीजै माहव
अन्तरजामी सूँ आळोज[5] ॥६४॥

तथापि रहे न हूँ सकूँ वकूँ तिणि[6]
त्रिया अनै[7] प्रेम आतुरी ।
राज दूरि द्वारिका विराजौ
दिन नेड़उ आइयौ दुरी[8] ॥६५॥

त्रिणि[9] द्दीह[10] लगन वेळा आड़ा[11] तै[12]
घणूँ किसूँ कहिजै आ घात[13] ।
पूजा मिसि आविसि पुरखोतम
अम्बिकाळय नयर आरात[14] ॥६६॥

श्री कृष्ण का कुण्डिनपुर को प्रस्थान

सारङ्ग[15] सिळीमुख[16] साथि सारथी
प्रोहित जाणणहार पथ ।
कागळ चौ ततकाळ कृपानिधि
रथ बैठा साँभळि[17] अरथ ॥६७॥

शब्दार्थ —१—वध किया। २—लका। ३—बाँधा। ४—समुद्र। ५—आलोच्य, विचार। ६—तेन, इस कारण। ७—अन्य, दूसरे। ८—दुर्दिन। ९—तीन। १०—दिन। ११—बीच में। १२—उससे। १३—आ घात—यह षड्यन्त्र। १४—निकट। १५—विष्णु का धनुष। १६—बाण। १७—समझकर।

सुग्रीवसेन नै मेघपुहुप सम–
वेग बळाहक इसै वहन्ति ।
खेंति[1] लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै[2]
घर[3] गिरि पुर साम्हा धावन्ति ॥६८॥

पुर के समीप आगमन, रुक्मिणी को सन्देश भेजना ।

रथ थम्भि सारथी विप्र छण्डि रथ
औ[4] पुर हरि बोलिया इम ।
आयौ कहि कहि नाम अम्हीणौ[5]
जा[6] सुख दे स्यामा नै जिम ॥६९॥

रुक्मिणी की चिन्तातुरता तथा शकुन ।

रहिया हरि सही जाणियौ रुषमणि
कीध न इवड़ी ढील कई[7] ।
चिन्तातुर चित इम चिन्तवती
थई छींक तिम धीर थई ॥७०॥

रुक्मिणी को विप्र का दर्शन और उसकी आकुलता ।

चळपत्र पत्र थियौ दुज देखे चित
सकै न रहति न पूछि सकन्ति ।
औ आवै जिम जिम आसन्नौ[8]
तिम तिम मुख धारणा[9] तकन्ति ॥७१॥
सँगि सन्ति सखीजण गुरुजण स्यामा
मनसि विचारि ए कही महन्ति[10] ।

शब्दार्थ —१–लगन, चतुराई । २–चला रहे हैं । ३–धरिणी । ४–यह । ५–मेरा । ६–जाओ । ७–कभी भी । ८–निकट । ९–आकृति । १०–महती, महान्, महिमा ।

कुसस्थळी[1] हूँता कुन्दणपुरि
किसन पधार्‌या लोक कहन्ति ॥७२॥
वम्भण मिसि वन्दे हेतु सु वीजौ[2]
कहो स्रवणि सम्भळी कथ ।
लिखमी आप नमे पाइ लागी
अचरिज को लाधै अरथ[3] ॥७३॥

वलराम का सेना सहित आगमन ।

चढिया हरि सुणि सङ्करखण[4] चढिया
कटकबन्ध[5] नह[6] घणा किध ।
एक उजाथर[7] कळहि[8] एहवा[9]
साथी सहु[10] आखाढसिध[11] ॥७४॥
पिण[12] पन्थ वीर जूजुआ[13] पधार्‌या
पुरि भेळा[14] मिळि कियौ प्रवेस ।
जण दूजण[15] सहि[16] लागा जोवण[17]
नर नारी नागरिक नरेस ॥७५॥

कृष्ण तथा वलराम का दर्शन करके पुरवासियों द्वारा उनका वर्णन ।

कामिणि कहि काम काळ कहि केवी[18]
नारायण कहि अवर नर ।
वेदारथ इम कहै वेदवँत
जोग तत्त[19] जोगेसवर ॥७६॥

शब्दार्था —१–द्वारिका । २–अन्य, द्वितीय । ३–वन । ४–वलराम । ५–सैन्य सग्रह । ६–नही । ७–यशस्वी, ओजस्थिर । ८–युद्ध मे । ९–ऐसे । १०–सभी । ११–युद्ध मे सिद्ध या युद्ध कुशल । १२–पुन , यद्यपि । १३–भिन्न भिन्न, जुदा जुदा । १४–मिलन । १५–सज्जन दुर्जन । १६–सभी । १७–देखना । १८–कोई अन्य, केऽपि । १९–योगतत्त्व ।

वसुदेव कुमार तणौ मुख वीखे[1]
पुणै सुणै जण आपपर[2] ।
औ रुषमणी तणौ वर आयौ
हर[3] म[4] करौ अनि रायहर[5] ॥७७॥

आवासि[6] उतारि जोड़ि कर ऊभा[7]
जण जण आगै जणौ जणौ ।
राम किसन आया राजा रैं[8]
तो को अचिरज मनुहार तणौ ॥७८॥

रुक्मिणी की सखी द्वारा अम्बिकालय जाने के लिए माता से आज्ञा लेना

सीखावि सखी राखी आखै[9] सुजि[10]
राणी पूछै रुषमणी ।
आज कहौ तो आप जाइ आवूँ
अम्ब जात्र[11] अम्बिका तणी ॥७९॥

राणी तदि दूवौ[12] दीध रुषमणी
पति सुत पूछि पूछि परिवार ।
पूजा व्याज काज प्री परसण
स्यामा आरँभिया सिणगार ॥८०॥

देवदर्शन की तैयारी में रुक्मिणी का स्नान तथा नखशिख-निरूपण

कुमकुमै मँजण[13] करि धौत[14] वसत[15] धरि
चिहुरे[16] जळ लागौ चुवण ।

शब्दार्थ —१–देखकर, वीक्ष्य । २–परस्पर । ३–आकाक्षा, स्मर—म्हर—हर । ४–नही । ५–राजगृह । ६–निवासस्थान । ७–खडा । ८–के यहाँ । ९–कहती है । १०–वही । ११–यात्रा । १२–आज्ञा । १३–मज्जन, स्नान । १४–स्वच्छ, सफेद । १५–वस्त्र । १६–चिकुर, केश ।

छीणे जाणि छछोहा[1] छूटा
गुण मोती[2] मखतूल[3] गुण[4] ॥८१॥
लागी विहुँ[5] करे धूपणै लीधै
केसपास सुगता[6] करण ।
मन मृग चै कारणै मदन चौ
वागुरि[7] जाणे[8] विसतरण[9] ॥८२॥
बाजोटा ऊतरि गादी बैठी
राजकुँअरि स्रिंगार रस[10] ।
इतरै एक आली ले आवी
आनन आगळि[11] आदरस[12] ॥८३॥
कंठ पोत[13] कपोत कि कहुँ नीलकँठ
वडगिरि[14] कालिन्द्री वळी[15] ।
समै भागि[16] किरि सङ्ख सङ्खधर[17]
एकणि[18] ग्रहियौ अंगुळी ॥८४॥
कबरी[19] किरि [गुन्थित कुसुम करम्बित[20]
जमुण फेण पावन्न जग ।
उतमंग किरि अम्बर आधो अधि
माँग समारि कुंआर मग[21] ॥८५॥
अणियाळा[22] नयण बाण अणियाला
सजि कुण्डळ खुरसाण[23] सिरि[24] ।

शब्दार्थ —१–(१) फव्वारा, (२) शीघ्रता सहित। २–मोती का नाम। ३–महर्घ तूल, रेशम। ४–डोरा। ५–दोनो। ६–मुक्त फैलाना। ७–मृग फँसाने का जाल। ८–मानो। ९–विस्तार करना, फैलाना। १०–की कामना से। ११–सम्मुख। १२–आदर्श, शीशा। १३–गले में धारण करने की पवित्री। १४–हिमालय। १५–चारो ओर से घेरना, लिपटना। १६–बीच से, दो भाग। १७–विष्णु। १८–एक से। १९–चोटी। २०–सजाकर गूँथी हुई। २१–आकाश गगा। २२–अनियारे, नुकीले। २३–शाण, क्षुरशाण। २४–ऊपर।

समर्पण

प्रिये,

तुम जीवन मे वासन्ती बयार हो। तुम्हारा साहचर्य कर्मक्षेत्र मे उतरने की प्रेरणा देता है। तुम्हारे उल्लास से इगित पाकर मेरी सुप्त चेतना को जागरण का वरदान प्राप्त होता है। अतएव भाव-वृन्त पर विकसित यह पुष्प तुम्हारी भेट है।

का उल्लेख मिश्रवन्धुओ ने अपने 'विनोद' के प्रथम भाग मे किया है। यह रचना कृष्ण तथा राधा के प्रेम को लेकर व्रजभापा में लिखी गई है। इसका वह पद इस प्रकार है —

प्रेम इकगी नेम प्रीति गोपिन को गायौ।
वचनन विरह विलाप सखी ताकी छवि छायौ॥
ग्यान योग वैराग मधुर उपदेसन भाख्यौ।
भक्तिभाव अभिलाख मुख्य वनितन मनु राख्यौ॥
वहुविधि वियोग सयोग सुख सकल भाव समुझै भगत।
यह अद्भुत प्रेम प्रदीपिका कहि अनत उद्दित जगत॥ १॥

इससे जान पडता है कि यह गोपियो के प्रेम तथा उनके सयोग वियोग के चित्रण के साथ साथ भक्तिभाव का ग्रथ है। दूसरे ग्रथ, 'श्यामलता', का उल्लेख डा० सरयू प्रसाद ने अपनी थीसिस में अन्य ग्रथो के साथ किया है। किन्तु इस ग्रथ के विपय में कोई परिचय आदि नही दिया। 'दशरथ रावउत,' श्री रामचन्द्र जी की स्तुति का ग्रन्थ है। यह दोहो में है, जिनकी कुल सख्या ५० है। 'वसुदेव रावउत,' भगवान कृष्ण की स्तुति मे लिखी गई है। इसमे १६५ दोहे है। 'गगालहरी' तो राजस्थान की एक प्रसिद्ध रचना ही है। यह भी दोहो में लिखी गई है। इन दोहो का पाठ आज भी राजस्थान मे लोग किया करते है। 'गगालहरी' के सम्वन्ध में पारीक जी का कथन है कि —"अप्रकाशित पुस्तका-कार में 'गगालहरी' के कुल दोहो में से ४८ भागीरथी उप-नाम से समायुक्त और लगभग ३० जाह्नवी और मन्दाकिनी के नाम से सयुक्त, उपलब्ध हुए है। इन ७८ दोहो के सम्वन्ध में हम सप्रमाण कह सकते है कि ये महाराज पृथ्वीराज की प्रामाणिक कृति है। ये दोहे स० १६७९ में सकलित करके वुरहानपुर में लिखे गये थे और 'वेलि' की ढूढाडी टीकावाली प्रति में सम्मलित कर दिये गये थे। कहते है, महाराज श्री सूरजसिह जी वीकानेर-नरेश के स्तुति पाठ के निमित्त ये एकत्रित किये गये थे।" पृथ्वीराज के नाम से 'दसम भागवत रा दूहा' ग्रथ भी उपलब्ध होता है, जिसमें १८४ दोहें है। इसका विषय भी कृष्ण-भक्ति ही है। यह शान्त-रस की वड़ी अनूठी रचना कही गई है। भाषा की प्रौढता तथा परिमार्जन प्रशसनीय है।

वळे[1] बाढ[2] दे सिळी[3] सिळी[4] वरि[5]
काजळ जळ वाळियौ[6] किरि ॥८६॥
कमनीय करे कूँ कूँ चौ निज करि
कलँक धूम काढे[7] बे[8] काट ।
सम्प्रति कियौ आप मुख स्यामा
नेत्र तिलक हर तिलक निलाट ॥८७॥
मुख सिख सँधि[9] तिलक[10] रतनमै मण्डित
गयौ जु हूंतौ पूठि[11] गळि[12] ।
आयै क्रिसन माँग मग आयौ
भाग कि जाणे भालियळि[13] ॥८८॥
जूँ[14] सहरी[15] भ्रूह नयण मृग जूता
विसहर[16] रासि[17] कि अलक वक्र ।
वाळी किरि वाँकिया[18] विराजै
चन्द[19] रथी ताटंक चक्र ॥८९॥
इभ[20] कुँभ अन्धारी[21] कुच सु कंचुकी
कवच सम्भु काम क कळह ।
मनु हरि आगमि मंडे मण्डप
बन्धण दीध कि वारगह[22] ॥९०॥
हरिणाखी[23] कंठ अंतरिख[24] हूँती[25]
बिम्ब रूप प्रगटी बहिरि ।

शब्दार्थ —१–पुन । २–धार तेज करके । ३–अजन शलाका, नोक । ४–शाण । ५–ऊपर । ६–गिराया । ७–काट काढे, निकाल कर वाहर कर दिये । ८–दोनो, द्वि । ९–मुख तथा सिर की सधि अर्थात् ललाट । १०–गहना विशेष । ११–पीछे । १२–गले के । १३–ललाट । १४–जुआ । १५–सदृश । १६–विषधर । १७–रास । १८–रथचक्र के आगे धुरी टिकाने के लिए धनुषाकार लकडी । १९–मुखचन्द्र । २०–हाथी । २१–आँख का पर्दा । २२–तम्बू अथवा हाथियो को वाँधने का स्थान, पायगह । २३–हरिणाक्षी, रुक्मिणी । २४–गुप्त । २५–से ।

कळ मोतियाँ सुसरि[1] हरि कीरति
कंठसरी[2] सरसती किरि ॥९१॥
बाजूबँध बन्धे गोर बाहु बिहुँ
स्याम पाट[3] सोहन्त सिरी[4] ।
मणिमै हीँडि हीँडलै[5] मणिधर
किरि साखा श्रीखंड[6] की ॥९२॥
गजरा नवग्रही[7] प्रोँचिया[8] प्रोँचे[9]
वळे[10] वळै[11] विधि विधि वळित ।
हसत नखित्र[12] वेधियौ हिमकरि[13]
अरध कमळ अलि आवरित ॥९३॥
आरोपित[14] हारे घणौ थियो अँतर
उरस्थळ[15] कुम्भस्थळ आज ।
सु जु मोती लहि न लहै सोभा
रज तिणि सिर नाँखै गजराज ॥९४॥
धरिया सु उतारे नव तन धारे
कवि तै वाखाणण[16] किमत्र ।
भूखण पुहप पयोहर फळ भति[17]
वेलि गात्र तौ पत्र वसत्र[18] ॥९५॥

शब्दार्थ ——१—मोती की लडी। २—कठी। ३—रेशम। ४—सिरा, शोभा, श्री। ५—झूलना में। ६—चन्दन। ७—नवरत्नी नाम का आभूषण। नवग्रहो के सूचक नवरत्नों मे जडा हुआ कलाई मे पहनने का आभूषण। ८—पहुँची। ९—पहुँचा (प्रकोष्ठ)। १०—धारण की। ११—वलयन सूत्र। १२—हस्तनक्षत्र। हाथ केपजे के समान दिखाई देने वाला पाँच नक्षत्रो का सग्रह। १३—चन्द्रमा। १४—पहना हुआ। १५—वक्षस्थल। डा० टैसीटरी ने 'उरुस्थल' (अर्थात् जघा स्थान) पाठान्तर दिया है। वह प्रसगोपयुक्त नही प्रतीत होता। १६—व्याख्या करना। १७—भाँति। १८—वस्त्र।

स्यामा कटि कटिमेखला समरपित[1]
क्रिसा[2] अंग मापित[3] करल[4] ।
भावी सूचक थिया[5] कि भेळा[6]
सिघरासि ग्रहगण सकल ॥९६॥

चरणे चामीकर[7] तणा[8] चंदाणणि
सज नूपुर घूघरा सजि ।
पीळा भमर किया पहराइत[9]
कमळ तणा मकरन्द कजि ॥९७॥

दधि[10] वीणि[11] लियौ जाइ वणतौ[12] दीठौ
साखियात[13] गुणमै[14] ससत[15] ।
नासा अग्रि मुताहळ निहसति[16]
भजति कि सुक मुख भागवत ॥९८॥

मकरन्द तँबोळ कोकनद[17] मुख मझि
दन्त किञ्जळक दुति दीपन्ति ।
करि इक बीड़ौ वळे वाम करि
कीर सु लसु जाती[18] क्रीड़न्ति ॥९९॥

सिणगार करे मन कीधौ स्यामा
देवि तणा देहरा दिसि ।
होड छण्डि चरणे लागा हँस
मोती लगि[19] पाणही[20] मिसि ॥१००॥

शब्दार्थ —१—पहनी हुई। २—कृशाङ्गी। ३—नापी हुई। ४—हथेली (कराग्र)। ५—हुए। ६—एकत्र। ७—स्वर्ण, धतूरा। ८—के। ९—प्रहरी। १०—उदधि। ११—चुन लेना। १२—शोभित। १३—साक्षात्। १४—मोती विशेष। १५—नि सदेह, ससत्य। १६—अत्यधिक हँसता सा, शोभित। १७—कमल। १८—सजातीय, चमेली। १९—मोती युक्त। २०—उपानह, जूती।

अन्तर[1] नीळम्बर[2] अवळ[3] आभरण
अंगि अंगि नग नग उदित ।
जाणे सदनि सदनि सञ्जोई
मदन दीपमाळा मुदित ॥१०१॥

किहि[4] करगि[5] कुमकुमौ[6] कुंकुम किहि करि
किहि करि कुसुम कपूर करि ।
किहि करि पान अरगजो किहि करि
धूप सखी किहि करगि धरि ॥१०२॥

देवदर्शन के लिए प्रस्थान

चकडोळ[7] लगै[8] इणि भाँति सूँ चाली
मति[9] तै[10] वाखाणण न मूँ ।
सखी समूह माँहि इम स्यामा
सीळ आवरित लाज सूँ ॥१०३॥

आइस्यै[11] जाइ[12] साथि सु चढ़ि चढ़ि आया
तुरी[13] लाग[14] ले ताकि तिम ।
सिलह[15] माँहि गरकाव[16] सँपेखी[17]
जोध मुकुर प्रतिविम्ब जिमि ॥१०४॥

पदमिणि रखपाळ पाइदळ[18] पाइक[19]
हिळवळिया[20] हलिया[21] हसति[22] ।
गमे गमे[23] मदगलित गुड़न्ता[24]
गात्र गिरोवर[25] नाग गति ॥१०५॥

शब्दार्थ :—१—अन्दर। २—नील परिधान। ३—अवलि, पंक्ति। ४—किसी के। ५—कर में। ६—गंगाजल जल का पात्र। ७—पालकी। ८—की ओर। ९—बुद्धि। १०—उसकी। ११—आज्ञा। १२—जिन्हें। १३—घोड़े, तुरग। १४—योग्य। १५—कवच। १६—निमग्न। १७—दीखते हैं, संप्रेक्ष्य। १८—पैदल (पादतल) सैनिक। १९—पादातिक। २०—गमनोत्सुक, हड़बड़ाये हुए। २१—चले। २२—हाथी। २३—घमघम शब्द करते हुए। २४—झूमते हुए। २५—गिरिवर।

श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी का अनुगमन

अस[1] वेगि वहै रथ वहै अन्तरिख
चालिया चन्दाणणि मग चाहि[2] ।
किरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी
मंजण करि सरयू नदि मांहि ॥१०६॥

पारस[3] प्रासाद सेन सम्पेखे[4]
जाणि मयंक कि जळहरी ।
मेरु पाखतो[5] नखित्र माळा
ध्रू[6] माळा संकर धरी ॥१०७॥

अम्बिका दर्शन तथा प्रार्थना

देवाळै पैसि अम्बिका दरसे
घणै भाव हित प्रीति घणी ।
हाथे पूजि कियौ हाथालगि[7]
मन वञ्छित फळ रुषमणी ॥१०८॥

आकरषण वसीकरण उनमादक
परठि[8] द्रविण सोखण सर पंच[9] ।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि
सुन्दरि द्वारि देहरा संच[10] ॥१०९॥

सेना की मूर्छा

मन पंगु थियौ सहु सेन मूरछित
तह नह रही संपेखतै ।
किरि नीपायौ[11] तदि निकुटी[12] ए
मठ पूतळी पाखाणमै ॥११०॥

शब्दार्थ —१—अश्व । २—की ओर । ३—समीप, पार्श्व । ४—भली भाँति देखकर, सम्प्रेक्ष्य । ५—पास की, पार्श्वत । ६—मस्तक, धुर । ७—हस्तगत किया । ८—स्थापित करके, ग्रहण करके । ९—कामदेव के प्रसिद्ध पाँच बाण । १०—स + चर—सचार किया, प्रवेश किया, देखा । ११—उत्पन्न किया, निष्पद्यते । १२—खोदी हुई, गढी हुई ।

कृष्ण द्वारा हरण

आयौ अस खेड़ि[1] अरि सेन अन्तरै[2]
प्रथिमी गति आकास पय ।
त्रिभुवन नाथ तणौ वेळा तिणि
रव संभळी कि दीठ रथ ॥१११॥

बळिबंध समरथि रथ ले वैसारी
स्यामा कर साहे[3] सु करि[4] ।
वाहर रे वाहर[5] कोइ छै वर
हरि हरिणाखी जाइ हरि ॥११२॥

वीरों का सन्नद्ध होना तथा कृष्ण को ललकार कर युद्ध करना

सम्भळत[6] धवळ[7] सर[8] साहुळि[9] सम्भळि[10]
आळूदा[11] ठाकुर अलल[12] ।
पिंड[13] वहुरूप कि भेख पालटे
केसरिया ठाहे[14] क्रिगल[15] ॥११३॥

लारोवरि[16] अस चित्राम कि लिखिया[17]
निहसरता[18] नरवरै[19] नर ।
माँखण चोरी न हुवै माहव
महियारी[20] न हुवै महर[21] ॥११४॥

ऊपड़ी रजी मक्षि अरक एहवौ
वातचक्र सिरि पत्र वसन्ति ।

शब्दार्थ —१—रथ चलाना। २—मध्य मे। ३—कर साधकर। ४—स्व कर मे। ५—आर्त्त की रक्षा। ६—सुनते हुए। ७—मागलिक। ८—स्वर, गीत। ९—पुकार। १०—सुनकर। ११—सजे वजे। १२—आला, सुन्दर। १३—शरीर। १४—स्थान पर। १५—कवच। १६—एक दूसरे के पीछे, पक्तिवद्ध। १७—चित्रलिखित। १८—निकलते हुए, दौडते हुए। १९—नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के। २०—ग्वालिन। २१—ग्वाल।

सद[1] नीहस[2] नीसाण न सुणिजै
वरहासाँ[3] नासाँ वाजन्ति ॥११५॥
अळगी[4] हो नेड़ी[5] की ऊखवते[6]
देठाळौ[7] हुवौ दलाँ दुँह ।
वागाँ[8] ढेरवियाँ[9] वाहरुए[10]
मारकुए[11] फेरिया मुँह ॥११६॥

युद्ध-वर्षा रूपक वर्णन

कठठी[12] बे[13] घटा करे काळाहणि[14]
समुहे आमहो सामुहै ।
जोगिणि आवी आडंग[15] जाणे
वरसै रत[16] बेपुडी[17] वहै[18] ॥११७॥
हथनालि हवाई कुहक बाण हुवि
होइ वीरहक[19] गैगहण[20] ।
सिलहाँ[21] ऊपरि लोह लोह सर
मेंह बूँद माहे[22] महण[23] ॥११८॥
कळकळिया[24] कुन्त[25] किरण कळि[26] ऊकळि[27]
वरजित विसिख विवरजित वाउ[28] ।

शब्दार्थ —१—शब्द। २—निर्घोष, नाद। ३—जिनका हास्य सुन्दर है ऐसे घोडे। ४—अलग होना। ५—निकट। ६—दौडाकर। ७—सामना। ८—लगाम। ९—स्थिर किया हुआ। १०—वाहर करने वाले, रक्षक दल। ११—प्रहार सहने वाले। १२—निकली। १३—दोनो। १४—(१) प्रलयकारी सैनिकदल (२) काले मेघ। १५—चिह्न। १६—रक्त। १७—दोहरी, दोनो ओर से। १८—चलती हुई। १९—वीरो की हुकार। २०—आकाश को गुंजा देने वाली। २१—कवच। २२—में। २३—महार्णव। २४—कलकल शब्द करने लगे। २५—भाले। २६—युद्ध में। २७—गर्म होकर खौलना। २८—वायु।

धड़ धड़ि[1] धवकि[2] धार धारूजळ[3]
सिहरि[4] सिहरि समखै[5] सिळाउ[6] ॥११९॥
कांपिया उर कायराँ असुभकारियो
गाजंते नीसाणे गड़ड़े ।
ऊजलियाँ धाराँ[7] ऊवड़ियों[8]
परनाळे जळ रुहिर पड़ै ॥१२०॥
चोटियाळी[9] कूदै चौसठि चाचरि[10]
ध्रू[11] ढळियै ऊकसै धड़ ।
अनँत[12] अनै सिसुपाल ओझड़ै[13]
झड़ मातौ[14] माँडियौ[15] झड़[16] ॥१२१॥
रिण अंगणि तेणि रुहिर रळतळिया[17]
घणा हाथ हूँ[18] पड़ै घणा ।
ऊँवा पत्र[19] वुदवुद जळ आकृति
तरि चालै जोगिणी तणा ॥१२२॥
वेली[20] तदि बळभद्र वापूकारे[21]
सत्र[22] सावतौ[23] अजे लगि साथ[24] ।
वूठै[25] वाहवियै[26] आ वेळा
हल जीपिस्यँ[27] जु वाहिस्यइ[28] हाथ ॥१२३॥

शब्दार्थ —१—शरीर शरीर पर। २—धवक कर चमकना। ३—तलवार। ४—शिखर शिखर पर। ५—चमकती है। ६—शलाका, बिजली। ७—(१) धारा (२) शस्त्रधारा। ८—उमडा हुआ। ९—पिशाचिनी। १०—युद्धस्थल मे। ११—सिर, धुर। १२—बलराम। १३—निरन्तर। १४—मोटा। १५—किया। १६—वर्षा की झडी। १७—प्रवाहित हो गया। १८—से। १९—पात्र (योगिनी का पात्र अर्थात् मुण्ड)। २०—सहायक। २१—'वापू' कह कहकर उत्तेजित किया। २२—शत्रु। २३—पूर्ण। २४—साहाय्य सेना। २५—वर्षा होने पर। २६—हल जोतना। २७—विजय करना। २८—चलाएँगे।

विसरियाँ विसर[1] जस बीज बीजिजै
खारी[2] हाळाहळाँ[3] खलाँह[4] ।
त्रूटै कन्ध मूळ जड़ त्रूटै
हळधर काँ वाहताँ[5] हळाँह ॥१२४॥

घटि घटि[6] घण घाउ घाइ घाइ रत[7] घण
ऊँच छिछ[8] ऊछळै अति ।
पिड़ि[9] नीपनौ[10] कि खेत्र प्रवाळी[11]
सिरा[12] हंस[13] नीसरै सति ॥१२५॥

बळदेव महाबळ तासु भुजाबळि
पिड़ि पहरन्तै[14] नवी परि[15] ।
बिजड़ाँ[16] मुहे[17] बेड़ते[18] बळभद्र
सिराँ[19] पुंज कीधा समरि ॥१२६॥

रिण गाहटतै[20] राम खळाँ[21] रिण
थिर निज चरण स मेढ़ि[22] थिया ।
फिरि चड़ियै[23] संघार फेरता[24]
केकाणाँ[25] पाइ सुगह[26] किया ॥१२७॥

कण[27] एक लिया किया एक कण कण
भर खञ्चे[28] भंजियौ[29] भिड़[30] ।

शब्दार्थ —१—विगत वेला को विस्मृत करके। २—कडवी। ३—हलाहल, विष के समान। ४—शत्रुओ को। ५—चलाते हुए। ६—प्रति शरीर में। ७—रक्त। ८—धारा, फव्वारा। ९—पिण्ड, तना। १०—उत्पन्न हुआ। ११—किसलय, मूंगा। १२—(१) सिरा (२) नाडी। १३—जीवात्मा। १४—नष्ट करते हुए। १५—प्रकार, भाँति। १६—(१)तलवार(२)हँसुआ। १७—धार से। १८—छिन्नभिन्न करना,भयाकुल करना। १९-(१)मुण्डो का(२)भुट्टो का। २०—नष्ट करते हुए। २१—खलिहान में। २२—मेड। २३—आक्रमण करके। २४—चारो ओर घुमा घुमा कर सहार करना। २५—घोडे। २६—भली भाँति मन्थन। २७—कई धान्य रूपी योद्धा। २८—धान्य के भार को गाडियो में खीचा। २९—भगा दिया। ३०—भिड जाना।

वळभद्र खळै[1] खलाँ सिरि वैठी
चारौं[2] पळ[3] ग्रीधणी चिड़ ॥१२८॥
सरिखाँ सँ वलभद्र लोह साहियै[4]
वड़फरि[5] ऊछजतै[6] विरुधि[7] ।
भलाभलो[8] सति[9] तोईज[10] भंजिया
जरासेन सिसुपाळ जुधि ॥१२९॥
आडो अड़ि[11] एकाएक आपड़े[12]
वाग्यो एम रुषमणी वीर[13] ।
अवळा लेइ घणी भुँइ आयौ
आयौ हूँ पग माँडि[14] अहीर ॥१३०॥
विळकुळियौ[15] वदन जेम[16] वाकार्यौ[17]
संग्रहि धनुख पुणच[18] सर सन्धि ।
क्रिसन रुकम आउध छेदण कजि
वेलखि[19] अणी[20] मूठि द्रिठि वन्धि ॥१३१॥
रुकमइयौ पेखि तपत आरणि रणि
पेखि रुषमणी जळ प्रसन[21] ।
तणु लोहार वाम कर निय[22] तणु
माहव किउ साँडसी मन ॥१३२॥
सगपण[23] ची सनस[24] रुषमणी सन्निधि
अण मारिवा तणै आलोजि ।
ए अखियात[25] जु आउधि आउध
सजै रुकम हरि छेदै सोजि[26] ॥१३३॥

शब्दार्थ.—१—खलिहान में। २—चारा। ३—माँस। ४—सहना। ५—ढाल को। ६—बचाव के लिए ऊपर उठाकर (उन्+सज्जत)। ७—विरोध में। ८—एक कहावत। ९—सत्य है। १०—तभी। ११—धावा देकर। १२—सामने आकर। १३—वीर, भाई। १४—ठहर। १५—तमतमा आना। १६—जैसे ही। १७—पुकारा, ललकारा। १८—प्रत्यचा। १९—वाण का फलक। २०—नोक। २१—प्रस्रवण, बहना। २२—निज। २३—सम्बन्ध। २४—सशय, सकोच। २५—आख्यात, आश्चर्यजनक बात। २६—वही।

इन ग्रथो के रहते तथा इनके प्रचार और प्रसार को देखते हुए डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन पूर्णतया युक्तियुक्त नही प्रतीत होता कि — "इसी समय तुलसीदास लोक-शिक्षा से सम्वन्ध रखने वाला राम का आदर्श जनता के सामने रख रहे थे। पृथ्वीराज प्रेम की मादकता का रसास्वादन कराने मे तत्पर थे। यही कारण है कि प्रेम के सामने भक्ति के निर्वेदपूर्ण आदर्श रखने में वे असमर्थ रहे थे। उनकी वीरता और रसिकता उन्हे माला लेने के लिये वाध्य नही कर सकी।"—आ० हि० सा० का इतिहास, पृ० २५७। इस प्रकार की उक्ति का एकमात्र कारण है केवल 'वेलि' पर ही ध्यान रखना। पृथ्वीराज के जीवन की अन्य घटनाएँ और 'वेलि' का शील सभी कुछ उनकी भक्ति का ज्वलन्त प्रमाण है। यह कहा जा सकता है कि वेलिकार का 'वेलि' में कवि रूप प्रधान है। फिर भी वह शील को छोडकर नही चला है। वह केवल प्रेम की मादकता का रसास्वादन कराने में ही तत्पर था यह हम स्वीकार करने में असमर्थ है। ऐसा कहना वेलिकार के समस्त जीवन को भुला देना है। हमारे विचार से वेलि भी उस परिस्थिति मे एक प्राणदायिनी रचना है जिसने शील और लाज से आवरित लौकिक शृगार की भूमि पर ही हमें भक्ति की तन्मयता तथा अपने व्यक्तित्व की रक्षा का वल प्रदान किया है। पृथ्वीराज को केवल शृगारिक मादकता का कवि कहना उनका उसी प्रकार तिरस्कार करना है जैसा मिश्रवन्धुओ ने उन्हें 'साधारण कोटि का कवि' कहकर किया है। उनकी डिगल की दोहे, सोरठे, छप्पय, गीत और साखरागीतो में विखरी हुई कविता उनके सजग व्यक्तित्व और जाति के नेतृत्व करने की शक्ति का प्रवल प्रमाण है। पिंगल के छन्दो में विखरी हुई सामग्री, रामकृष्ण तथा गगा की स्तुति, वैराग्य, नीति आदि की रचनाएँ, जो आज प्रकीर्णक रूप में है, उनकी भक्ति और निर्लेपता के स्वर को ऊँचा करती है। चम्पादे जैसी कवि-पत्नी पाकर भी यदि पृथ्वीराज शृगार की रचना में न फूट पडते तो और होता भी क्या। उन्होने शृगार की रचना की—यह कोई आपत्तिजनक वात नही हुई। क्योंकि उनकी रचना में विहारी की सी अफीमी मादकता नही है, खुलकर खिला हुआ विलास नही है। उनके शृंगार में विशुद्ध प्रेम की स्थापना है, और है उसके सहारे भक्ति की चेष्टा। उनकी रुक्मिणी का विलास

रुक्मी को निरायुध करके उसके केश उतारना

निराउध कियौ तदि सोनानामी
केस उतारि विरूप कियौ ।
छिणियै जीवि[1] जु जीव छण्डियौ
हरि हरिणाखी पेखि हियौ ॥१३४॥

बलराम द्वारा व्यंग तथा कृष्ण की प्रसन्नता

अनुज ए उचित अग्रज इम आखै
दुसट सासना[2] भली दइ ।
बहिनि जासु पासै बैसारी
भलौ काम किउ भला भइ ॥१३५॥

सुसमित[3] सुनमित निज वदन सुव्रीड़ित
पुंडरीकाख[4] थिया प्रसन ।
प्रथम अग्रज आदेस पाळिवा
मिरिगाखी राखिवा मन ॥१३६॥

कृत करण अकरण अन्नथा करणं
सगळे ही थोके[5] ससमत्त्थ[6] ।
हा[7] लिया जाइ[8] लगाया हूँता
हरि साळै सिरि थापे हत्त्थ ॥१३७॥

विजयोपरान्त बधाई देने वालों का उत्सुक होना तथा सभी का मोदमग्न हो कृष्ण का मार्ग देखना ।

परदळ पिण[9] जीपि[10] पदमणी परणे[11]
आणँद उभै[12] हुआ एकार[13] ।

शब्दार्थ —१—क्षण जीवी । २—दण्ड । ३—सुस्मित, मुदित । ४—पुण्डरीकाक्ष, कमलनेत्र कृष्ण । ५—सभी बातों में । ६—सामर्थ्यवाले । ७—ये । ८—जिससे । ९—भी । १०—जीतकर । ११—परिणय । १२—दोनो (विवाह तथा विजय) का आनन्द । १३—एक वार ही ।

वहतै कटकि माहि वादोवदि
वाधण[1] लागा व इहार ॥१३८॥
ग्रिह काज भूलिग्या गृहि गृहि गृहगति[2]
पूछीजै चिन्ता पड़ी ।
मन अरपण कीधै हरि मारग
चाहै प्रज ओटै चढ़ी ॥१३९॥
देखतॉ पथिक उतामळा दीठा
झॉखाणा[3] उरि उठी झळ[4] ।
नीळ डाळ करि[5] देखि नीळाणा[6]
कुससथळी[7] वासी कमळ ॥१४०॥

उत्सव तथा द्वारिका वर्णन एवं स्वागत

सुणि आगम नगर सहू साऊजम[8]
रुषमिणि कुसन वधावण रेसि[9] ।
लहरिउँ लियै जाणि लहरीरव[10]
राकादिन[11] दरसण राकेसि ॥१४१॥
वधाउआँ[12] गृहे गृहे पुरवासी
दळिद्र तणौ दीधौ दळिद्र ।
ऊछव हुआ अखित[13] ऊछळिया
हरी द्रोब[14] केसर हळिद्र ॥१४२॥
नर मारगि एक एक मगि नारी
ऊमिया[15] अति ऊछाह करेउ ।

शब्दार्थ —१—वढना। २—नक्षत्र विचार। ३—कुम्हला गए। ४—चिन्ता ज्वाला। ५—हाथ में। ६—हरे हो गए, प्रसन्न हुए। ७—द्वारिका। ८—उद्यम सहित। ९—के लिए। १०—समुद्र। ११—पूर्णिमा। १२—वधाई वालों को। १३—अक्षत। १४—दूब, दूर्वा। १५—चलतेहुए।

अंकमाळ हरि नयर आपिवा[1]
बाहाँ तिकरि[2] पसारी बेउ[3] ॥१४३॥
वीजळि दुति दँड[4] मोतिए वरिखा
झालरिए लागा झड़ण ।
छत्रे[5] अकास एम औछायौ[6]
घण आयौ किरि वरण घण ॥१४४॥
मुकरमै प्रोळि[7] प्रोळिमै मारग
मारग सुरँग अबीरमई ।
पुरि हरि सेन एम पैसार्‌यौ
नीरोवरि[8] प्रवसन्ति नई[9] ॥१४५॥
धवळहरे[10] धवळ दियै[11] जस[12] धवळित[13]
धण[14] नागर देखे सधण[15] ।
सकुसळ सबळ[16] सदळ सिरि सामळ[17]
पुहप बूँद लागी पड़ण ॥१४६॥
जीपे सिसुपाळ जरासिंधु जीपे
आयौ गृहि आरती उतारि ।
देखे मुख वसुदेव देवकी
वार वार वारै[18] पै वारि[19] ॥१४७॥
विधि सहित वधावे वाजित्र[20] वावे[21]
भिन भिन अभिन बाणि[22] मुख भाखि ।

शब्दार्थ —१–अर्पण करने या लगाने के लिए। २–तुम्हारे लिए। ३–दोनो। ४–मण्डप स्तम्भ। ५–मण्डप। ६–छाया हुआ। ७–द्वार। ८–समुद्र में। ९–नदी। १०–धवल प्रासाद। ११–मागलिक गीत से। १२–यश। १३–धवलीकृत। १४–स्त्री। १५–सपत्नीक। १६–बलराम सहित। १७–श्यामल कान्तिवाले श्रीकृष्ण। १८–बलिहारी जाना, वारना। १९–पानी वारकर, सेवन करके। २०–वाद्ययन्त्र। २१–बजते हैं। २२–एक स्वर।

करै भगति राजान क्रिसन ची
राजरमणि रुषमिणि गृह राखि ॥१४८॥

ज्योतिषी से विवाह का मुहूर्त्त शोधन कराना

दैवग्य तेड़ि[1] वसुदेव देवकी
पहिलौ ई पूछै प्रसन ।
दियौ[2] लगन जोतिख ग्रँथ देखे
कइ[3] परणै रुषमणी क्रिसन ॥१४९॥
वेदोगत धरम विचारि वेदविद
कम्पित चित लागा कहण ।
हेकणि[4] सुत्री[5] सरिस[6] किम होवै
पुनह पुनह पाणिगहण ॥१५०॥
निरखे तलकाळ त्रिकाळ निदरसी
करि निरणै लागा कहण ।
सगळे दोख विवरजित साहौ
हूँतौ जई हूऔ हरण ॥१५१॥
वसुदेव देवकी सूँ ब्राह्मणे
कही परसपर एम कहि ।
हुए हरण हथलेवौ[7] हूऔ
सेस संसकार हुवइ सहि ॥१५२॥

विवाह-संस्कार वर्णन

विप्र मूरति वेद रतनमै वेदी
वंस[8] आद्र[9] अरजुनमै[10] वेह[11] ।

शब्दार्थ —१—बुलाकर । २—दो, बताओ । ३—कब । ४—एक । ५—स्त्री । ६—के साथ । ७—पाणिगहण । ८—बाँस । ९—आर्द्र, गीला, हरा । १०—वृक्ष का नाम, उज्वल । ११—मगल कलश ।

अरणी अगनि अगरमै इन्धण
आहुति घृत घणसार अछेह[1] ॥१५३॥
पच्छिम दिसि पूठ पूरब मुख परठित[2]
परठित ऊपरि आतपत्र[3] ।
मधुपर्कादि सँसकार मण्डित
त्री वर बे बेसाणि तत्र ॥१५४॥
आरोपित ऑखि सहू हरि आननि
गरभ उदधि ससि मछे[4] गृहीत ।
चाहे[5] मुख अंगणि[6] ओटे चढि
गावै मुखि मंगळ करि गीत ॥१५५॥
आगळै प्रिया प्री[7] चौथे[8] ऑरभि
फेरा त्रिण्हि इण भॉति फिरि ।
कर सांगुष्ट ग्रहण कर सूँ करि
करी[9] कमळ चम्पियौ[10] किरि ॥१५६॥
पधरावि त्रिया वामै प्रभणावे[11]
वाच परसपर यथाविधि ।
लाधी वेळा[12] माँगी लाधी[13]
निगम पाठके[14] नवे निधि[15] ॥१५७॥

शयन--गृह का वर्णन

दूलह हुइ आगै पाछै दुलहणि
दीन्हा क्रम[16] सूणहर[17] दिसि ।

शब्दार्थ --१--अविरत। २--सुशोभित, प्रस्थापित, प्रतिष्ठित। ३--छत्र। ४--मछली द्वारा। ५--देखने को, चावपूर्वक। ६--स्त्रियाँ। ७--प्रियपति-। ८--चौथा फेरा। ९--हाथो। १०--दबाया है। ११--कहलाते हैं। १२--उपलब्ध वेला। १३--मुँह माँगा पाया। १४--वेदपाठी ब्राह्मणो ने। १५--नवो निधियाँ पाईं। १६--चले। १७--शयनगृह।

छँड़ि चौरी[१] हथलेवै छूटै
मन बन्धे अँचला मिसि ॥१५८॥
आगै[२] जाइ आलि केलि गृह अन्तरि
करि अंगण मारजण करेण[३] ।
सेज वियाज[४] खीर सागर सजि
फूल वियाज सजे तसु फेण ॥१५९॥
आभा चित्र रचित तेणि रँगि अनि अनि
मणि दीपक करि सूध मणि[५] ।
माँडि[६] रहे चन्द्रवा[७] तणै मिसि
फण सहसेई सहस फणि ॥१६०॥
मन्दिरन्तरि[८] किया खिणन्तरि मिळिवा[९]
विचित्रे[१०] सखिए समावृत ।
कीधै[११] तिणि वीवाह संस्कित[१२]
करण सु तणु रति संसकृत ॥१६१॥

सन्ध्या वर्णन तथा आतुरता प्रदर्शन

संकुड़ित[१३] समसमा[१४] सन्ध्या समयै
रति वञ्छिति रुषमणि रमणि ।
पथिक वधू द्रिठि पख पखियाँ
कमळ पत्र सूरिज किरणि ॥१६२॥
पति अति आतुर त्रिया मुख पेखण
निसा तणौ मुख[१५] दीठ निठ[१६] ।

शब्दार्थ —१-विवाह मण्डप। २-पूर्व से ही। ३-हाथ से। ४-व्याज, बहाना। ५-नीलमणि, श्रेष्ठ धवल प्रासाद। ६-चित्रित। ७-चँदोवा, चन्द्रिका (मोर पंख की)। ८-पृथक् पृथक् महलों में। ९-मिलने के लिए। १०-चतुर। ११-करने पर। १२-संस्कार। १३-सिकुड़ा, संकुचित। १४-समान अवस्था। १५-निसातणौ मुख—गोधूलि वेला या रात्रि का मुख। १६-कठिनाई से।

चन्द्र किरणि कुलटा सु निसाचर
द्रवडित[1] अभिसारिका द्रिठ ॥१६३॥
अनि पँखि बन्धे चक्रवाक असन्धे[2]
निसि सन्धे इमि अहोनिसि ।
कामिणि कामि तणी कामागनि
मन लाया दीपकाँ[3] मिसि ॥१६४॥
ऊभी[4] सहु सखिए प्रसंसिता अति
क्रितारथी[5] प्री मिळण कृत ।
अटत[6] सेज द्वार विचि आहुटि[7]
स्रुति दे हरि घरि समाश्रित[8] ॥१६५॥

रुक्मिणी का आगमन, लज्जा प्रदर्शन

हँसागति[9] तणौ आतुर थ्या हरि सूँ
वाधाऊआ जेही[10] वहे ।
सूँधावास[11] अनै नेउर[12] सद[13]
क्रमि आगै आगमन कहे ॥१६६॥
अवलम्बि सखी कर पगि पगि ऊभी
रहती मद वहती रमणि ।
लाज लोह लंगरे लगाए
गय[14] जिमि आणी गयगमणि ॥१६७॥

कृष्ण द्वारा आदर प्रदर्शन

देहली धसति हरि जेहड़ि दीठी
आणँद को ऊपनौ अमाय ।

शब्दार्थ —१–दौड़ना। २–अलग हो गए। ३–लाया दीपकाँ—जले हुए दीपको। ४–खडी। ५–लिए। ६–घूमते हैं। ७–आहट। ८–स्थित। ९–हसगति वाली रुक्मिणी। १०–जैसी। ११–सुगन्धित द्रव्यो की सुगन्धि। १२–नूपुर। १३–शब्द। १४–गज, हाथी।

तिण आपही करायौ आदर
ऊभा करि रोमां सँ आप ॥१६८॥
वहि मिळी घड़ी जाइ घणा वाँछता
घण दीहाँ[1] अन्तरै घरि[2] ।
अंकमाळ आपे[3] हरि आपणि
पधरावी त्री सेज परि ॥१६९॥
अति प्ररित[4] रूप आँखियाँ अत्रिपत
माहव जद्यपि त्रिपत मन ।
वार वार तिम करै विलोकन
धण सुख जेही रंक धन ॥१७०॥
आजाति[5] जाति[6] पट घूँघट अन्तरि
मेळण एक करण अमिळी ।
मन दम्पती कटाछि[7] दूति मै
निय मन[8] सूत्र कटाछि नळी[9] ॥१७१॥
वर नारि नेत्र निज वदन विलासा[10]
जाणियौ अँतहकरण जई[11] ।
हसि हसि भ्रूहे हेक हेक हुइ[12]
गृह बाहरि सहचरी गई ॥१७२॥
एकन्त उचित क्रीड़ा चौ आरंभ
दीठौ सु न किहि देव दुजि ।
अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै
सुख ते जाणणहार सुजि[13] ॥१७३॥

शब्दार्थ —१–दिनो के। २–घर में ही। ३–गोद में लेकर। ४–चलायमान। ५–आते। ६–जाते। ७–कटाक्ष। ८–कपड़े के तन्तुओ को क्रमवद्ध करने वाली। ९–नरी। १०–भाव-भगिमा। ११–जिस समय। १२–एक एक करके। १३–वही।

पति पवन प्रारथित[१] त्री तत्र निपतित
सुरत अन्त केहवी[२] श्री[३] ।
गजेन्द्र क्रीडता सु विगलित[४] गति
नीरासइ परि कमलिनी ॥१७४॥

कीधै मधि माणिक हीरा कुन्दण
मिळिया कारीगर मयण[५] ।
स्यामा तणै लिलाट सोहिया
कुंकुम विन्दु प्रसेद कण ॥१७५॥

त्री वदन पीतता चित व्याकुलता
हियै ध्रगध्रगी[६] खेद हुह ।
धरि चख लाज पगे नेउर धुनि
करे निवारण[७] कंठ कुह[८] ॥१७६॥

तिणि तालि[९] सखी गळि स्यामा तेही
मिळी भमर भारा जु महि ।
वळि ऊभी थई घणा घाति वळ[१०]
लता केळि[११] अवलंब लहि ॥१७७॥

पुनरपि पधरावी कन्है[१२] प्राणपति
सहित लाज भय प्रीति सा ।
मुगत केस त्रूटी[१३] मुगतावलि
कस[१४] छूटी छुद्र घंटिका[१५] ॥१७८॥

सुख लाधै केलि स्याम स्यामा सँगि
सखिए मनरखिए सँघट[१६] ।

शब्दार्थ —१–प्रार्थना की जाती हुई। २–कैसी। ३–शोभा। ४–शिथिल। ५–कामदेव। ६–धगधगी। ७–स्थगित करना। ८–कोकिल के सदृश मधुर स्वर। ९–समय में। १०–बहुत टेढी होकर। ११–(१) कदली, (२) स्त्री। १२–निकट। १३–टूट गई। १४–आकर्षण। १५–करधनी। १६–समूह।

चौकि[1] चौकि ऊपरि चित्रसाळी
हुइ रहियौ कहकहाहट ॥१७९॥
राता[2] तत[3] चिन्तारत चिन्तारत
गिरि कन्दरि घरि बिन्हेगण[4] ।
निद्रावस जग एहु महानिसि[5]
जामिए[6] कामिए[7] जागरण ॥१८०॥
लिखमीवर[8] हरख निगरभर[9] लागो
आयु रयणि[10] त्रूटन्ति[11] इम ।
क्रीड़ाप्रिय पोकार[12] किरीटी[13]
जीवितप्रिय घडियाल जिम ॥१८१॥

(प्रभात वर्णन)

गत प्रभा थियौ ससि रयणि गळन्ति[14]
वर मन्दा सइ[15] वदन वरि[16] ।
दीपक परजळतौ इ न दीपै
नासफरिम[17] सू रतनि नरि[18] ॥१८२॥
मेली तदि साध सुरमण कोक मनि
रमण कोक मनि साध्र[19] रही ।
फूले छंडी वास प्रफूले
ग्रहणे[20] सीतळता इ ग्रही ॥१८३॥
धुनि उठी अनाहत संख भेरि धुनि
अरुणोदय थियौ जोग अभ्यास ।

शब्दार्थ —१–आँगन। २–अनुरक्त। ३–ब्रह्म, तत्त्व। ४–दोनो प्रकार के समूह अर्थात् पुरुषवर्ग। ५–(अ) अर्धरात्रि, (ब) कल्प के अन्त में होने वाली प्रलयरात्रि। ६–सयमी पुरुष। ७–कामी पुरुष। ८–भगवान् श्रीकृष्ण। ९–हरख–निगरभर—हर्षोल्लासपूर्ण। १०–रात्रि। ११–समाप्त होती हुई। १२–बोली। १३–मुर्गा १४–नष्ट होते हुए। १५–सती, साध्वी। १६–पत्नी। १७–नाश हो गया है। १८–सू–रतनि–नरि—नरश्रेष्ठ। १९–कामना। २०–गहना।

विद्यापति की राधा का भोग नही है जिसका पठन-पाठन श्रोता और वक्ता दोनो को सकुचित कर देता हो। फिर उन पर प्रेम की मादकता का आस्वाद कराने का आरोप व्यर्थ ही है। श्रीयुत मेनारिया का विचार इस सम्बन्ध मे पूर्णतया सगत प्रतीत होता है कि —इनकी ये स्फुट रचनाएँ अपने युग की अनुभूति को प्रत्यक्ष करती है और इनमें अकबर के आतक के नीचे कराहती हुई हिन्दू जनता की दर्द भरी पुकार साफ सुनाई पडती है। इनमे असाधारण बल, प्रचण्ड प्रवाह एव अद्भुत तेज है और एक खास प्रकार का व्यग्य भी है जो चोट करने के साथ साथ ही सावधान भी करता है।—रा० भाषा और सा०, पृ० १३०।

वेलिकार की पूर्वकालीन तथा समसामयिक स्थिति

वेलिकार का जन्म राजपूत राजवश में तथा वर्द्धन राजनीति तथा धर्म की भूमि पर हुआ था। राजपूत कुल से उन्होने ओज और बल की जीवनी-शक्ति प्राप्त की थी और राजनीति तथा धर्म ने उन्हें जीवन-मार्ग दिखाया था। बल-वीर्य के सहारे वे अपने सम्मान तथा राजपूती आन-बान की रक्षा मे तत्पर थे और ओजस्वी वाणी से निर्भीकता पूर्वक स्वदेश-प्रियता की तान सुनाकर राणा प्रताप जैसे वीरो को उनकी शिथिलता और भुलावे के समय, साहस और शौर्य के साथ सम्मान रखते हुए मर मिटने की प्रेरणा दे रहे थे। धर्म की भूमि पर पैर रखकर प्रभु की कृपा तथा करुणा की अनुभूति से उनकी वाणी सरस और मधुमय हो गई थी। वेलि में उनके इन दोनो रूपो का मधुर मिश्रण दृष्टिगोचर होता है।

धार्मिक परिस्थिति

व्यक्तिगत विशेषताओ के अतिरिक्त वेलिकार को एक दीर्घकालीन परम्परा के रूप में धर्म तथा साहित्य से बहुत प्रेरणा मिली थी। उनके विचार की पृष्ठभूमि मे भारतीय सस्कृति और चेतना का स्वर गूजता सुनाई देता है। उनके पूर्व ही पदाक्रान्त हिन्दू जाति के बीच धर्म का सदुपदेश आशा और

माया पटल निसामे[1] मंजे[2]
प्राणायामे ज्योति प्रकास ॥१८४॥
संयोगिणि चोर रई कैरव श्री
घर हट ताळ भमर गोघोख ।
दिणयर ऊगि एतला[3] दीधा
मोखियाँ बंध बंधियाँ मोख ॥१८५॥
वाणिजाँ वधू गो वाछ असइ[4] विट[5]
चोर चकव विप्र तीरथ वेळ[6] ।
सूर प्रगटि एतला समपिया[7]
मिळियाँ विरह विरहियाँ मेळ ॥१८६॥

ऋतु-वर्णन (ग्रीष्म)

नदि दीह[8] वधे सर नीर घटे निसि
गाढ़[9] धरा द्रव[10] हेमगिरि ।
सुतरु छाँह तदि दीध जगत सिरि
सूर राह किय जगत सिरि ॥१८७॥
आकुळ थ्या लोक केहवो अचिरज
वछित छाया ए विहित[11] ।
सरण हेम दिसि लीधो सूरिज
सूरिज ही व्रिख[12] आसरित ॥१८८॥
श्रीखंड[13] पंक कुमकुमो सलिल सरि
दळि[14] मुगता आहरण[15] दुति ।
जळ क्रीड़ा क्रीड़न्ति जगतपति
जेठ मासि एही जुगति ॥१८९॥

शब्दार्थ —१–रात्रि रूपी। २–हटा देता है। ३–इतनो को। ४–कुलटा स्त्री। ५–लम्पट। ६–तरगे। ७–दिया। ८–वडा। ९–घनत्व, ठोसपना। १०–वहाव। ११–यथावत्। १२– (१) वृक्ष, (२) वृपराशि। १३–चन्दन। १४–शरीर पर। १५–आभूषण।

मिळि माह[1] तणी माहुटि सूँ मसि व्रन
तपि आसाढ तणौ तपन[2] ।
जन नू जिन पणि[3] अधिक जाणियौ
मध्यरात्रि प्रति मध्याह्न ॥१९०॥
नैरन्ति[4] प्रसरि[5] निरधण[6] गिरि नीझर
धणी[7] भजै धण[8] पयोधर ।
झोळे[9] वाइ किया तरु झंखर
लवळी[10] दहन कि लू लहर ॥१९१॥
कसतूरी गारि[11] कपूर ईंट करि
नवै विहाणै[12] नवी परि[13] ।
कुसुम कमळ दळ माळ अलंक्रित
हरि क्रीड़ै तिणि धवळहरि ॥१९२॥
ऊपड़ी[14] धुड़ी[15] रवि लागी अम्बरि
खेतिए[16] ऊजम भरिया खाद्र[17] ।
मृगशिर वाजि किया किंकर[18] मृग
आद्रा वरसि कीध धर आर्द्र ॥१९३॥

(वर्षा)

वग रिखि राजान सु पावसि बैठा
सुर सूता थिउ[19] मोर सर ।
चातक रटै बलाहकि[20] चंचळ
हरि सिणगारै अम्बहर ॥१९४॥

शब्दार्थ —१—माघ मास । २—सूर्य । ३—श्रीजनपणि—निर्जनता । ४—दक्षिण पश्चिम के बीच की दिशा । ५—चलकर । ६—स्त्री रहित । ७—स्वामी । ८—पत्नी । ९—पाला अथवा लू । १०—एक लता विशेष । ११—गारा । १२—विधि । १३—भाँति । १४—रेत उडना । १५—रेत । १६—किसान । १७—गड्ढे । १८—घबराए हुए । १९—हुआ । २०—बादल ।

काळी करि काँठळि ऊजळ कोरण
धारे श्रावण धरहरिया[१] ।
गळि[२] चालिया दिसो दिसि जळग्रभ
थंभि न विरहिण नयण थिया ॥१९५॥
वरसतै दड़ड़ नड़[३] अनड़[४] वाजिया
सघण गाजियौ गुहिर[५] सदि ।
जळनिधि ही सामाइ नही जळ
जळबाळा[६] न समाइ जळदि ॥१९६॥
निहसे[७] वूठौ[८] घण विणु नीलाणी[९]
वसुधा थळि थळि जळ वसइ ।
प्रथम समागम वसत्र पदमणी
लीधे किरि ग्रहणा लसइ[१०] ॥१९७॥
तरु लता पल्लवित तृणे अंकुरित
नीळाणी नीळम्बर न्याइ ।
प्रथमी नदिमै हार पहरिया
पहिरे दादुर नूपुर पाइ ॥१९८॥
काजळ गिरि धार रेख काजळ करि
कटि मेखला पयोधि कटि ।
मामोलौ[११] बिन्दुलौ कुँकूँमं
पृथिमी दीध निलाट पटि[१२] ॥१९९॥
मिळियै तट ऊपटि[१३] बिथुरी[१४] मिळिया
घण धर धाराधर घणी ।

शब्दार्थ —१–घर घर करके गाजना । २–गल कर गिरने लगे । ३–नाले । ४–पर्वत । ५–गभीर । ६–विद्युत् । ७–निर्घोष । ८–वर्षा की । ९–हरियाली । १०–शोभा देती है । ११–वीरवधूटी । १२–निलाट-पटि—ललाट का चौडा स्थान । १३–उमड कर । १४–बिखराना ।

केस जमण गंग कुसुम करम्बित[१]
वेणी[२] किरि त्रिवेणी वणी[३] ॥२००॥
धर श्यामा सरिस स्यामतर जळधर
घेघूंचे[४] गळि बाहां घाति[५]।
भ्रमि तिणि सन्ध्या वंदन भूला
रिखिय[६] न लखे सकै दिन राति ॥२०१॥
रूठा पै लागि मनावि करे रस[७]
लाधी देह तणौ गिणि लाभ।
दम्पतिए आलिगन दीधा
आलिगन देखे धर आभ[८] ॥२०२॥
जळजाळ[९] श्रवति[१०] जळ काजळ ऊजळ
पीळा हेक राता पहल[११]।
आधोफरै[१२] मेघ ऊधसता[१३]
महाराज राजै महल ॥२०३॥
करि ईंट नीळमणि कादो[१४] कुंदण
थम्भ लाल पट[१५] पॉचि[१६] थिर।
मँदिरे गौख सु पदमरागमै
सिखरि सिखि[१७] रमै मन्दिर सिर ॥२०४॥
धरिया तनि वसत्र कुमकुमै धोया
सौंधा[१८] प्रखोलित[१९] महल सुख।
भर श्रावणि भाद्रवि भोगविजै[२०]
रुषमिणि वर एहवी रुख ॥२०५॥

शब्दार्थ —१–गुथी हुई, मिश्रित। २–(१) त्रिवेणी (२) स्त्रियो की चोटी। ३–शोभित है। ४–आलिङ्गित हो गए। ५–डाल कर। ६–नृपि लोग। ७–प्रेम। ८–आकाश। ९–बादल। १०–गिरता है। ११–पार्श्व। १२–आवो-फरै—छज्जो पर। १३–रगड खा कर ऊपर चलते हुए। १४–गारा। १५–पटडे। १६–पाँच रत्न। १७–मोर। १८–सुगन्धित द्रव्य। १९–छिडके हुए। २०–भोगा जाता है।

(शरद)

वरिखा रितु गई सरद रितु वळती[१]
वाखाणि सु वयणा वयणि[२] ।
नीखर[३] धर जळ रहिउ निवाणे
निधुवनि[४] लज्जा त्री नयणि ॥२०६॥

पीळाणी[५] धरा ऊखधी[६] पाकी
सरदि कालि एहवी सिरी ।
कोकिल निसुर[७] प्रसेद ओसकण
सुरति अंति मुख जिम सुत्री[८] ॥२०७॥

वितए आसोज मिळे नभि वादळ
पृथी पङ्क जळि गुडळपण[९] ।
जिम सतगरु कळि कलुख[१०] तणा जण
दीपति[११] ग्यान प्रगटे दहण[१२] ॥२०८॥

गो खीर श्रवति रस धरा उदगिरति[१३]
सर पोइणिए[१४] थई सुश्री ।
वळी सरद अगलोग[१५] वासिए
पितरे ही मृत लोक प्री ॥२०९॥

बोलन्ति मुहुरमुह[१६] विरह गमै वे[१७]
तिसी सुकळ निसि सरद तणी ।
हँसणी ते न पासै[१८] देखै हँस
हस न देखै हंसणी ॥२१०॥

शब्दार्थ —१–लौट कर आते ही। २–वयणा–वयणि—अनेक प्रकार के वचनो द्वारा। ३–स्वच्छ। ४–सभोगकाल मे। ५–पीली हो गई। ६–वनस्पति। ७–शब्दरहित। ८–सुन्दर स्त्री। ९–गदलापन। १०–पाप। ११–प्रकाश। १२–अग्नि। १३–निकालती है। १४–पद्मिनी। १५–स्वर्गलोक। १६–वारम्वार। १७–दोनो। १८–पास मे।

ऊजळे अदरसणि निसि उजुयाळी
घणूं किसूं वाखाण घणै ।
सोळह कळा समाइ गयौ ससि
ऊजासहिं आप आपणै ॥२११॥
तुलि[2] बैठौ तरणि[3] तेज तम तुलिया[4]
भूप कणय[5] तुलता भू भाति[6] ।
दिणि दिणि तिणि लघुता प्रामैं[7] दिन
राति राति तिणि गौरव[8] राति ॥२१२॥
दीधा[9] मणि मँदिरे कातिग दीपक
सुत्री समाणियाँ[10] माहि सुख ।
भीतर थका[11] बाहिर इस भासैं[12]
मनि लाजतो सुहाग मुख ॥२१३॥
छवि नवी नवी नव नवा महोछव
मंडियै[13] जिणि आणंद मइ ।
कातिग घरि घरि द्वारि कुमारी
थिर चीत्रंति[14] चित्राम थई[15] ॥२१४॥
सेवन्ति नवै प्रति नवा[16] सवे सुख
जग द्वां मिसि वासी जगति ।
रुपमिणि रमण तणा जु सरद रितु
भुगति[17] रासि[18] निसि दिन भगति ॥२१५॥

शब्दार्थ —१–प्रकाश। २–तुला राशि पर। ३–सूर्य। ४–बराबर हुए। ५–सोना। ६–शोभा देते हैं। ७–प्राप्त करते हैं। ८–वृद्धि। ९–जलाये गए। १०–समवयस्का सखियों में। ११–रहते हुए। १२–प्रकाशित होते हैं। १३–मनाये जाते हैं। १४–थिर-चीत्रंति—स्थिर चित्त होकर चित्रित कर रही हैं। १५–चित्राम-थई—स्वयं चित्र बनी हुई। १६–नवै प्रति नवा—नये से नये। १७–विषयोपभोग करना। १८–रासक्रीड़ा।

एहिज परि थई भीरि[1] कजि[2] आयाँ
धनंजय अनं सुयोधन ।
मासे नगसिर भलउ जु मिळियौ
जागिया मींट[3] जनारजन[4] ॥२१६॥

फिरियौ[5] पछि वाउ ऊतर फरहरियौ[6]
सहुए[7] सूहव[8] उर सरग ।
भुयँग धनी प्रथमी पुड़[9] भेदे
विवरे[10] पैठा बे वरग ॥२१७॥

हुवइ घटि नदी हेम हेमाळै
विमल शृंग लागा वधण[11] ।
जोवनागमि कटि कुस थायै[12] जिम
थायै थूळ[13] नितम्ब थण[14] ॥२१८॥

भजन्ति[15] सुगृह हेमन्ति सीत भै
मिलि निसि तु न कोई वहै[16] मगि ।
कोई कोमळ वसत्रे कोइ कम्बळि
जण भारियौ रहन्ति जगि ॥२१९॥

दिन जेही रिणी रिणाई[17] दरसणि
क्रमि क्रमि लागा संकुडिणि[18] ।
नीठि[19] छुडै आकास पोस निसि
प्रौढ़ा करषणि[20] पंगुरिणि[21] ॥२२०॥

शब्दार्थ —१—कष्ट पडना। २—कार्य से। ३—नीद की झपकी। ४—विष्णु, कृष्ण। ५—वदला। ६—वेग से चला। ७—सभी। ८—सधवा स्त्री। ९—तह। १०—गुफा। ११—वढने। १२—हुई, हुए। १३—मोटा। १४—वक्ष, कुच। १५—रहते है। १६—चलते है। १७—ऋणदाता। १८—सिकुडना। १९—कठिनाई से। २०—खीचना। २१—वस्त्र।

उलझाया तन मन आप आपमै
विहत सीत रुखुमिणी वरि[1] ।
वाणि अरथ जिम सकति सकतिवँत
पुहप गध गुण गुणी परि[2] ॥२२१॥

मकरध्वज[3] वाहणि चढयौ अहिमकर[4]
उत्तर वाउ वाए[5] अउर ।
कमळ वाळि[6] विरहिणीवदन्न किय
अम्ब[7] पाळि संजोगि उर ॥२२२॥

पारथिया[8] कृपण वयण दिसि पवणै
विण[9] अम्बह[10] बाळिया वण ।
लागै माघि लोक प्रति लागौ
जळ दाहक सीतळ जळण ॥२२३॥

निय[11] नाम सीत जाळै वण नीला[12]
जाळै नळणी थकी[13] जळि ।
पातिग तिण द्वारिका न पैसै[14]
मँजियै[15] विणु मन तणै मळि[16] ॥२२४॥

प्रतिहार प्रताप[17] करे सी[18] पाले[19]
दम्पति ऊपरि दसै दिसि ।
अरक अगनि मिसि धूप आरती
निय तणु वारै अहोनिसि[20] ॥२२५॥

शब्दार्थ —१–पति। २–रीति से। ३–कामदेव। ४–सूर्य। ५–चलकर। ६–प्रज्वलित करना। ७–आम का पेड। ८–याचित। ९–विना। १०–आमवृक्ष के। ११–अपना। १२–हरे। १३–स्थित। १४–प्रवेश करता है। १५–धोना। १६–पाप। १७–(१) तेज धूप। (२) पराक्रम, पौरुप। १८–शीत। १९–वरजता। २०–रात-दिन।

शिशिर

रवि बैठौ कळसि[1] थियौ पालट रितु
ठरे जु डहकियौ[2] हेम ठंठ ।
ऊडण[3] पंख समारि रहे अलि
कंठ समारि रहे कळकंठ ॥२२६॥

वीणा डफ महुयरि वंस[4] वजाए
रोरी[5] करि मुख पंचम राग ।
तरुणी तरुण विरहि जण दुतरणि[6]
फागुण घरि घरि खेलै फाग ॥२२७॥

अजहुँ तरु पुहप न पल्लव अंकुर
थोड़ डाळ गादरित[7] थिया ।
जिम सिणगार अकीधै[8] सोहति
प्री आगमि जाणियै प्रिया ॥२२८॥

वसन्त

दस मास समापित गरभ दीध रित
मन व्याकुल मधुकर भुणणन्ति[9] ।
कठिण वेयणि कोकिल मिसि कूजति
वनसपती प्रसवती[10] वसन्ति ॥२२९॥

पकवाने पाने फले सुपुहपे
सुरँगे वसत्रे दरब स्रब ।
पूजियै कसटि भँगि[11] वनसपती
प्रसूतिका होळिका प्रब[12] ॥२३०॥

शब्दार्थ –१–कुभ राशि पर। २–पुनर्जीवित हो जाना। ३–उडने के लिए। ४–वीणा-डफ-महुयिर-वस––वाद्यो के नाम। ५–रोली। ६–दु खदायी। ७–स्थूल हो जाना। ८–नही किये हुए। ९–गुंजार करते हुए। १०–पैदा करती है। ११–कसिट-भगि––प्रसव वेदना दूर होने पर। १२–पर्व।

ळागी दलि[1] कळि मळयानिळ ळागै
त्रिगुण परसतै षुधा त्रिस[2] ।
रटति पूत मिसि मधुप रूँखराइ[3]
मात श्रवति मधु दूध मिसि ॥२३१॥

वनि नयरि घराघरि[4] तरि तरि सरवरि
पुरुख नारि नासिका पथि ।
वसन्त जनमियौ देण वधाई
रमै[5] वास[6] चढि पवन रथि ॥२३२॥

अति अम्ब मौर तोरण[7] अजु[8] अम्बुज
कळी सु मंगळ कळस करि ।
वन्नरवाळ[9] वँधाणी वल्ली[10]
तरुवर एका वियै[11] तरि ॥२३३॥

फुट[12] वानरेण[13] कच्च[14] नालिकेर[15] फळ
मज्जा[16] तिकरि दधि मँगळिक ।
कुंकुम अखित पराग किंजळक
प्रमुदित अति गायन्ति पिक ॥२३४॥

आयौ इळि[17] वसँत वधावण आई
पोइणि[18] पत्र जळ एणि परि ।
आणंद वणे काचमै[19] अंगणि
भामिणि[20] मोतिए थाल भरि ॥२३५॥

शब्दार्थ —१—शरीर पर। २—प्यास। ३—वृक्षो की पक्ति। ४—घर घर में। ५—रमण करता है। ६—सौरभ। ७—वन्दनवार। ८—और जो। ९—वन्दनवार। १०—लता। ११—दूसरे। १२—फोडा हुआ। १३—बन्दर द्वारा। १४—कच्चा। १५—नारियल। १६—गूदा। १७—पृथ्वी पर। १८—पद्मिनी। १९—काचमै-वणे—काँच के बने हुए। २०—सुसज्जिता स्त्री।

साहस का सचार कर चुका था। दक्षिण से होती हुई धर्म की यह चेतना उत्तर को सिक्त कर चुकी थी और उसीका प्रभाव पृथ्वीराज के समय भी अपना रग ला रहा था। धर्म की यह दक्षिणपवन उत्तरभारत को सरस और प्रफुल्ल वना रही थी तथा हिन्दू, विदेशियो के कठोर आघातो को वहुत कुछ भुलाकर, धर्म के आश्रय में भक्ति का प्रचार तथा प्रसार करने में लग चुके थे। यो देशप्रेम और स्वाभिमान का स्वर भी पूर्णतया सोया हुआ नही था और कर्मवीर महाराणा प्रताप जैसे प्रतापी राजा अपने देश और जाति के खोये गौरव को लौटाने की प्राणपण से चेष्टा करते हुए अकवर जैसे शक्तिशाली वादशाह को भी छका रहे थे। किन्तु ऐसे प्रयत्न देश के कुछ ही कोनो में हो रहे थे। अधिकाश जन भक्ति की लहर मे वहकर अपने मन और मस्तिष्क को भगवान की अर्चना में लगाने का ही प्रयत्न कर रहे थे। यह भक्ति की लहर जो सवसे पहिले शकराचार्य से उत्तर में आई थी रामानुजाचार्य के द्वारा सवसे अधिक प्रभावपूर्ण रूप में उपस्थित की गई। रामानुज का समय स० १०७४ से ११९४ तक वताया जाता है। यह परब्रह्म विष्णु, चित् जीव तथा अचित् दृश्यमान वस्तुजगत् को अविनाशी मानकर चले। इनमे अन्तिम दो परब्रह्म पर आश्रित है—ब्रह्म से सामीप्य-लाभ करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये, तभी सफलता मिल सकती है। उनके इस सिद्धान्त का सीधा सा तात्पर्य था जनता में प्रयत्न तथा ईश्वर के प्रति विश्वास फूकना। रामानुज की ही पद्धति को स्वीकार करते हुए पन्द्रहवी शताब्दी के लगभग रामानन्द ने राम को विष्णु का अवतार मान कर उनकी भक्ति की कल्पना की। इन्होंने अवतारवाद को प्रतिष्ठा दी। कर्मकाण्ड को त्यागकर सीधे भक्ति का उपदेश दिया। इन्होंने राम का मर्यादारूप स्थापित करने की सफल चेष्टा की, जिसके परिणाम स्वरूप तुलसी जैसे महकवि ने अवतार राम का चरित्र भिन्न २ पुस्तको, छन्दो में भिन्न २ प्रकार से गाया और भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

रामभक्ति की धारा मे विलग होकर एक अन्य स्रोतस्विनी भी इसी समय समस्त देश को रससिक्त करती हुई वह रही थी। वह थी कृष्णभक्ति धारा। इसका उद्गम भी दक्षिण से ही हुआ था। वारहवी शताव्दी मे तेलगू प्रदेश

कामा[1] वरखन्ती कामदुधा किरि
पुत्रवती थी मन प्रसन ।
पुहप करणि[2] करि केसू[3] पहिरे
वनसपती पीळा वसन ॥२३६॥
कणियर[4] तरु करणि सेवंती[5] कूजा[6]
जाती[7] सोवन[8] गुलाल[9] जत्र ।
किरि परिवार सकळ पहिरायौ
वरणि वरणि ईए[10] वसत्र ॥२३७॥
विधि एणि वधावे वसँत वधाए
भालिम दिन दिन चढ़ि भरण ।
हुलरावणे[11] फाग हुलरायौ
तरु गहवरिया[12] थिय तरुण ॥२३८॥
मंत्री तहां मयण[13] वसँत महीपति
सिला सिंघासण धर सधर[14] ।
माथ अम्ब छत्र मंड़ाणा[15]
चलि वाइ मंजरि ढलि चमर ॥२३९॥
दाड़िमी बीज विसतरिया दीसै
निउँछावरि[16] नाँखिया[17] नग[18] ।
चरणे लुंचित खग फळ चुम्बित
मधु मुंचति सीचन्ति मग ॥२४०॥

शब्दार्थ —१—मनोरथ। २—चम्पा का फूल। ३—टेसू के पुष्प। ४—कनक चम्पा। ५—सफेद गुलाव। ६—वेले का पुष्प। ७—मालती, चमेली। ८—सोहना। ९—लाल पुष्प विशेष। १०—इसने। ११—प्यार। १२—सघन हो जाना। १३—कामदेव। १४—धर-सधर—पर्वत। १५—सजे हैं, लगे हुए हैं, तने हुए हैं। १६—प्रेमी अथवा श्रद्धाभाजन के ऊपर किसी वहुमूल्य वस्तु का उत्सर्ग करना। १७—(१) नष्ट किया (२) फेका। १८—रत्न।

राजति अति एण[1] पदाति[2] कुंज रथ
हँस माळ बन्धि लास हय[3]।
ढालि खजूरि पूठि[4] ढलकावै
गिरिवर सिणगारिया[5] गय[6] ॥२४१॥

तरु ताळ पत्र ऊँचा तड़ि तरला
सरळा[7] पसरन्ता[8] सरगि।
बैठे पाटि[9] वसन्त वन्धिया
जगहथ[10] किरि ऊपरी जगि ॥२४२॥

ऋतुराज की महफिल

रूपक

आगळि रितुराय मंडियौ अवसर
मण्डप वन नीझरण[11] मृदंग।
पंचबाण नायक गायक पिक
वसुह रंग[12] मळगर[13] विहंग ॥२४३॥

कळहंस[14] जाणगर मोर निरतकर
पवन तालधर ताल पत्र।
आरि[15] तन्तिसर[16] भमर उपंगी[17]
तीवट[18] उघट[19] चकोर तत्र ॥२४४॥

विधि पाठक सुक सारस रस वंछक
कोविद खंजरीट गतिकार।
प्रगलभ[20] लाग दाट[21] पारेवा
विदुर वेस चक्रवाक विहार ॥२४५॥

शब्दार्थ —१–एक काले रंग का हरिण जिसकी आँखें बड़ी और पैर छोटे होते है। २–पैदल सिपाही। ३–हय-लास—सईस। ४–पीठ। ५–सजाये हुए। ६–हाथी। ७–सीधा। ८–फैलते हुए। ९–गद्दी। १०–जगहथ-पत्र—जगत को हस्तगत करने के लिए घोषणा-पत्र। ११–झरना। १२–वसुह–रंग—रङ्गभूमि। १३–मेला, दर्शक। १४–राजहंस। १५–झींगुर। १६–तार के वाद्यो का स्वर। १७–नसतरङ्ग बजाने वाला। १८–एक राग विशेष, जो दोपहर के समय गाया जाता है। १९–उघटना। २०–विज्ञ। २१–नृत्य की दो प्रकार की भाव बताने की क्रियाएँ।

आंगणि जळ तिरप[1] उरप[2] अलि पिअति
मरुत चक्र फिरि लियत मरू[3]।
रामसरी[4] खुमरी[5] लागी रट
धूया माठा[6] चन्द धरू[7] ॥२४६॥

निगरभर[8] तरुवर सघण छाह निसि
पुहपित अति दीपगर पळास।
मौरित अम्ब रीझ रोमंचित
हरखि विकास कमळ कृत हास ॥२४७॥

प्रगटै मधु कोक[9] संगीत प्रगटिया
सिसिर जवनिका[10] दूरि सिरि।
निज मंत्र पढे पात्र रितु नॉखी[11]
पुहपंजळि वणराय परि ॥२४८॥

प्रज[12] उदभिज सिसिर दुरीस पीड़तौ
ऊतर[13] ऊथापिया[14] असन्त[15]।
प्रसन वायु मिसि न्याय प्रवत्त्यौ[16]
वनि वनि नयरे राज वसन्त ॥२४९॥

पुहपॉ मिसि एक एक मिसि पातॉ
खाडिया[17] द्रव मांडिया ऊखेळि[18]।
दीपक चम्पक लाखे दीधा
कोड़ि[19] धजा फहराणी केळि ॥२५०॥

शब्दार्थ —१–नृत्य में एक प्रकार का ताल। २–एक प्रकार का नृत्य विशेष। ३–मूर्च्छना। ४–(१) एक प्रकार राग (२) एक प्रकार की चिडिया। ५–एक चिडिया। ६–माठा-धूया—ध्रूपद राग का एक भेद। ७–चन्द-धरु— ध्रुपद राग का एक भेद। ८–खूब सघनता में भरे पूरे हुए। ९–सगीत शास्त्र का छठा भेद। १०–नाटक का परदा। ११–गिराई। १२–प्राणी समूह। १३–लाक्षणिक अर्थ में— उत्तर दिशा का पवन। १४–उखाड दिया, पदच्युत कर दिया। १५–अनिप्टकारी। १६–प्रचार किया। १७–गर्त। १८–उखेलना। १९–करोडो।

मळयानिळ वाजि[1] सुराज थिया महि
भई निसंकित अंक भरि ।
वेली गळि तरुवराँ विलागी[2]
पुहप भार ग्रहणां पहरि ॥२५१॥

पीड़न्ति हेमन्त सिसिर रितु पहिलौ
दुख टाळ्यौ वसन्त हितदाखि[3] ।
व्याए[4] वेली तणी तरुवरॉ
साखॉ विसतरियॉ वैसाखि[5] ॥२५२॥

दीजै तिहाँ डंक न दँड न दीजै
ग्रहणि मवरि[6] तरु गानगर[7] ।
करग्राही[8] परवरिया[9] मधुकर
कुसुम गंध मकरन्द कर ॥२५३॥

भरिया तरु पुहप वहे[10] छूटा भर
काम बाण ग्रहिया करगि ।
वळि रितुराइ पसाइ[11] वेसन्नर[12]
जण भुरड़ीतौ[13] रहै[14] जगि ॥॥२५४॥

वरखा जिम वरखत चातक वचित
वंचि न को तिम[15] राज वसन्त ।
फुल्ल पंख कृत सेव[16] लवध फळ
बँदि कोलाहल खग बोलन्त ॥२५५॥

शब्दार्थ —१–हवा के जोर से शब्द करके चलने को डिंगल में "वाजना" कहते हैं। २–लगी। ३–देख कर। ४–(१) विवाह करना, (२) सन्तान उत्पन्न करना। ५–(१) वैसाख का महीना है, (२) शाखाओ से जिसकी उत्पत्ति है। ६–मौर। ७–गायक। ८–राज्य का लगान उगाहने वाले। ९–फिरने लगे। १०–चलने से, हिलने से। ११–कृपा से। १२–अग्नि। १३–अग्नि तापते हुए। १४–(१) ताप रहे हैं, (२) तापना वद कर दिया। १५–त्यो। १६–सेवा।

कुसुमित कुसुमायुध ओटि केळि कृत[1]
तिहि देखे थिउ खीण तन ।
कन्त सँजोगणि किंसुख[2] कहिया
विरहणि कहे पळास[3] वन ॥२५६॥

तसु रंग वास तसु वास रंग तण
कर पल्लव[4] कोमल कुसुम ।
वणि वणि[5] माळिणि केसरि[6] वीणति
भूली नख प्रतिबिम्ब भ्रम ॥२५७॥

सबळ जळ सभिन्न[7] सुगंध भेट सजि
डिगमिगि पाउ वाउ क्रोध डर ।
हालियौ मळयाचळ हूँत[8] हिमाचल
कामदूत हर प्रसन कर ॥२५८॥

तरतौ नदि नदि ऊतरतौ तरि तरि
वेलि वेलि गळि गळै विलग्ग[9] ।
दखिण हूँत आवतौ[10] उतर दिसि
पवन तणा तिणि वहै[11] न पग्ग ॥२५९॥

केवड़ा कुसुम कुन्द तणा केतकी
श्रम सीकर निरझर श्रवति ।
ग्रहियौ कन्धे गन्ध भारगुरु
गंधवाह[12] तिणि मन्द गति ॥२६०॥

शब्दार्थ —१—के लिए । २—टेसू । ३—(१) मासाहारी, (२) टेसू । ४—कर-पल्लव—अँगुलियाँ । ५—सज सज कर । ६—(१) फूल के वीच के वाल की तरह पीले-पीले रग के सीके, (२) एक प्रकार के फूल का केशर । ७—भीगा हुआ । ८—से । ९—लगते हुए । १०—आता हुआ । ११—चलते है । १२—गध-वाह—(१) गन्ध को ले जाने वाला अर्थात् पवन, (२) नासिका ।

लीयै तसु अंग वास रस लोभी
रेवा[1] जळि कृत सौच रति ।
दखिणानिळ आवतौ उतर दिसि
सापराध[2] पति जिम सरति[3] ॥२६१॥
पुहपवती[4] लता न परस पमूँके[5]
देतौ अंग आलिगन दान ।
मतवाळौ पय[6] ठाइ[7] न मंडै[8]
पवन वमन करतौ[9] मधुपान ॥२६२॥
तोय[10] झरणि छंटि[11] ऊघसत[12] मळय तरि[13]
अति पराग रज धूसर अंग ।
मधु मद श्रवति मंद गति मल्हपति[14]
मदोनमत्त मारुत मातग ॥२६३॥
गुण गन्ध ग्रहित गिळि[15] गरळ ऊगळित
पवण वाद[16] ए[17] उभय पख ।
स्रीखंड सैळ सँयोग संयोगिणि
भणि विरहिणी भुयंग भख[18] ॥२६४॥
रितु किहि दिवस सरस राति किहि सरस
किहि[19] रस सन्ध्या सुकवि कहन्ति ।
वे पख सूधति[20] विहूँ मास वे
वसन्त ताइ सारिखौ वहन्ति ॥२६५॥

शब्दार्थ —१–नर्मदा नदी। २–अन्यत्र क्रीडा करके अपनी नायिका के पास आए हुए अपरावी पति को "सापराव" कहते हैं। ३–चलता है। ४–(१) फूलो वाली, (२) ऋतुमती। ५–छोडता है, प्रमुक्त। ६–पद। ७–स्थान। ८–स्थापित करता है। ९–वमन-कर्त्ता—गिराता हुआ। १०–जल। ११–फैलाता हुआ। १२–रगड खाता हुआ। १३–मलय-तरि—चन्दन का वृक्ष। १४–आनन्द की मौज मे कुछ-कुछ शब्द करते चलना। १५–निगल कर। १६–तर्क। १७–यह। १८–खाद्य पदार्थ। १९–किमी। २०–शुद्ध कर देता है।

निमिख पळ वसन्ति सारिखौ अहोनिसि
एकण एक न दाखैं[1] अन्त ।
कन्त गुणे वसि थायै[2] कान्ता
कान्ता गुणि वसि थायै कन्त ॥२६६॥

गृह पुहप तणौ तिणि पुहपित ग्रहणौ
पुहप ई ओढ़ण पाथरणि[3] ।
हरखि हिंडोळि पुहपमै हिण्डति[4]
सहि सहचरि पुहपॉ सरणि[5] ॥२६७॥

पौढाड़ै[6] नाद वेद परबोधै[7]
निसि दिनि बाग[8] विहार नितु ।
माणग[9] मयण एण विधि माणै[10]
रुषमिणि कन्त वसन्त रितु ॥२६८॥

गर्भ वर्णन

अवसरि[11] तिणि प्रीति पसरि[12] मन अवसरि
हाइ भाइ मोहिया हरि ।
अंग अनंग गया आपाणा
जुड़िया जिणि वसिया जठरि ॥२६९॥

सम्बन्ध कथन

वसुदेव पिता सुत थिया वासुदे
प्रद्युमन सुत पित जगतपति ।
सासू देवकी रामा सुवहू[13]
रामा सासू वहू[14] रति ॥२७०॥

शब्दार्थ —१–दिखाते है, वताते है । २–हो गये, हो रहे । ३–विछौना (प्रस्तरण) ४–झूल्ते है । ५–पुहपॉ-सरिण–पुष्पो पर आश्रित है । ६–लिटाना । ७–(१) जगाना, (२) समझाना । ८–(१) सरस्वती, वाणी, (२) बगीचा । ९–रसिक । १०–शृगार-रस-सम्वन्धी सुखो का उपभोग करना । ११–(१) समय, (२) अन्दर । १२–विस्तृत होकर । १३–पुत्रवधू । १४–वधू ।

लीलावण[1] ग्रहे मानुखी लीला
जगवासग[2] वसिया जगति[3] ।
पित प्रद्दुमन जगदीस पितामह
पोतौ अनिरुध ऊखापति ॥२७१॥

कि कहिसु[4] तासु जसु अहि थाकौ कहि
नारायण निरगुण निरलेप ।
कहि रुषमिणि प्रदुमन अनिरुध का
सह सहचरिए नाम सँखेप ॥२७२॥

लोकमाता सिंधुसुता श्री लिखमी[5]
पदमा पदमाळया प्रमा ।
अवर गृहे अस्थिरा[6] इन्दिरा[7]
रामा हरिवल्लभा रमा[8] ॥२७३॥

दरपक कंदरप काम कुसुमायुध
सम्वरारि रति पति तनुसार[9] ।
समर मनोज अनंग पंचसर
मनमथ मदन मकरध्वज मार ॥२७४॥

चतुरमुख चतुरवरण चतुरातमक
विग्य चतुर जुग विधायक ।
सर्वजीव विश्वकृत ब्रह्मसू
नरवर हँस देहनायक ॥२७५॥

शब्दार्थ —१—सांसारिक लीला करने वाले। २—संसार को अपने शरीर मे बसाने वाले। ३—द्वारिकापुरी। ४—कहूँगा। ५—शोभायुक्त। ६—अवर-गृहे-अस्थिरा —विष्णु के अतिरिक्त और किसी के घर में स्थिर न रहनेवाली अतएव "चंचला"। ७—प्रभुत्वशालिनी। ८—भगवान जिसमें रमण करते हैं। ९—(१) शरीर मे व्याप्त होकर रहने वाला। (२) बलवान शरीरवाला।

सुन्दरता लज्जा प्रीति सरसती
माया कान्ती क्रिपा मति ।
सिद्धि वृद्धि सुचिता रुचि सरधा
मरजादा कीरति महति ॥२७६॥

माहात्म्य वर्णन

संसार सुपहु[1] करता गृह संगृह[2]
गिणि तिणि हीज पंचमी गाळे ।
मदिरा रीस हिंसा निन्दा मति
च्यारे करि नूंकिया[3] चंडालि ॥२७७॥

हरि समरण रस[4] समझण हरिणाखी
चात्रण[5] खळ खगि[6] खेत्र[7] चढ़ि ।
वैसे सभा पारकी[8] बोलण
प्राणी वंछइ त वेलि पढ़ि ॥२७८॥

सरसती कंठि श्री गृहि मुखि सोभा
भावी मुगति तिकरि भुगति[9] ।
उवरि[10] ग्यान हरि भगति आतमा
जपै वेलि त्यां[11] ए जुगति ॥२७९॥

महि सुइ[12] खटमास प्रात जळ मंजै
आप अपरस[13] अरु जित इन्द्री ।
प्रामै वेलि पढ़न्तां[14] नित प्रति
त्री वंछित[15] वर वंछित त्री ॥२८०॥

शब्दार्थ —१—श्रेष्ठ प्रभु। २—गृह-सगृह—गृहस्थ के श्रेष्ठ गुणो का सग्रह। ३—त्याग देना। ४—प्रेम, शृगार रस। ५—अग्निमथन-यत्र। ६—तलवार। ७—(१) रणक्षेत्र, (२) खेत। ८—दूसरो की (परकीय)। ९—ससार मे भोगने योग्य सुख। १०—अन्त करण। ११—उनको, उनके। १२—सोकर। १३—शुद्ध। १४—पढने-वालो को। १५—इच्छित।

ऊपजै[1] अहोनिसि आप आप[2] मैं
रुषमणि क्रिसन सरीख रति ।
कहै वेलि वर लहै[3] कुमारी
परणी[4] पूत सुहाग पति ॥२८१॥

परिवार पूत पोत्रे पड़पोत्रे
अरु साहण[5] भंडार इम ।
जण रुषमिणि हरि वेलि जपंतां
जग पुड़ि[6] वाधै[7] वेलि जिम ॥२८२॥

पेखे कोइ कहति एक एक प्रति
विमळ मंगळ गृह एक वगि[8] ।
एणि कवण[9] सुभ क्रम[10] आचरताँ
जाणियै[11] वेलि जपन्ति जगि ॥२८३॥

चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा
ससत्र उखध मँत्र तँत्र सुवि[12] ।
काया कजि उपचार करन्तां
हुवै सु वेलि जपन्ति हुवि[13] ॥२८४॥

आधिभूतक आधिदेव अध्यातम
पिंड[14] प्रभवति[15] कफ वात पित ।
त्रिविध ताप तसु रोग त्रिविधिमै
न भवति वेलि जपन्त नित ॥२८५॥

शब्दार्थ —१–उत्पन्न होती है। २–आप-आप मैं—परस्पर। ३–प्राप्त करना। ४–व्याही हुई। ५–(१) साथी (२) सेना, (३) परिषद (४) हाथी घोडे इत्यादि विजय या सफलता प्राप्त करने के साधन। ६–जग-पुडि—पृथ्वीतल। ७–बढते है। ८–एकत्रित, वर्गीकृत। ९–कौन कौन से। १०–कर्म। ११–ऐसा प्रतीत होता है, जानो। १२–सभी। १३–होता है। १४–शरीर। १५–होने वाले।

से निम्बार्काचार्य का स्वर उठा और उत्तर मे वृन्दावन की कुज-कुज और गली-गली मे गूज उठा। सारा व्रज प्रान्त उस वाणी के रस मे डूब गया। यह आचार्य द्वैताद्वैत साधना मे विश्वास करते थे अतएव उसी का प्रवर्तन इन्होने किया। जयदेव जैसा पीयूषवर्षी अमरकवि इन्हीके शिष्यो में से एक था। ये ईश्वर से चरम मिलन में विश्वास रखते थे और इनका विचार था कि उसकी प्राप्ति केवल भक्ति से हो सकती है। इन्होने कृष्ण तथा राधा के मधुर सम्बन्ध की कल्पना करते हुए उन्हे आराध्य माना। कृष्ण इस मत के अनुसार परब्रह्म है। चौदहवी शती के लगभग उदीपी से द्वैतवादी मध्वाचार्य का स्वर सुनाई दिया। यह भागवत को अपने सिद्धान्तो का मूलाधार बनाकर कृष्ण को ब्रह्म मानकर उठे। इनका ब्रह्म स्वामी है और जीव सेवक मात्र। एक स्वतन्त्र दूसरा परतन्त्र। अतएव आराध्य को प्राप्त करने के लिये सेवा और भक्ति की आवश्यकता है। नवधा-भक्ति ही वह साधन है जिससे ब्रह्म को पाया जा सकता है। उसी के लगभग शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन करते हुए विष्णुस्वामी ने इसी धारा में योग दिया। मध्वाचार्य ने राधा को अपने धर्म मे ग्रहण नही किया था, विष्णु स्वामी ने उन्हे भी लिया।

इन सिद्धान्तो से सकेत पाकर पन्द्रहवी सोलहवी शताब्दी मे कुछ अन्य सम्प्रदाय, यथा, श्री सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय तथा सनकादि सम्प्रदाय, भी उत्पन्न हुए। श्री सम्प्रदाय ने रामानन्दी पद्धति को स्वीकार किया तो ब्रह्म सम्प्रदाय ने मध्व का अनुकरण किया तथा रुद्र एव सनकादि सम्प्रदाय क्रमश विष्णु तथा निम्वार्क के मार्ग पर चले। ब्रह्म सम्प्रदाय मे दीक्षित महाप्रभु चैतन्य ने सोलहवी शती में बगाल में भक्ति की वह मधुर पयस्विनी प्रवाहित की जिसमे सारा बगाल भीग उठा। इनकी वाणी का प्रभाव उत्तर के अन्य क्षेत्रो में भी दिखाई दिया। इनका सकीर्तन तो आज तक भक्तो के बीच भक्ति-साधना का एक विशेष महत्वपूर्ण साधन स्वीकृत है। आप भागवत का आधार लेकर चले और अपने कार्यक्षेत्र का केन्द्र जगन्नाथपुरी में बनाकर रहते रहे। इसी समय विजयनगर से सस्कृत के दुर्दान्त पण्डित वल्लभाचार्य को महाप्रभु की उपाधि से सम्मानित किया गया और उनकी वाणी धीरे धीरे उत्तर को आप्लावित करने लगी। विष्णु स्वामी के

मन सुद्धि जपन्तां रुषमिणि मंगल
निधि सम्पति थाइ[1] कुसल नित ।
दुरदिन दुरग्रह दुसह दुरदसा
नासै दुसुपन दुर निमित[2] ॥२८६॥

मणि मंत्र तंत्र बळ जंत्र अमंगळ
थळि जळि नभसि न कोइ छळन्ति ।
डाकिणि शाकिणि भूत प्रेत डर
भाजै उपद्रव वेलि भणन्ति ॥२८७॥

सन्यासिए जोगिए तपसि तापसिए
काँइ[3] इवड़ा[4] हठ निग्रह किया ।
प्राणी भवसागर वेलि पढ़न्तां
थिया पार तरि पारि थिया[5] ॥२८८॥

कि जोग जाग जप तप तीरथ किं
व्रत कि दानाश्रम वरणा ।
मुख कहि कुसन रुषमिणि मंगल
काँइ रे मन कलपसि[6] कृपणा ॥२८९॥

बे हरि हर भजै[7] अतारू[8] बोळै
ते ग्रब[9] भागीरथी म[10] तूं ।
एक देस वाहणी[11] न आणाँ[12]
सुरसरि सम्म सरि वेलि सूं ॥२९०॥

शब्दार्थ —१–होता है। २–दुर-निमित—बुरे शकुन। ३–क्या। ४–ऐसा, इतना। ५–पारि थिया—पार हो गये। ६–विषाद करना। ७–सेवा करती है। ८–तैरना न जानने वाला। ९–गर्व। १०–मा (निषेधात्मक)। ११–(१) वहने वाली, (२) सेना। १२–अन्यत्र।

वेलि रूपक

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ[1]
महि थाणौ[2] प्रिथु[3] दास मुख।
मूळ ताल जड़ अरथ मण्डहे[4]
सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख ॥२९१॥

पत्र अक्खर दळ द्वाळा[5] जस परिमळ
नव रस तन्तु विधि[6] अहोनिसि।
मधुकर रसिक[7] सु भगति मंजरी
मुगति फूल फळ भुगति मिसि ॥२९२॥

कवि का वक्तव्य

कळि कलप वेलि वळि कामधेनुका
चिन्तामणि सोमवल्लि चत्र[8]।
प्रकटित पृथिमी पृथु मुख पंकज
अखरावळि मिसि थाइ एकत्र ॥२९३॥

प्रिथु वेलि कि पँचविध प्रसिध प्रणाळी
आगम[9] नीगम[10] कजि[11] अखिळ।
मुगति तणी नीसरणी[12] मंड़ी[13]
सरग लोक सोपान इळ[14] ॥२९४॥

मोतिए विसाहण[15] ग्रहि कुण मूँकै[16]
एक एक प्रति एक अनूप।
किल सोझण[17] मुख मूझ[18] वयण कण
सुकवि कुकवि चालणी[19] न सूप ॥२९५॥

शब्दार्थ —१–खेत बोया। २–थाँवला। ३–पृथ्वीराज। ४–मंडप पर। ५–दोहला। ६–बढ़ना, वृद्धि। ७–काव्य मर्मज्ञ। ८–चारो। ९–शास्त्र ग्रन्थ। १०–वेद। ११–कार्य। १२–सोपान। १३–सुशोभित है। १४–पृथ्वी। १५–व्यवसाय। १६–कुण-मूँकै—कौन छोडे। १७–सशोधन। १८–मेरे। १९–चलनी।

पिंडि नख सिख लगि ग्रहणे पहिरिए
महि मूँ[1] वाणी[2] वेलि मई ।
जग गळि लागी रहै असै जिम्हि
सहे न दूखण जेम सई[3] ॥२९६॥

भाखा संस्कृत प्राकृत भणंता
मूझ भारती[4] ए मरम ।
रस दायिनी[5] सुन्दरी रमताँ
सेज अन्तरिख भूमि सम ॥२९७॥

विवरण जौ वेलि रसिक रस वंछौ
करौ करणि[6] तौ मूझ कथ ।
पूरे इते प्रामिस्यौ[7] पूरौ
इअे[8] ओछे[9] ओछौ अरथ ॥२९८॥

ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी
संगीती तारकिक सहि ।
चारण भाट सुकवि भाखा चित्र[10]
करि एकठा तो अरथ कहि ॥२९९॥

ग्रहिया मुखि मुखा गिळित ऊग्रहिया[11]
सूँ गिणि[12] आखर ए मरम ।
मोटां[13] तणौ प्रसाद कहै महि
ऐठौ[14] आतम सम[15] अधम ॥३००॥

शब्दार्थ —१–मेरी । २–कविता । ३–साध्वी स्त्री । ४–सरस्वती, वाणी । ५–रसदायिनी–आनन्ददायिनी । ६–कार्य (करणीय) । ७–पा सकोगे । ८–इससे । ९–न्यून । १०–भाखा-चित्र—चतुर कवि । ११–उगल दिया । १२–समझकर । १३–प्रतिष्ठित पुरुषो का । १४–स्पर्श किया हुआ, उच्छिष्ठ । १५–आतम-सम—अपने समान ।

हरि जस रस साहस करे हालिया[1]
म्नो[2] पंडिता वीनती मोख ।
अम्हीणा[3] तम्हीणे[4] आया
श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥३०१॥

रमताँ जगदीसर तणौ रहसि रस[5]
मिथ्या वयण न तासु[6] महे[7] ।
सरसै[8] रुखमणि तणी सहचरी
कहिया मूँ मै तेम[9] कहे ॥३०२॥

तूँ तणा अनै तूँ तणी तणा त्री
केसव कहि कुण सकै क्रम ।
भलौ ताइ परसाद भारती
भूंडो[10] ताइ माहरौ[11] भ्रम ॥३०३॥

रूप लखण गुण तणा रुखमिणी
कहिवा सामरथीक कुण ।
जाइ जाणिया तिसा[12] मै जम्पिया[13]
गोविँद राणी[14] तणा गुण ॥३०४॥

रचना काल

वरसि अचळ[15] गुण अंग[16] ससी[17] संवति
तवियौ[18] जस करि श्री भरतार ।
करि श्रवणे दिन रात कंठ करि[19]
पामै[20] स्त्री फळ भगति अपार ॥३०५॥

शब्दार्थ —१–चले। २–मेरा। ३–हमारा। ४–तुम्हारा। ५–रहसि-रस—एकान्त मे की हुई केलि का आनन्द। ६–उसके। ७–अन्दर। ८–सरस्वती। ९–(तिमि)—वैसे। १०–अनिष्टकर। ११–मेरे, हमारे। १२–(१) उतने ही, (२) वैसा। १३–कहे है। १४–गोविंद–राणी—गोविन्द–(कृष्ण) की रानी—रुक्मिणी। १५–पर्वत। १६–वेदाङ्ग। १७–चन्द्रमा एक सख्या द्योतक है। १८–स्तुति की। १९–कठस्थ करना। २०–पाता है।

सरलार्थ

सरलार्थ

प्रस्तुत दोहले में पुस्तक की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मगलाचरण करने के अतिरिक्त लेखक ने मगलरूप श्रीकृष्ण के गुणानुवाद को अपना उद्देश्य वताया है —

(१) परमेश्वर को प्रणाम करने के अनन्तर सरस्वती को प्रणाम करके तत्पश्चात् मगलरूप श्रीकृष्ण के गुणो का वर्णन किया जाता है। परमेश्वर, सरस्वती तथा सद्गुरू, यह तीन ही सारतत्व है। [परमेश्वर, सरस्वती, सद्गुरू तथा श्रीकृष्ण का गुणानुवाद] यही चार प्रकार का मगलाचरण है।

(२) जिस गुणनिधि ने आरभ में उत्पत्ति की है उस सृष्टिकर्त्ता का मै, गुणहीन होते हुए भी, गुणगान करना चाहता हूँ। मेरा यह कार्य ऐसा दुष्कर है मानो काठ में चित्रित प्रतिमा—जड होते हुए भी—अपने चित्रकार को ही अपने गुणहीन हाथो से चित्रित करने का प्रयास करती हो।

अलकार—दृष्टान्त तथा उत्प्रेक्षा। 'चीत्रारै लागी चित्रण' में असभव।

(३) मैने कमलापति श्रीकृष्ण के यश का आदरपूर्वक वर्णन करना स्वीकार किया है। यह मानो मूक व्यक्ति ने वाग्देवी सरस्वती से, विजय प्राप्त करने के लिए, विवाद आरम्भ किया है।

अलकार—उत्प्रेक्षा। विरोवाभास—चतुर्थपक्ति। यमक–'आदर–आदरी'।

(४) हे मूर्ख मन, जो वात सरस्वती को भी नही सूझती, तू उसी की खोज करता है। तू या तो वातरोग से पीडित है अथवा पागल हो गया है। तू मन के समान ही—अपनी स्वाभाविक गति के अनुसार ही—अवश्य दौडता है, किन्तु तू पगु होने के कारण वहाँ तक कैसे पहुँच सकता है। यह कार्य दुष्कर है।

अलकार—सन्देह। विशेपोक्ति। अनन्वयोपमा।

(५) जिस शेपनाग के सहस्र फण है, प्रत्येक फण मे दो-दो जिह्वा है तथा प्रत्येक जिह्वा में नवीन यशगान है, अर्थात् दो हजार जिह्वाओ से जो नित्य नवीन यशगान करता है, उस शेपनाग ने भी त्रिविक्रम—परमेश्वर—

के गुणो का पार नही पाया, तब मुझ मेंढक के समान गुणहीन तथा तुच्छ जीव के वचनों की तो सामर्थ्य ही क्या है। अर्थात् मै उसका वर्णन अपनी एक जिह्वा से कर सकने में सर्वथा असमर्थ हूँ।

अलकार— सार। परिकरांकुर। काव्यार्थापत्ति। पुनरुक्तिप्रकाश।

(६) हे लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण, कौन ऐसा विद्वान् है जो आपके गुणो का बखान कर सकता है। कौन ऐसा तैराक है जो समुद्र को तैरकर पार कर सकता है, कौन ऐसा पक्षी है जो उडकर आकाश के अन्त तक पहुँच सकता है तथा कौन ऐसा रक है जो सुमेरु पर्वत को अपने हाथ में उठा सकता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार ऐसा होना असभव है उसी प्रकार आपके अपरिमित गुणो का उचित रीति से वर्णन करना मेरे लिए भी असभव-सा है।

अलकार—निदर्शना–माला।

(७) जिन कृष्ण ने हमें जन्म दिया है, जिन्होने जन्म के साथ ही जिह्वा दी अर्थात् वाणी का वरदान दिया तथा जो हमारा पालन-पोषण भी करते है, उनका यश-गान करने का श्रम किये विना कैसे रहा जा सकता है।—अतएव समर्थ न होते हुए भी मै अपना कर्त्तव्य-पालन करने के विचार से वर्णन करता हूँ।

अलकार—वृत्यनुप्रास।

(८) शृगारग्रथ के रचयिता को सर्व-प्रथम स्त्री का वर्णन करना चाहिए। शुकदेव, वेदव्यास, जयदेव आदि सुकवियो ने इसी प्रणाली का अनुगमन किया है।

(९) पुत्र का हित करने के विचार से पिता से माता ही अधिक बडी है, क्योंकि वह पुत्र को दस माह तक गर्भ मे धारण करने के पश्चात् उसका दस मास तक ससार में पालन-पोषण करती है। इसी कारण माता का वर्णन पहले किया है।

(१०) दक्षिण दिशा में विदर्भ एक अत्यन्त शोभाशाली—दीपित—देश था। उस देश में कुन्दनपुर—कुण्डिनपुर—नाम का एक नगर था। वह नगर बहुत सुन्दर था। वहाँ नागो, नरो, असुरो और सुरो का शिरोमणि भीष्मक नामक राजा राज करता था।

(११) उस राजा के पाँच पुत्र थे और छठी सुपुत्री थी। उन पाँचो राजकुमारो के नाम क्रमश रुक्म, रुक्मवाहु, रुक्माली, रुक्मकेश तथा रुक्मरथ थे। वे विमलख्यातिवाले थे।

(१२) उस राजा की रुक्मिणी नामक पुत्री लक्ष्मी का अवतार थी। वह वालक्रीडा में रत ऐसी शोभित होती थी जैसे मानसरोवर में हस का बच्चा मनोहर प्रतीत होता है। वह राजकन्या सुमेरु पर्वत पर नवपल्लविता दो पत्तो-वाली कनकलता के समान सुन्दर थी, अर्थात् उसका शरीर वर्ण में स्वर्ण के समान दीप्तिमान तथा वह लता के समान कोमल थी।

अलकार—वाचकलुप्तोपमा। यथासख्य।

(१३) (रुक्मिणी साधारण बच्चो से भिन्न प्रकृति की थी। उसके अग-प्रत्यग का विकास ऐसा असाधारण था कि) अन्य वालक जितना वर्ष भर में बढते थे तो उतना वह एक मास में ही वढ जाती थी। जितना अन्य एक मास में वढ पाता, उतना वह एक पल मात्र में बढ जाती थी। वालक्रीडा की दशा में ही जब वह गुडियो से खेलती थी तभी उसमे—यौवनवती नायिकाओ के—वत्तीसो लक्षण प्रकट हो रहे थे।

टिप्पणी—साहित्य में नायिका के २८ लक्षणो की गणना कराई गई है। इनकी सख्या तथा नामावली इस प्रकार है।—१८ सत्वज अलकार + ३ अगज अलकार + ७ अयत्नज अलकार = २८ अलकार।

(१४) राजकुमारी की सभी सखियाँ उत्तम जाति की थी। समान कुल, शील तथा आयुवाली वे सखियाँ कमलिनी की कलियो के समान—कोमल तथा आकर्षक—दिखाई देती थी। राजप्रासाद के अजिर में सखियो के साथ राजकुमारी इस प्रकार शोभित हो रही है, जैसे स्वच्छ आकाश में तारागण के मध्य चन्द्रमा शोभायमान हो।

टि०—'पद्मिनी' शब्द का प्रयोग यहाँ 'उत्तम जाति की स्त्रियो' तथा 'कमलिनी' दोनो के लिए हुआ है। अति सुकुमार, लज्जावती, वुद्धिमती, उदार, प्रसन्नवदना स्वर्ण के समान कातिवाली, पद्म की-सी गधवाली, सर्वांग सुन्दरी नायिका को साहित्य-शास्त्र में 'पद्मिनी' नायिका कहा गया है। इस नायिका को रति-सुन्दरी, अल्परोमवती तथा गान-वाद्य-परायणा भी कहा गया है।

डा० टैसीटरी ने इस पद में प्रयुक्त 'अम्वहरि' तथा 'वीरज' के स्थान पर 'अम्वरि' तथा 'वीज' को ही उपयुक्त मानते हुए क्रमश 'ह' तथा 'र' अक्षरो का इन शब्दो में निरर्थक प्रयोग माना है। पाठान्तर के अनुसार इसका अर्थ होगा—'गगन मे तारामण्डल के मध्य द्वितीया का चन्द्रमा।'

अलकार—उपमा।

(१५) वाल्यावस्था में यौवनोद्गम का कोई भी लक्षण लक्षित नही होता। इस समय यौवन सुपुप्ति की दशा में रहता है। वाल्यावस्था के समाप्त होने तथा यौवन के आरम्भ होने के सन्धिकाल की दशा स्वप्न की दशा के समान है। सन्धिकाल से निरन्तर यौवन का विकास होता रहता है। रुक्मिणी को इसी यौवनोद्गम का आभास इस प्रकार हुआ।

टि०—वेदान्त-दर्शन के अनुसार जीव की चार दशाएँ है—१ जागृत, २ स्वप्न, ३ सुपुप्ति तथा ४ तुरीय। इनमे से जागृत अवस्था ज्ञान की वह अवस्था है जिसमे काम अर्थात् इच्छा वर्तमान रहती है। स्वप्नावस्था मे न तो पूर्ण अज्ञान ही रहता है और न जागने का ही वोध रहता है। तीसरी अवस्था सुपुप्ति मे पदार्थवोध तनिक भी नही रहता। यह अवस्था गहरी निद्रा के समान है। उपरिलिखित पद में कवि ने वाल्यावस्था को यौवन की सुपुप्ति अवस्था केवल इसी समानता के कारण कहा है कि जिस प्रकार सुपुप्ति मे वोध नही रहता, उसी प्रकार वाल्यावस्था वह अवोध अवस्था है जव यौवनागम का कोई ज्ञान ही नही होता। वय सन्धिकाल तक आते-आते यौवन का वोध जागृत होने लगता है, किन्तु तव भी पूर्ण ज्ञान नही होता। अतएव वह अवस्था स्वप्न दशा के सदृश है। धीरे-धीरे यौवन के विकास के साथ-साथ जागृति के समान वोध की स्थिति आती है। यौवनागम और उसमे अगो का विकास-वोध अधिकाधिक वढता जाता है।

अलकार—वाचकलुप्तोपमा।

(१६) वय सन्धि के आरम्भ होते ही—प्रथम रुक्मिणी का मुख अरुण हो गया, मानो पूर्वदिशा में सूर्योदय के समय लालिमा छा गई हो। कुचयुगल भी ऐसे उन्नत हो गये है, मानो उस राग को देखकर—उसे पूर्वदिशा में उदित सूर्य का राग समझकर—ऋपिगण भी सन्ध्या-वन्दन के हेतु जाग उठे हो।

सिद्धान्तो का पालन करते हुए भी ये निम्वार्क से प्रभावित थे। कृष्ण इनके ब्रह्म है, राधा ब्रह्म की पत्नी तथा कृष्ण का क्रीडा-स्थल, वैकुण्ठ। इन्होंने शंकराचार्य के मायावाद को अमान्य ठहराकर भक्ति की श्रेष्ठता की स्थापना की। भक्ति इनके मत से ज्ञान से भी श्रेष्ठ थी। कृष्ण-ब्रह्म-की भक्ति केवल उनके अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है, जिसे इनके मतानुसार पारिभाषिक रूप मे 'पुष्टि' कहा जाता है। यही कारण है कि इनके मत को 'पुष्टिमार्ग' संज्ञा हुई। इन्ही वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने इस मत के प्रधान आठ भक्तकवियो को लेकर 'अष्टछाप' की स्थापना की। १६वीं शती मे ही हित हरिवंश ने अपने 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' की स्थापना की और सीधे सीधे भक्ति के साथ शृंगार का मेल स्वीकार कर लिया। अकबर के समकालीन एक प्रतिष्ठित स्वामी हरिदास जी का नाम भी टट्टी सम्प्रदाय की स्थापना के सम्बन्ध में लिया जाता है। स्वामी हरिदास तो संगीत के भी मान्य आचार्य कहे जाते हैं। इनका सम्प्रदाय निम्वार्क सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत है।

सारांश यह कि पृथ्वीराज से बहुत पूर्व से ही भागवतादि को मूल आधार मानकर राम तथा कृष्ण की सगुण-भक्ति का प्रचार दक्षिण से चलकर उत्तर की गली गली मे फैल चुका था। उनके समय में ही अनेक महात्मा अपने सम्प्रदाय स्थापित करने में लगे हुए थे। इन सभी सम्प्रदायो में सबसे अधिक प्रचार हुआ कृष्णशाखा का। जहाँ रामभक्ति को लेकर केवल एक मत आरंभ हुआ वहाँ कृष्ण-भक्ति का प्रवाह दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ दिखाई देने लगा। सगुण भक्ति के इन मार्गों के अतिरिक्त उस समय विदेशियो के सम्पर्क में आकर दो और विशेष धाराएँ भी धर्म के क्षेत्र मे प्रवाहित हो रही थीं, जिनमे एक निर्गुण तथा दूसरी सूफीधर्म से प्रभावित थी।

साहित्यिक परिस्थिति

पृथ्वीराज से पूर्व हिन्दी-साहित्य अनेक नालियो में होकर बह चुका था। कभी उसमें जैन और सिद्धो की रचनाएँ प्रस्तुत की गईं, कभी वीर-कविताओ की प्रधानता रही और कभी धर्म से भक्ति का वरदान पाकर साहित्य नए नए रूपों में खिल उठा। पृथ्वीराज के समय तक आते आते वह अनेकमुखी हो चुका

टि०—इस पद मे यौवनागम पर मुख के राग को प्रातकालीन सूर्य का राग कहकर यह ध्वनित किया गया है कि वाल्यावस्था रात्रि के समान थी और यौवन दिन के समान है।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(१७) वाल्यावस्था के सहचर वालपन को जाता हुआ जानकर वाला—रुक्मिणी—अत्यन्त व्याकुल हुई। किन्तु यौवनागम जानकर भी उसके हृदय को शान्ति नही मिली।

अलकार—अनुप्रास तथा हेतु।

(१८) अपने माता-पिता के सामने अजिर में विचरण करते समय काम के निवास-स्थानो को छिपाने के लिए रुक्मिणी के अगो में लज्जा का प्रादुर्भाव हुआ। इस स्वाभाविक लज्जा के कारण रुक्मिणी को लाज करने में भी लज्जा लग रही है।

टि०—रुक्मिणी के शरीर में अव यौवन की झलक आ गई है। कुच, नितम्व आदि उन्नत तथा पीन हो गये है। उसे ऐसी दशा में अपने माता-पिता के सामने जाने में लज्जा का अनुभव हो रहा है। साथ ही यह सोचकर कि कही मेरी लज्जा के कारण ही माता-पिता मेरे यौवनागम की वात न जान ले, वह और भी अधिक सकुचित हो उठनी है और ऐसा प्रनीत होता है, मानो उसे लज्जा करने में भी लज्जा आ रही है। लज्जानुभव का यह एक बहुत ही मधुर चित्र है। सकोच की स्वाभाविकता दर्शनीय है।

अलकार—स्वभावोक्ति, छेकानुप्रास, लाटानप्रास, अत्युक्ति।

(१९) शिशिर ऋतु के समान शैशव पूर्णतया समाप्त हो गया है। ऐसा जानकर यौवन-रूपी-वसन्त ने अपने सम्पूर्ण परिवार—गुण, गति तथा मति को लेकर पदार्पण किया है, अर्थात् रुक्मिणी के अगो में सौन्दर्य विकास पाने लगा है, चचलता एव स्फूर्ति का भाव उत्पन्न हो गया है तथा उसके हृदय में नवीन भाव एव उमगें उठने लगी है।

टि०—प्रस्तुत पद में कवि ने यौवन और वसन्त का रूपक वाँधा है। जिस प्रकार वसन्त अपने गति, मति तथा गुण इन तीनो गुणो के साथ प्रस्फुट होना है, उसी प्रकार यौवन में भी यह तीनो गुण पाये जाते है। यौवन में

गुण सौन्दर्य का, मति आनन्द की निस्सीम तरगो तथा गति चचलता का वोधक है।

अलकार—सागरूपक।

(२०) प्रसग—प्रस्तुत पद में यौवनागम के कारण रुक्मिणी के अगो के विकास की तुलना वसन्तागम पर प्रकृति के अगो के विकास से की गई है। वसन्त में पुष्प विकसित होते है, पिक अपने कलकण्ठ से मधुर गान करती हुई श्रोता को रिझा लेती है, मधुप मधु-सचय के हेतु पुष्प से पुष्प पर उडान भरते है। इसी प्रकार रुक्मिणी के अगो में भी नवीन विकास के लक्षण प्रकट हो रहे है —

यौवन-रूपी-वसन्त के आगमन के कारण रुक्मिणी के शरीर के अग-प्रत्यग पुष्प के सदृश विकसित हो गये है। उसका शरीर पुष्प-युक्त सुन्दर वन है। नेत्र-रूपी-कमल खिले है तथा उसका सुहावना शब्द ही कोयल का मधुर स्वर है। पलक-रूपी-पखो को नवीन विधि से सजाकर चपल–भौंह-रूपी-भ्रमर उडने लगे है, अर्थात् उसके पलक झाँपने मे भी विचित्रता आ गई है।

अलकार—सागरूपक।

(२१) रुक्मिणी का शरीर ही मलयाचल पर्वत है। मलयतरु की मजरी के समान ही उसके मन-रूपी-मलयतरु में उमग तथा नवीन इच्छाओ-रूपी-मजरी उत्पन्न हो रही है। कामदेव के नवीन उन्नत अकुरस्वरूप कुच ही मलय-वृक्ष की कलियाँ है। उसकी तीव्र श्वास को ही दक्षिण दिशा से आती हुई त्रिगुण—शीतल, मन्द, सुगन्ध—मलयज वायु कहना चाहिये।

अलकार—सागरूपक।

(२२) इस पद में कवि ने रुक्मिणी जी के मुख की पूर्णिमा के चन्द्रमा से तुलना करते हुए रात्रि का रूपक बाँधा है।—

रुक्मिणी जी का मुख पूर्णिमा का चन्द्र है। उनके हृदय मे विकसित आनन्द ही चन्द्र का उदय है। उनका सहजभाव से हँसना ही चन्द्रमा की ज्योत्स्ना है। उनके नेत्र कुमुदिनी है। तारो की कान्ति के सदृश उनके दाँत शोभित है। अन्धकार में ज्योति विकीर्ण करनेवाली दीपशिखा के समान उनकी दीर्घ नासिका है।

अलकार—सागरूपक, पूर्णोपमा।

(२३) आयु की वृद्धि के साथ-साथ शरीर-रूपी-रात्रि भी वढती गई अर्थात् समस्त अवयव वढते और पुष्ट होते गये। रुक्मिणी के यौवन का विकास ही—पूर्ण चन्द्र के प्रभाव से—जल का वेगपूर्वक उमडना है। सुन्दरी रुक्मिणी के हाथ का पजा ही कामदेव का पुष्पधनु है। उसके दोनो वाहु ही वरुण के पाश की डोरी है। तात्पर्य यह कि रुक्मिणी का रूप-लावण्य अत्यन्त मोहक तथा चित्त को पाश में फँसा लेनेवाला है। उसके वाहुओ का सुन्दर गठन मानो आकर्पण का आमन्त्रण देता है।

अलकार—रूपक तथा सहोक्ति।

(२४) कवि की वाणी ने यौवन का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। कामिनी के कठोर स्तन ही मानो हाथी का गण्डस्थल है और उन पर शोभित श्यामलता मानो मदमत्त हाथी के गण्डस्थल से स्रवित मद है।

अलकार—वस्तूत्प्रेक्षा।

(२५) प्रस्तुत पद में रुक्मिणी की नाभि को प्रयाग का रूप दिया गया है तथा उसके कुचयुगल की सुमेरु-पर्वत के शिखरो से उपमा दी है।

रुक्मिणीजी के कठिन, सुडौल स्तन—अत्यन्त उन्नत होने के कारण—सुमेरु पर्वत की चोटियो के समान प्रतीत होते है। उनकी सुन्दर कटि अत्यन्त कृश तथा सुगठित है। पद्मिनी स्त्री के उपयुक्त उनकी नाभि प्रयाग के सदृश है। त्रिवली—पेट पर पडनेवाली तीन रेखाएँ—ही नाभि-रूपी-प्रयाग की त्रिवेणी है। नितम्ब ही उसके तट है।

अलकार—उपमागर्भित रूपक।

(२६) विद्वान् कविगण सुन्दर नितम्बोवाली रुक्मिणी की करभ के समान अनुपम जघाओ और वाहुओ का वर्णन करते हुए उन्हें कदली के उल्टे किये गये खम्भो के समान वताते है। उनकी दोनो पिण्डलियाँ कदली वृक्ष के गूदे के सदृश कोमल तथा सचिक्कण है।

अलकार—प्रतीप तथा उपमा।

(२७) स्वच्छ कमल के पत्ते पर जलकण के सदृश रुक्मिणी के पद-रूपी पल्लव पर नख-रूपी-जलकण सुशोभित है। उन नखो की कान्ति को देखकर इस

प्रकार का सन्देह बना रहता है कि वह हीरो का तेज है अथवा तारो का प्रकाश है या वालसूर्य है किंवा वालचन्द्र है अथवा हीरे ही है।—

अलकार—रूपक तथा सन्देह।

(२८) रुक्मिणीजी ने ८ व्याकरण, १८ पुराण, १८ स्मृतियाँ, ४ शास्त्र-रीति, चारो वेद तथा ६ वेदागो का अध्ययन और मनन करके १४ विद्याएँ एव ६४ कलाओ का ज्ञान प्राप्त किया और उनके मध्य मे अनन्तशायी भगवान् विष्णु की ही अनन्त, अपरिमित व्याप्ति पाई।

टि०—४ शास्त्र—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र।

६ अग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिप।

१४ विद्या—४ वेद, १ मीमासा, १ न्याय, १ धर्मशास्त्र, १ पुराण।

विचार—साख्य, योग, न्याय, वैशेपिक, मीमासा और वेदान्त यह ६ दर्शन।

अलकार—पर्याय।

(२९) श्रीकृष्णजी के इतने अधिकार का स्मरण करके रुक्मिणी के हृदय में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम स्थापित हो गया। वह उत्तम वर को प्राप्त करने की इच्छा करने लगी। भगवान् के गुणो का मनन करके रुक्मिणी के हृदय में उनको प्राप्त करने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई। उस इच्छा को पूरा करने के लिए वह शिव-पार्वती की आराधना करने लगी।

अलकार—यमक तथा पदार्थावृत्ति दीपक।

टि०—श्यामा नारी का लक्षण—१ सुन्दरी स्त्री जिसके सन्तान न हुई हो, २ साँवली स्त्री, ३ मधुरभापिणी, ४ १६ वर्प की नायिका, ५ शीत में उष्ण तथा ग्रीष्म में शीत एव मध्यकाल में मध्यस्थिति के शरीरवाली नायिका। वेलि के सस्कृत टीकाकार ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

श्यामा च श्यामवर्णा स्यात् श्यामा मधुरभापिणी।
अप्रसूता भवेत् श्यामा श्यामा पोडशवार्पिकी॥
या शीते चोष्णशरीरा उष्णे शीतशरीरिणी।
मध्यकाले भवेन्मध्या सा श्यामा इत्युदाहृता॥

(३०) पूर्वोक्त पदो में वर्णित रुक्मिणी के शरीर में, प्रकट यौवनागम-सूचक चिह्नो को देखकर उसके मातापिता ने उसके विवाह का पवित्र विचार

किया। उनको कृष्ण के सदृश सुन्दर, शीलवान्, वीर और कुलीन अन्य कोई वर न दिखाई दिया।

अलकार—उपमा।

(३१) कृष्ण के साथ रुक्मिणी के विवाह-सम्बन्ध की बात सुनकर—रुक्मि अपने माता-पिता से कहने लगा कि मेरा विचार है कि राजवशियो का अहीरवश के साथ जाति-सम्बन्ध कैसा ? हम राजवशियो की तुलना मे कृष्ण की जाति ही क्या है ? और उनके कुल की मर्यादा भी क्या है ? विवाह आदि सम्बन्ध बराबर जाति के लोगो से ही हो सकते है।—अर्थात् कृष्ण हमसे हर बात में ओछे है, अतएव उनसे सम्बन्ध होना असम्भव है।

(३२) रुक्मि ने कहा कि वृद्धावस्था मे वुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण माता-पिता इतने राजकुलो को छोडकर अहीरकुल से विवाह-सम्बन्ध कर रहे है। इनका कोई विश्वास न करे।

(३३) रुक्मिणी के माता-पिता ने रुक्मि से कहा —हे पुत्र, तू मूर्खता मत कर। प्रिय रुक्मिणी साक्षात् लक्ष्मीरूपा है और वसुदेव के पुत्र कृष्ण विष्णु के समान है, जिनकी देवता, मनुष्य, तथा नाग सभी पूजा करते है।

अलकार—उपमा।

(३४) यह सुनकर रुक्मि माता-पिता की मानमर्यादा का तिरस्कार करता हुआ वोला —शिशुपाल के सदृश कोई भी उत्तम वर नही है। जिस प्रकार वर्षाकाल मे वादल अकस्मात् तीव्र जलवर्षण करने लगते है, उसी प्रकार रुक्मि भी एकदम आवेश में भरकर उबल पडा। अथवा राजकुमार रुक्मि कुपित होकर इस प्रकार उफन पडा, जैसे वरसात का क्षुद्र नाला अथवा क्षुद्र नदी—वाहला—उमडकर तट से वाहर हो सीमा लाघकर वहने लगती है।

टि०—तुलना कीजिये —क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जस थोरेइ धन खल बौराई॥—तुलसी।

दोहले का अर्थ अन्य लेखको ने इस प्रकार किया है —"कुँवर रुक्मि कुपित होकर इस प्रकार उफन पडा जिस प्रकार वरसात का क्षुद्र नाला अथवा नदी। परन्तु जिस प्रकार वरसाती नाले वा नदी का जल थोडे समय तक रहता है वैसे ही रुक्मि के क्रोध को समझना चाहिये।"

किन्तु अर्थ के साथ जो थोडे समय की वात कही गई है वह हमें सगत प्रतीत नही होती। यहाँ सीमोल्लघन ही कवि द्वारा व्यजित है। क्रोध का काल निश्चय नही किया है।

(३५) रुक्मि अपने माता-पिता की असह्य चूक समझकर अपने गुरु के घर गया। वहाँ जाकर उसने गुरु से दमघोप के वीर पुत्र शिशुपाल के सम्वन्ध मे कहा कि हे पुरोहित ! यदि मेरी वहिन रुक्मिणी नरश्रेष्ठ शिशुपाल से विवाह कर सके तो अत्यन्त अनुग्रह हो।

अलकार—यमक।

(३६) रुक्मि की आज्ञा के आधीन होकर व्राह्मण ने यह भी न सोचा कि क्या करना भला है और क्या वुरा, उसने आज्ञा पालन करने में तनिक भी विलम्व न किया। विचार करने से भी पहिले वह विप्र लग्न लेकर चदेवरी नगरी जा पहुँचा।

अलकार—अत्यन्तातिशयोक्ति।

(३७) निमन्त्रण पाने पर शिशुपाल, जिसकी गति का वर्णन अन्य ग्रथो में अथवा प्रस्तुत ग्रथ में किया गया है, अत्यन्त उल्लसित होकर विवाह करने के लिए चला। उसके साथ चलनेवाले राजाओ की अपरिमित सख्या थी। यह कौन जानता है कि देश-विदेश के कितने राजा-महाराजा उसके साथ चले।

(३८) शिशुपाल के आगमन की सूचना पाकर राजा भीष्मक के घर अनेक उत्सव मनाए जा रहे है। नगाडे पर प्रहार हो रहा है। कुण्डिनपुर नगर भर मे वस्त्रो के मण्डपो की रचना की जा रही है। उन मण्डपो पर स्वर्ण-कलश वाँधे जा रहे है।

अलकार—यमक।

(३९) घर-घर में प्रत्येक दीवार स्फटिक की ईंटो से चुनी गई और ईंगुर के गारे से लीपी गई है। यह दृश्य अत्यन्त अद्भुत तथा आकर्पक है। प्रत्येक घर की छत में चन्दन के तख्ते तथा किवाड भी चन्दन के ही लगे हुए है। उनके खम्भे मूँगे के वने हुए है, जिनके नीचे का भाग पन्ने का वना हुआ है।

अलकार—उदात्त ।

(४०) श्याम और श्वेत रग के वितान-रूपी-बादल तने हुए है। अनेक प्रकार के वजते हुए वाजो का शब्द भी मानो वादलो का घनघोर गर्जन है। द्वार-द्वार पर स्थापित महराबो में चित्रित मयूर मानो पर्वतो पर नृत्य करते हुए मोर ही है।

टि०—ठा० जगमालसिंहजी ने 'पटल' का अर्थ 'वस्त्र' मानते हुए यह अर्थ किया है—"जो श्वेत और श्याम रेशमी कपडो के समूह है, जो मण्डप बनाने में लगाये गये है, वे ही वादल है।" किन्तु सस्कृत टीकाकार ने 'जोइ' शब्द का अर्थ 'स्त्री' मानते हुए इसका निम्नलिखित अर्थ किया है।...."स्त्रियो ने श्यामल, उज्ज्वल इत्यादि रग-विरगे जो वस्त्र पहने है वही मानो रग-विरगे वादलो के समूह है। 'जोइ' के मेल में अगली पक्ति में आये हुए 'सोइ' के कारण इसका अर्थ योपित—स्त्री—मानने पर 'सोइ' के मेल का सौन्दर्य नही रहता, अतएव सस्कृत टीकाकार का अर्थ ग्राह्य नही प्रतीत होता।

अलकार—उत्प्रेक्षा-सयुक्तरूपक ।

(४१) शिशुपाल के साथ वारात में सम्मिलित राजाओ ने कुण्डिनपुर के समीप पहुँचने पर अपने हाथो को मस्तक पर रखकर दूर तक देखते हुए कहा —दूर पर यह नगर है अथवा श्वेत बादल का छोर है। धवलगिरि है है या ऊचे-ऊचे सफेद प्रासाद ही है।

अलकार—स्वभावोक्ति, सदेह।

(४२) वारात को आती देखकर कुण्डिनपुर की नारियाँ झरोखो में चढ-चढकर धवल-मगल—मागलिक गान—गाती है। उस समय उनकी प्रसन्नता से ऐसा प्रतीत हुआ मानो शिशुपाल का मुख सूर्य है और जिस प्रकार सूर्य को देखकर कमलिनी विकसित होती है, उसी प्रकार अन्य पद्मिनी नारियाँ शिशुपाल को देखकर प्रफुल्लित हो रही है। केवल रुक्मिणी ही कुमुदिनी-सदृश—उदास—हो रही है।

अलकार—उत्प्रेक्षा, उपमा, व्याघात ।

(४३) रुक्मिणीजी महलो पर चढ-चढ़कर, जाली से, मार्ग में चलते हुए पथिको को देखती है। उनका शरीर घर पर होते हुए भी मन उस श्रीकृष्ण से

मिल गया है—उन्ही के स्मरण में लीन है। रुक्मिणीजी न कृष्णजी के लिए एक कागज़—पत्र—लिख रखा है। यह पत्र अश्रु–मिश्रित कज्जल-रूपी-स्याही तथा नाखून-रूपी-लेखनी द्वारा लिखा है।

अलकार—रूपक।

(४४) इमी वीच रुक्मिणीजी को पवित्र यज्ञोपवीतधारी एक ब्राह्मण दिखाई दिया। प्रणाम करने के अनन्तर आतुर रुक्मिणी उससे कहने लगी—हे भाई, पथिक, ब्राह्मण, मेरा यह सन्देश द्वारिका तक पहुँचा दो।

टि०—रुक्मिणी की आतुरता के प्रदर्शन के लिए एक साथ तीन सम्बोधनो का प्रयोग किया गया है।

अलकार—स्वभावोक्ति।

(४५) रुक्मिणीजी ने उम ब्राह्मण से कहा कि विलम्ब मत करो और एकाग्र-चित्त से, जहाँ यादवेन्द्र कृष्ण है, वहाँ जाओ। मेरे मुख से कही हुई पग-वन्दना को अपने मुख से कहने के उपरान्त उनको यह पत्र देना।

(४६) ब्राह्मण के द्वारिका जाते समय सूर्य की किरणे विलीन हो गई अर्थात् सूर्यास्त हो गया। घर-घर में दीप जगमगा उठे। कोई-कोई पथिक ठहर जाओ! ठहर जाओ! कहते हुए मार्ग में ही रुक गये। वह ब्राह्मण भी कुन्दनपुर मे वाहर आने पर रात्रि हो जाने के कारण आगे नही गया और सो गया।

(४७) "विवाह का दिन निकट ही है और द्वारिका नगरी दूर है। यही भय है कि वहाँ किम प्रकार पहुँच सकूँगा।" इस प्रकार चिन्ता करता हुआ वह विप्र सन्ध्या होने पर कुन्दनपुर में ही सो गया। प्रातःकाल जागने पर उसने अपने आपको द्वारिका मे पाया।

अलकार—विभावना।

(४८) जागने पर उसे कही तो वेदपाठ का स्वर सुनाई दिया, कही शखनाद सुनाई दिया तथा कही झालरो की झनकार तथा नगाडो का घननाद भी उसने सुना। इस प्रकार एक ओर तो उसे नगर का कोलाहल सुनाई पड रहा था और दूसरी ओर—द्वारिका के समीपवर्ती—समुद्र की लहरो का शब्द सुनाई पडता था। नगर तथा समुद्र दोनो में समान रूप से

कोलाहल हो रहा था। तात्पर्य यह कि द्वारिका नगरी भी इतनी दीर्घकाय तथा जन-सकुल थी कि उसके कोलाहल की तुलना समुद्र के गभीर नाद से की जा सकती थी।

अलकार—देहरी दीपक, सार तथा तुल्ययोगिता।

(४९) चपा-पुष्प की पँखडियो के सदृश स्वर्ण वर्ण वाली पनिहारिनो के वृन्द शीश पर स्वर्ण के कलश लिये कमल के समान अपने कोमल हाथो से उन्हें पकडे हुए है। पवित्र ब्राह्मण ही स्वच्छ जलवाले जलाशयो पर चलते-फिरते तीर्थ है। अर्थात् उनके साथ रहने का पुण्य-फल तीर्थ-निवास के समान ही है।

टि०—तीर्थ तीन प्रकार के माने गये है —

१—ब्राह्मण आदि के चलते-फिरते—जगम तीर्थ।

२—सत्य, क्षमा, दया, ब्रह्मचर्य, मधुरभाषणादि—मानस तीर्थ।

३—स्थल विशेष —काशी, प्रयाग, द्वारिका आदि—स्थावर तीर्थ।

अलकार—उपमा, रूपक, लाटानुप्रास, स्वभावोक्ति।

(५०) विप्र ने देखा कि घर-घर मे यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है। प्रत्येक यज्ञस्थल में तप-जप किया जा रहा है। प्रतिमार्ग में मजरी से लदे आम के वृक्ष सुशोभित है। और उनमें से प्रत्येक पर कोकिल मधुर आलाप कर रही है।

अलकार—एकावलि।

(५१) उपर्युक्त कार्यकलापो को देखकर ब्राह्मण बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और सोचने लगा कि यह, जो कुछ मै देख रहा हूँ, प्रत्यक्ष है अथवा यह स्वप्न मात्र है। क्या मै इन्द्रपुरी में आ गया हूँ ? ब्राह्मण ने जिससे भी जाकर पूछा, उसने यही कहा कि हे ब्राह्मण! यह सुन्दर द्वारिकापुरी है।

अलकार—सदेह।

(५२) अपने को द्वारिका में आया हुआ सुनकर ब्राह्मण का मन प्रसन्न हुआ। ऐसा बतानेवाले व्यक्ति को प्रणाम करके वह आगे चला। पूछते-पूछते कृष्णजी के अन्त पुर मे पहुँचा जहाँ उसे भगवान् की छवि का दर्शन हुआ।

(५३) कृष्णजी के कमलमुख को देखकर ब्राह्मण विचारने लगा कि रुक्मिणी तो अब—मेरे पश्चात् ही—भगवान् का दर्शन करके कृतार्थ होगी, मैं उससे भी पूर्व इनके दर्शन करके अनुगृहीत हो गया।

अलकार—हेतु।

(५४) ब्राह्मण को दूर से ही आता हुआ देखकर अन्तर्यामी जगदीश्वर उठे और उसको प्रणाम करके शास्त्रोक्त अतिथि-सत्कार से भी अधिक उसका आदर किया।

टि०—'अन्तर्यामी' शब्द के प्रयोग द्वारा यह व्यजित कराने का प्रयत्न किया गया है कि कृष्ण ब्राह्मण के हृदय की बात भी जानते थे।

अलकार—परिकर।

(५५) श्रीकृष्ण ने विप्र से पूछा कि, हे मित्र, आप किस नगर से आए हैं, किस नगर में आपका निवास स्थान है, और आपके आगमन का प्रयोजन क्या है? आप बतायें कि आपका किस व्यक्ति से काम है और आप कहाँ जा रहे हैं? जिस व्यक्ति ने यह पत्र भेजा है उसका नाम बताइये।

अलंकार—यथासख्य अथवा क्रम।

(५६) 'मैं कुन्दनपुर से आया हूँ और वही का निवासी हूँ।' यह कहकर विप्र ने श्रीकृष्णजी को पत्र दिया। यह भी बताया कि रुक्मिणी ने उनके लिए ही यह पत्र भेजा है और इसी में सम्पूर्ण समाचार लिखे हैं।

अलकार—यथासख्य।

(५७) पत्र हाथ में लेते ही श्रीकृष्णजी ऐसे आनन्दमग्न हुए कि रोमाच हो आया, अश्रु प्रवाहित होने लगे तथा कण्ठ गद्गद् हो गया जिसके परिणाम-स्वरूप श्रीकृष्णजी से पत्र न पढा जा सका। अत करुणानिधान श्रीकृष्ण ने वह पत्र ब्राह्मण को ही दे दिया।

अलकार—स्वभावोक्ति।

(५८) देवाधिदेव कृष्ण की आज्ञा प्राप्त होने पर ब्राह्मण पत्र पढने लगा। पत्र में निवेदित—प्रार्थना—को वह विधिपूर्वक—अर्थात् जिस प्रकार लिखा था वैसा ही—पढने लगा। "हे अशरणशरण, मैं आपकी शरण हूँ।"

था। अतएव पृथ्वीराज को अपने पीछे एक दृढ भूमि मिली, जिसका अनुभव करके उन्होंने अपने काव्य को रूप दिया।

वीरकाल से पूर्व जैन कवियो की जो रचनाएँ मिलती है उनमें दो बातें लक्षित की जा सकती है—(१) लौकिक प्रेम तथा उसका (२) अलौकिक प्रेम में पर्यवसान। जैन आचार्य अपने काव्य का लक्ष्य अलौकिक की प्राप्ति ही रखते किन्तु उसका वर्णन वे लौकिक भूमि पर किया करते थे। लौकिक प्रेम की पराकाष्ठा दिखाकर ही वे उसके प्रति विराग उत्पन्न करने की चेष्टा करते थे, जिसके फलस्वरूप उनके काव्यो में शृगार और शान्त की ही स्थापना रहती थी। शृगार की उत्कटता के पश्चात् ही शान्त की स्थापना उनका ध्येय था। अतएव जैनकवियो की रचनाओ में भी अलौकिकता या आध्यात्मिकता का लक्ष्य रहते हुए भी शृगार की प्रतिष्ठा मिली। बल्कि मेरुतुग का तो मानो नारा ही था कि —

> एऊ जम्मु नग्गुह गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु।
> तिक्खा तुरिय न माणिया गोरी गली न लग्गु॥

अर्थात् यदि भटो के शीश पर खग भग नही हुआ तो एक जन्म व्यर्थ ही गया। यदि तेज घोडे न दौडाए और यदि गोरी-नारी-भी गले न लगी तो भी जन्म व्यर्थ ही हुआ।

स्पष्ट है कि जैन कवियो के समय में भी वीरता प्रदर्शन अथवा नारी-सम्पर्क की ओर कवियो की दृष्टि गई थी। विक्रम स० ११०० के अनन्तर किन्ही णयणदि मुनि की एक प्रेमकथा 'सुदसण चरिउ' अथवा सुदर्शन चरित के नाम से प्राप्त भी होती है। इस ग्रन्थ में नखशिख, प्रकृतिचित्रण, नारी-सौन्दर्य आदि का वर्णन करते हुए पर्यवसान मोक्ष प्राप्ति में किया गया है। अभिप्राय यह कि हिन्दी की आदि धार्मिक रचनाओ में भी धर्म के साथ लौकिक शृगार का चित्रण किया गया है। सिद्धो की रचनाओ में भी शृगार की कमी नही है।

वीरगाथाकाल मे आकर मेरुतुग की भावना ने जोर पकडा। देश पर होने वाले विदेशी आक्रमणो के विरोध मे जो हिन्दू राजा अपनी समस्त शक्ति के साथ खडे हो रहे थे, उन्हे उत्साह दिलाने और देशसेवा के लिये प्रयत्नशील करने के लिये उनकी विरुदावली गाने की भी आवश्यकता थी। उस समय का

टि०—डा० टैसीटरी ने इस दोहले मे दो स्थानो पर पाठान्तर बताया है –

(१) 'तूझ' के स्थान पर 'तूँ जि' तथा 'असरण सरण' के स्थान पर सयुक्त 'असरणसरण'। एक टीका में 'असरणसरण' का अर्थ किया गया है —"वीजउ सरण कोई न थी," अर्थात् श्रीकृष्ण की शरण के अतिरिक्त सभी शरण अरक्षित है।

अलकार—परिकर।

(५९) हे वलि के बांधनेवाले, मुझसे यदि कोई दूसरा विवाह करेगा तो मानो सिंह की बलि को गीदड भोग करेगा, कपिला गौ कसाई जैसे क्रूर के हाथ दी जायगी अथवा मानो चाण्डाल को तुलसी दी जायगी।

अलकार—परिकर तथा निदर्शना।

(६०) आपके अतिरिक्त मेरे लिये अन्य वर को लाना होम की पवित्र अग्नि में उच्छिष्ट वस्तु को डालने के समान बुरा है। ऐसा करना शालिग्राम की मूर्ति को शूद्र के यहाँ स्थापित करने के समान है तथा म्लेच्छ के मुख से वेदमन्त्र के उच्चारण के समान अनुचित है।

अलकार—निदर्शना।

(६१) हे हरि, आपने वाराहावतार लेकर हिरण्याक्ष को मारा तथा पृथ्वीरूप में पाताल से मेरा उद्धार किया। हे करुणामय केशव, उस समय आपको ऐसी—रक्षा-यत्न करने की—सीख किसने दी थी।

अलकार—काकुवक्रोक्ति।

(६२) हे महासागर के मन्थनकर्ता, आपको तव किसने सीख दी थी जव आपने देवता तथा राक्षसो को एकत्र करके मन्दराचल को मन्थन-दण्ड तथा शेषनाग को मथन-रज्जु बनाकर महासागर का मथन करके मेरा—लक्ष्मी का—उद्धार किया था।

अलकार—काकुवक्रोक्ति तथा रूपक।

(६३) हे करुणाकर हरि, आपने किस सीख के कारण रामावतार में समुद्र को वांधकर युद्ध में रावण का वध करके मुझ सीतारूपा का लकागढ से उद्धार किया था।

अलकार—वक्रोक्ति।

(६४) हे शख, चक्र, गदा तथा कमल धारण करनेवाले चतुर्भुज, इस चौथी बार भी आप मेरा उद्धार करें। हे माधव, आप स्वय अन्तर्यामी है, फिर आपसे अपने विचार कैसे प्रकट करूँ। आप स्वय ही जानते है कि मेरे मन मे क्या विचार है।

अलकार—वक्रोक्ति तथा परिकर।

(६५) आप स्वय जानते ही है तथापि विवाह का दु.खदायी दिन निकट आ गया है और आप दूर है। मै एक तो नारी हूँ—अर्थात् अबला हूँ—दूसरे प्रेमातुर भी हूँ। आपसे कहे बिना नही रह पाती, इसी कारण प्रार्थना कर रही हूँ।

अलकार—समुच्चय।

(६६) लग्न-तिथि मे अब केवल तीन ही दिन का अन्तर शेष है।—ऐसी अवस्था में षड्यत्र के विषय में अधिक कथा क्या कहूँ, केवल इतना ही सकेत करती हूँ कि मै नगर के निकट अम्बिकालय मे पूजा के बहाने अवश्य आऊँगी।

(६७) पत्र के आशय को समझकर कृपानिधि श्रीकृष्ण शार्ङ्गधनुष, बाण, सारथी, पुरोहित तथा मार्गदर्शक के साथ अविलम्ब रथ में जा बैठे।

(६८) श्रीकृष्णजी के रथ के चारो घोडो के नाम क्रमश सुग्रीवसेन, मेघपुष्प, समवेग तथा वलाहक है। त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्ण उन्हे इतने वेग से हाँक रहे है कि पृथ्वी, नगर और पर्वत सामने दौडते आते-से प्रतीत होते है।

अलकार—स्वभावोक्ति।

(६९) कुन्दनपुर के समीप पहुँचने पर कृष्ण ने कहा—यह नगर आ गया। हे सारथी, रथ रोक दो। हे ब्राह्मण, रथ छोडकर आप—रुक्मिणी के पास—जायँ। रुक्मिणी को सुख हो इसलिए आप हमारा नाम लेकर उसे हमारे आगमन की सूचना दे।

(७०) चिन्तातुर रुक्मिणी सोच-विचार कर ही रही थी कि वस्तुत श्रीकृष्ण रूठ ही गये है, अन्यथा उन्होने इतनी ढील कभी नही की। उसी समय शुभ-सूचक छीक हुई जिससे उसका धैर्य बँधा।

अलकार—हेतु।

(७१) विप्र का दर्शन करते ही रुक्मिणी का चित्त—शका के कारण पीपल के पत्ते के सदृश—चचल (विह्वल) हो गया। वह न तो कृष्ण का सवाद पूछे विना रह पा रही थी और न सकोच के कारण पूछ ही पा रही थी। ब्राह्मण ज्यो-ज्यो निकट आता गया, त्यो-त्यो रुक्मिणी—उसके भाव जानने के लिए—उसकी मुख-मुद्रा को ध्यान-पूर्वक देखती गई।

टि०—अन्य टीकाओ मे 'धारणा' का अर्थ कान्ति, नूर तथा निर्मलता लिया गया है। यथा —'मुख नी धारणा नूर'—मारवाडी टीका मे। सस्कृत 'में—'मुखस्य धारणा कान्ति तर्कयति सविशेष पश्यति दूतस्य मुखे निर्मलता कार्यसिद्धिलक्षण प्रतीतम्।'

(७२) विप्र ने रुक्मिणी के साथ सखीजनो तथा गुरुजनो को देखकर—स्पष्ट कहने पर भेद खुलने के भय से—विचारकर सूचना देते हुए कहा —'लोग कहते है कि श्रीकृष्ण द्वारिकापुरी से कुन्दनपुर मे पधारे है।'

(७३) विप्र की वात को सुन तथा उसका अभिप्राय समझकर रुक्मिणी ने ब्राह्मण के वहाने उसको प्रणाम किया, किन्तु उसका कारण वस्तुत दूसरा ही था। (अर्थात् रुक्मिणी ने ब्राह्मण को प्रणाम किया जिससे कोई यह समझे कि वह विप्र के प्रति, उसके ब्राह्मण होने के नाते, प्रणाम कर रही है। किन्तु वास्तविक बात यह थी कि वह श्रीकृष्ण को ले आया था।) रुक्मिणी के रूप में स्वय लक्ष्मी ही ने जिस ब्राह्मण के पैर छुए, उसके अर्थ-लाभ करने में कौन-सा आश्चर्य है। अर्थात् उसे अर्थलाभ तो साधारण बात है। (लक्ष्मी की तो कृपा ही पर्याप्त थी, फिर लक्ष्मी स्वय जिसके पैर छुए उसे तो अत्यन्त सौभाग्य-शाली ही समझना चाहिये।)

अलकार—काव्यार्थापत्ति।

(७४) श्रीकृष्ण कोससैन्य कुन्दनपुर गया हुआ सुनकर वलरामजी ने भी युद्ध के लिए प्रस्थान किया। उन्होने अधिक सेना एकत्र नही की, क्योकि एक तो स्वय वलराम पराक्रमी थे दूसरे उनके साथी भी रण-कुशल थे।

अलकार—समुच्चय।

टि०—डा० टैसीटरी ने—'एक उजाथर कलहि अेवाहा,' पाठ स्वीकार किया है। भिन्न-भिन्न टीकाओ में उक्त पाठ का अर्थ इस प्रकार किया गया

है। १—जिके उजायर सग्रामवीर ते सायइ वळी जे कळहे अेवाहा अग्रेसरी आगइ चालिइ स्वामिभक्त ते सायइ लीवा। २—अेक अद्वितीय उजाव[र]इ क°ओज सग्रामइँ धीर ते सायइँ लीवा वळी जिके कळह सग्रामइ अेवाहा अग्रेसरी छइ अथवा दुवाहा क° कळहइ वळी। ३—अेके ये ओजायरइ इति स मिवीरा पुनर् अेवाहा इत्यग्रेसरणयोग्या. स्वामिभक्ता।

(७५) यद्यपि दोनो भाई भिन्न-भिन्न मार्गों से आए तथापि दोनो ने मिलकर ही नगर में प्रवेश किया। स्त्री तथा पुरुप, नागरिक तथा राजा, सज्जन तथा दुर्जन सभी उनको देखने लगे।

अलकार—देहरीदीपक।

(७६) कुन्दनपुर के निवासियो ने अपनी भावनानुसार श्रीकृष्ण को भिन्न-भिन्न रूप में देखा। कामिनियो ने उन्हें साक्षात् कामदेव वताया। दुर्जनो ने उन्हें काल समझा। ईश्वरभक्तो ने उन्हें नारायण कहा। वेदज्ञो ने वेदार्थ माना तथा योगीश्वरो ने उन्हें योगतत्व समझा।

अलंकार—उल्लेख।

(७७) वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण का मुख देखकर लोग परस्पर कहने लगे कि यह रुक्मिणी के पति आ गए हैं। अन्य राजाओ को अव रुक्मिणी के प्राप्त करने की आशा नही करनी चाहिये।

(७८) उनको जनवासे में उतारकर प्रत्येक अतिथि के सम्मुख एक-एक व्यक्ति हाथ जोडकर सत्कार करने के लिए खडा हो गया। वलराम तथा श्रीकृष्ण जैसे प्रतिष्ठित अतिथि राजा के घर आए है तो ऐसी मनुहार होने में आश्चर्य ही क्या। वह तो आवश्यक ही थी।

अल०—काव्यार्थापत्ति।

(७९) रुक्मिणी की सिखाई हुई सखी ने रानी से कहा कि, हे महारानी, राजकुमारी रुक्मिणी पूछ रही है कि यदि आपकी अनुमति हो तो मै आज अम्बिका की यात्रा कर आऊँ।

(८०) तव पति, पुत्र तथा परिवार—कुटुम्बीजनो—से पूछकर रानी ने रुक्मिणी को आज्ञा दी। आज्ञा पाकर श्यामा रुक्मिणी ने देवी की पूजा के वहाने प्रियतम श्रीकृष्णजी से मिलने के लिए शृगार आरम्भ कर दिया।

(८१) गुलावजल मे स्नान करने के अनन्तर उन्होने स्वच्छ वस्त्र पहिने। स्नान के कारण भीगे वालो से टपकते हुए जल की बूंदे ऐसी 'शोभित हो रही थी मानो काले रेशम के धागे टूट जाने से सुन्दर गुणमोती गिरते हुए सुशोभित हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा ।

टि०—'छछोहा' का कुछ टीकाओ में 'उतावला' अर्थ है, कुछ में 'ढीला'।

(८२) रुक्मिणी अपने केशो को, धूप देने के लिये, दोनो हाथो से मुक्त करने लगी। वह दृश्य ऐसा था मानो मनरूपी मृग को फँसाने के हेतु कामदेव का पाश फैलाया गया हो।

अल०—उत्प्रेक्षा।

(८३) वे शृङ्गार करने के लिए स्नान-पट्ट से उतरकर गद्दी पर आकर वैठ गई। इतने में एक सखी दर्पण लेकर उनके सम्मुख खडी हो गई।

(८४) प्रसग—रुक्मिणीजी के गले में बँधे काले डोरे की भिन्न-भिन्न उत्प्रेक्षाएँ कवि कर रहा है —

रुक्मिणी के गले में वँधी काली रेशमी डोरेवाली कण्ठी के कारण उन्हें कपोतकण्ठ कहूँ अथवा नीलकण्ठ कहूँ। उन्हें यमुना से परिवेप्टित हिमालय कहा जाय अथवा यह कहूँ कि मानो शखधर भगवान् विष्णु ने एक अँगुली से शख को मध्यभाग से पकड रखा है।

अल०—सन्देह तथा उत्प्रेक्षा।

(८५) वीच-वीच में पुष्पो से गूँथकर सजाई हुई उनकी चोटी ऐसी शोभित होती है मानो ससार को पवित्र करनेवाली यमुना के फेन शोभित हो रहे है। उनके मस्तक के वीचोबीच निकाली गई माँग मानो आकाश-गगा है।

अल०—उत्प्रेक्षा।

टि०—सस्कृत टीकाकार ने "जमुण फेन पावन्न जग" पक्ति का अर्थ किया है —जगत्पावनी गगा से मिली हुई फेनयुक्त यमुना के समान।—'उत्प्रेक्ष्यते जगत्पावन्यागगाया फेनयुक्ता यमुना इव।'

(८६) रुक्मिणी के नुकीले नेत्र ही तीक्ष्ण वाण है जो कुण्डलरूपी शाण पर तेज़ किए गये है। शलाका रूपी सिल्ली पर काजल रूपी जल डाल-डालकर वार-वार तीक्ष्ण करने के लिए मानो वह नयन-वाणो को वाढ दे रही है।

अलंकार—रूपक तथा उत्प्रेक्षा।

(८७) श्यामा रुक्मिणी ने अपने हाथों से अपने मुख पर शिवजी के ललाट पर स्थित नेत्र के रूपवाला कुंकुम का सुन्दर तिलक बनाकर फिर शिवजी के ललाट के अर्द्धचन्द्र के आकार का तिलक बनाया, किन्तु शिव के ललाट-स्थित चन्द्र तथा नेत्र के कलंक तथा धूम्र को उन्होंने काटकर निकाल बाहर किया। (उनके मुख पर बनाये गये दोनों प्रकार के तिलक इन दोनों दोषों से रहित हैं। न उनमें शिवजी के ललाटस्थ तीसरे नेत्र में कोपाग्नि के कारण धुँआ ही है और न शिवजी के अर्द्धचन्द्र में दीखनेवाली कालिमा ही है।)

अलंकार—व्यतिरेक।

(८८) रुक्मिणीजी के मुख तथा मस्तक के सन्धिस्थल अर्थात् ललाट पर लगा हुआ रत्न-जटित टीका मानो रुक्मिणी का भाग्य है जो शिशुपाल के आने से उससे भयभीत होकर ग्रीवा के पृष्ठ-भाग में जा छिपा था। वही अब श्रीकृष्णजी के आने से निर्भय होकर माँग के मार्ग से आकर ललाट पर सुशोभित हो गया है।

अलं०—उत्प्रेक्षा।

(८९) रुक्मिणी के नेत्ररूपी मृग जुवे के सदृश भौंहों द्वारा जुते हुए हैं और उनकी वक्र अलकें मानो सर्पमयी रास हैं। रुक्मिणी का मुखरूपी चन्द्रमा ही रथ का सारथी है, उनके कानों की बालियाँ ही मानो रथ के बाँकिये हैं, और कर्णफूल ही रथ के पहिये हैं।

अलंकार—उपमा, रूपक, सन्देह, उत्प्रेक्षा।

(९०) रुक्मिणीजी के पयोधरों पर बँधी कंचुकी मानो हाथी के कुम्भ-स्थल की अँबेरी अर्थात् जालीदार आवरण है। अथवा ऐसा प्रतीत होता है, मानो कामदेव से युद्ध करने के लिए उससे बचाव के हेतु शम्भु ने कवच पहन रखा है। अथवा मानो श्रीकृष्ण के स्वागत हेतु मण्डप सुसज्जित किया गया है और कंचुकी को कसे हुए बन्धन बाँधकर उनके लिए वितान ताना गया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, उल्लेख तथा रूपक।

टि०—'बारगह' शब्द के तम्बू तथा पायगह दोनों अर्थ किये जाते हैं। तम्बू का अर्थ करते हुए ही संस्कृत टीकाकार ने—पटकुटीयुगल रचितमिव—

कहा है। दूसरे अर्थ के अनुसार पक्ति का अर्थ यह होगा —मानो कुच-रूपी हाथियो को उनके स्थान में गजबन्धिनी डोरो अथवा साँकलो से बाँध दिया है। पाठा० 'मन हरि आगे मण्डे मण्डप,' का अन्य अर्थ एक टीकाकार ने निम्न प्रकार से किया है —श्रीकृष्णजी का मन कै ताँई मण्डप छायो छै जु मन आय बैसिसी।

तुलना—जाली की आँगी कसी यो उरोजनि, मानो सिपाह सिलाह किये द्वै।—मन्नालाल

(९१) मृगेक्षिणी रुक्मिणीजी के कण्ठ मे पहनी हुई कण्ठी मानो हृदय-स्थित अथवा अदृश्य सरस्वती है जो कण्ठी के रूप मे बिम्ब की भाँति प्रकट हो गई है। गले में पडी हुई मोतियो की माला मानो सरस्वती-कृत विष्णु का यशगान है।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—अत्यन्त रमणीय उत्प्रेक्षा है। यश का रग श्वेत माना गया है तथा सरस्वती की श्यामल कण्ठी श्याम रग की है और मोती श्वेत रग के है। अतएव कण्ठी को सरस्वती तथा मोतियो को यशगान कहना युक्तियुक्त है। साथ ही यह व्यजना भी अत्यन्त रमणीय है कि सरस्वती का वास हृदय मे होता है और वह कण्ठ द्वारा मुखरित होती है। रुक्मिणीजी के हृदय मे श्रीकृष्णजी का निवास है जिनका रुक्मिणी यशगान करना चाहती हैं। वही मानो माला रूप में यशगान करती है।

(९२) रुक्मिणी की गौर भुजाओ में बँधे हुए भुजबघो के काले रेशमी सिरे ऐसे सुशोभित है, मानो चन्दन की शाखाओ से बँध हुए मणिजटित हिन्दोलो में मणिधर झूल रहे हैं।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(९३)—रुक्मिणीजी अपनी गौर कलाइयो में गजरे तथा नवरत्नी पहुँचियाँ धारण किये हैं। पहुँचियाँ काले रेशमी डोरे से भली प्रकार परिवेष्टित है। उन पहुँचियो तथा गजरो को पहने हुई रुक्मिणीजी के कर ऐसे शोभित हो रहे है मानो हाथ-रूपी-हस्त-नक्षत्र ने गोलाकार गजरे और पहुँची-रूपी-चन्द्रमा को वेध लिया है अथवा मानो भ्रमराच्छादित अर्द्धविकसित कमल है।

टि०—'वळे वळे विधि विधि वळित' पक्ति का अर्थ सस्कृत तथा मारवाडी टीकाओ में निम्न प्रकार दिया गया है।—वळी वळय श्याम पाटकज विवइ विवइ आंपापण स्यानक बाँध्या। २—तथा च वलय श्यामपट्टसूत्रग्रथितो विधि विधि यथास्थान निवेशिता। अर्थात् यह टीकाकार विधि-विधि का अर्थ भली प्रकार न करके यथास्थान करते है।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(९४) वक्षस्थल पर मोतियो का हार धारण करने के कारण आज कुम्भस्थल तथा वक्षस्थल मे समानता ही है, किन्तु फिर भी दोनो में वडा अन्तर है, क्योकि मोती धारण करके भी हाथी वैसी शोभा प्राप्त नही करता, जिसके कारण ही वह लज्जित होकर अपने मस्तक पर धूल चढ़ा रहा है।

अलकार—हेतूत्प्रेक्षा।

(९५)—पहले वस्त्रो को उतारकर नवीन वस्त्र धारण किए रुक्मिणी का, कवि किस प्रकार वर्णन करे, उसकी शोभा अकथनीय है। तथापि एक यह उपमा दी जा सकती है कि यदि रुक्मिणी का शरीर लता है तो उनके वस्त्र वेलि के पत्ते और आभूपण पुष्प तथा पयोधर फल है।

अलकार—उपमा।

(९६) श्यामा रुक्मिणी ने मुट्ठी से नापी जानेवाली क्षीण कटि पर करधनी पहन रखी है। उसकी ऐसी शोभा है मानो सम्पूर्ण ग्रहसमूह सिंह राशि पर एकत्र हुए है, जिनसे रुक्मिणी के भाग्योदय की सूचना मिलती है।

अलकार—अत्युक्ति तथा उत्प्रेक्षा।

टि०—कटि की क्षीणता की उपमा सिंह की कटि से देने की रूढि है। करधनी में नौ रग के रत्न जडे हुए है, जो नक्षत्रो के समान है। अतएव सिंह राशि पर ग्रहसमूह एकत्र है, ऐसी कल्पना की गई। ज्योतिप के नियमानुसार ऐसी स्थिति भाग्योदय की सूचक है। अत. पता लगता है कि रुक्मिणी को कृष्ण की प्राप्ति होकर मनोवाछित वस्तु मिल जायगी। इस प्रकार की कल्पना द्वारा लेखक ने अपना ज्योतिष-ज्ञान प्रकट किया है।

सस्कृत टीकाकार ने 'भावीशोचका' पाठ की कल्पना करके एक अन्य अर्थ देते हुए लिखा है —एकस्या राशौ स्थिता सर्वे ग्रहा जन्मसंज्ञका भावीशोचका

इति पाठे दुर्दशादर्शकास्तस्या राशे क्षीणत्वप्रतिपादकोऽ त कटी क्षीणा जातेती-दमपि वितर्कण न्याय ।

(९७) चन्द्रवदनी रुक्मिणीजी ने अपने पगो मे स्वर्ण के नूपुरो से सजी हुई पायजेव धारण की है जिसके कारण उनके पग ऐसे प्रतीत होते है मानो कमल के मकरन्द की भ्रमरो से रक्षा के निमित्त पीले वस्त्रवाले रक्षक नियुक्त किये गये हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा ।

टि०—अत्यन्त रमणीय कल्पना के सहारे पदकमल तथा स्वर्ण-नूपुर-रूपी पहरेदारो का वर्णन करके एक सजीव तथा व्यजक चित्र खीचा गया है।

(९८) जिस गुणमोती को समुद्र से चुन लिया वही नासिका के अग्रभाग में स्थित होकर वस्तुत गुणमय मोती वन रहा है और हँसता या झूलता है, मानो नासिकारूपी शुकदेव मुनि मोतीरूपी श्रीमद्‌भागवत का पाठ कर रहे है अथवा शुक भगवान् का जप कर रहा है।

अलकार—उत्प्रेक्षा तथा रूपक।

टि०—मोती समुद्र से खोजकर लिया गया था, अत स्वय अत्यन्त गुणमय रहा होगा, किन्तु उसके पहनने से रुक्मिणी की शोभा उतनी नही वढी जितना कि मोती का 'गुणमोती' नाम सार्थक हो गया। इससे रुक्मिणी के स्वाभाविक सौन्दर्य की श्रेष्ठता सिद्ध है।

उत्तरार्ध का अन्य अर्थ भी दिया जाता है —

इस प्रकार सौन्दर्य को वढाता हुआ वह गुणमोती रुक्मिणीजी की नासिका में क्या झूल रहा है मानो रुक्मिणी की नासिका के समान सुन्दर कोई तोता अपने मुख से मोती के समान उज्ज्वल भगवान् के गुणो का बारम्बार गुण- गान कर रहा है। वार-बार उसके मुख से हरे कृष्ण, हरे कृष्ण की ध्वनि हो रही है।

(९९) रुक्मिणीजी के मुखरूपी रक्त-कमल में पानरूपी मकरन्द सुशोभित है और दाँतो की कान्ति केशर के सदृश दीप्त हो रही है। एक वीडा बनाकर उन्होने वाएँ हाथ में ले रखा है। वह ऐसा प्रतीत होता है मानो शुक चमेली पर क्रीडा कर रहा है।

अलकार—उपमा तथा उत्प्रेक्षा।

टि०—'करि इक वीडौ', का अन्य अर्थ सस्कृत टीकाकार ने निम्न रूप में भी किया है —रुक्मिणी का हाथ चमेली की कोमल डाल के सदृश है, उस पर अँगुलियाँ-रूपी श्वेत पुष्प लगे है, जिनके पास मे बैठा हुआ बीडा-रूपी तोता नासिका-रूपी-तोती के साथ प्रेमक्रीडा कर रहा है।

(१००) श्यामा रुक्मिणीजी ने शृगार करने के अनन्तर देवी के मन्दिर जाने की इच्छा की। उन्होने मुक्ता-जटित जूतियाँ पहनी जो ऐसी शोभित है मानो मुक्ताजटित जूतियो के बहाने हस रुक्मिणी की चाल से स्पर्धा छोडकर उनके चरणो में लिपट रहे है।

अलकार—कैतवापह्नुति।

(१०१) रुक्मिणीजी के अग-प्रत्यग पर विविध प्रकार के रत्नो से कान्तिमान् आभूषण-पक्ति उनके नील परिधान के अन्दर ऐसी झलक दे रही है मानो कामदेव ने प्रसन्नचित्त होकर घर-घर को दीपमाला से सुसज्जित किया हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(१०२) रुक्मिणीजी की सखियाँ अपने हाथो मे अनेक पूजा-सामग्री लिये हुई है, उसीका वर्णन है —किसी के हाथ मे गुलाबजल है और किसी के हाथ मे कुकुम। कोई अपने हाथो में पुष्प लिये है, तो कोई कपूर। किसी के हाथो मे पान है तो किसी के हाथ में अरगजा शोभित है। किसी-किसी के हाथ में धूप रखा है।

अलकार—उल्लेख।

टि०—सस्कृत तथा अन्य टीका में 'पान' का अर्थ 'पान का डब्बा' किया गया है।

(१०३) रुक्मिणीजी सखियो सहित जिस प्रकार पालकी की ओर चली उसका वर्णन करना मेरी बुद्धि की शक्ति नही। सखियो से घिरी हुई रुक्मिणी ऐसी प्रतीत होती है मानो लज्जा से घिरा हुआ साक्षात् शील ही हो। अर्थात् रुक्मिणीजी अपने शील के आधिक्य के कारण साक्षात् शीलरूप ही है और लज्जा शील का आवरण है, अतएव सखियाँ लज्जा के सदृश है।

रम-दृष्टिकोण केवल वीर तथा शृगार तक ही सीमित था। अन्य रस जहाँ तहाँ अग रूप मे आ जाते थे। भापा भी वीरभावोपयुक्त डिंगल ही थी।

वीरगाथाओ के वाद भक्तिकालीन रचनाओ का जो रूप उपस्थित किया गया उनमे तुलसी ने राम के विष्णु रूप का मर्यादित चित्रण किया, सूर आदि ने कृष्ण की मवुरा-भक्ति को जन्म दिया और उनकी सख्य-भाव से उपासना की। इनकी रचनाओ में व्याकुल-विरह के अथवा मवुर सयोग-शृगार के अनुपम चित्र अकित किए गए। कृष्ण और राम के चित्रण का इतना जोर वढा कि एक ही कवि ने दोनो रूपो का वर्णन भी किया और तुलसी ने इसी भावना से कृष्ण-गीतावली की रचना की। जयदेव की मवुर पदावली का जो स्वर विद्यापति की कविता मे सुनाई दिया वही सूर और नन्ददास आदि की ब्रज-मावुरी मे पगा छनता चला आ रहा था और उसका प्रभाव आगे चलकर यहाँ तक वढा कि विदेशी मुसलमान भी हिन्दू की भाँति कृष्ण की उपासना में लीन रहकर रसखान वन गए। राजपूताने में भी कोकिल की मवुर तान लेकर मीरा ने गिरवर गोपाल के आगे नाचने मे अपनी कुल कानि की भी परवा न की और वह राग अलापा जो आज तक भक्त के हृदय को सीचता चला आ रहा है। रहीम जैसे व्यक्ति भी इसी मावुरी मे पगे विना न रह सके।

प्रेमगाथाएँ हिन्दू चरितो को लेकर सूफी रग में रगी हुई वह रचनाएँ है जिनमे नायक, नायिका के स्वरूप का वर्णन सुन मोहित होकर उसे प्राप्त करने का, प्रयत्न करता है, और गुरु उसको साहाय्य देता हुआ अनेक विघ्नो से वचाता हुआ नायिका से मिला देता है। इन नायिकाओ का स्वरूप वड़ा ही विचित्र और अलौकिक है। यह प्रेमकथा मानो आत्मा-परमात्मा का ही रूपक है, केवल कथा नही। इसमें अनेकवार शैतान विघ्न उपस्थित करता है। और उन विघ्नो में अविचलित रहकर ही आत्मा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। इन रचनाओ में भी शृगार की प्रधानता है और इनका नामकरण विशेषत नायिका के नाम पर ही हुआ है। इसी प्रकार की प्रेमगाथा का आधार लेकर १६३९–४० के आसपास आलम ने कामकन्दला की रचना की थी। इस प्रकार हम देखते है कि काव्य की यह धारा पृथ्वीराज के समय भी प्रवाहित थी।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(१०४) जिन योद्धाओ को रुक्मिणीजी के साथ जाने की आज्ञा थी, वह योग्य घोडो को देख-देखकर उनपर चढ-चढकर रुक्मिणी के साथ चलने के लिए आ गये। कवच में समाया हुआ उनका शरीर ऐसा प्रतीत होता था, जैसे दर्पण में समाया हुआ प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

अलकार—उपमा।

(१०५) पद्मिनी रुक्मिणी के अगरक्षक पैदल सैनिक उत्साहपूर्वक प्रसन्न होते हुए पर्वत के सदृश शरीरवाले मदमत्त हाथी की गति से मस्त होकर चले।

अलकार—उपमा तथा अनुप्रास।

(१०६) अश्व अत्यन्त शीघ्र चल रहे है और उनके मध्य में रथ चल रहा है। सैनिक चन्द्रवदनी रुक्मिणीजी का मार्गानुसरण कर रहे है। यह दृश्य ऐसा दिखाई देता है मानो अयोध्यानिवासी वैकुण्ठ जाने के हेतु सरयू नदी मे स्नान कर रहे है।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—जगमाल सिहजी ने प्रथम दो पक्तियो का अर्थ दूसरे प्रकार से किया है। उनका अर्थ है —"घोडे वेग से चल रहे है, रथ अन्तरिक्ष में—के मार्ग से—चल रहा ह। और श्रीकृष्ण बडे चाव से चन्द्रमुखी रुक्मिणी के मार्ग का अनुसरण कर रहे है।"

इस अर्थ का समर्थन करने के लिए सम्पादकोने टिप्पणी लिखते हुए कहा —

आकाश-मार्ग से चलते द्वए भगवान् के रथ की और उसके नीचे पृथ्वीतल पर मार्ग म चलती हुई रुक्मिणी की सवारी की कैसी मनोहर छटा है, मानो मार्ग-रूपी सरयू नदी में, वैकुण्ठ जाने के निमित्त, रुक्मिणी की सवारी के साथ चलनवाले अगरक्षक-रूपी अयोध्यावासी स्नान कर रहे है। उनके ऊपर आकाश-मार्ग से अदृश्यरूप में चलता हुआ भगवग्न् कृष्ण का रथ क्या है, मानो भगवान श्रीरामचन्द्र, अपने पुष्पक विमान में वैठे हुए, अयोध्यानिवासी को सदेह वैकुण्ठ पहुचाने के लिए विमान रोककर उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे है।

हमारे विचार से संस्कृत तथा अन्य टीकाकारो ने जो पहला अर्थ किया है, जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है, उसमें इस अर्थ के समान कष्ट-कल्पना नही है। जगमाल सिंहजी को अदृश्य रथ की कल्पना का सहारा लेना पडा है। पहले अर्थ मे यह स्पष्ट हो जाता है कि रुक्मिणी की रक्षा के लिए उन्हे सैनिको के बीच रखा गया है और सब उसीका अनुसरण कर रहे है।

(१०७) अम्बिकालय के पार्श्व में पडी हुई सेना ऐसी दीख पडती है मानो चन्द्रमा के चारो ओर जलहरी अथवा चक्राकार मण्डल है। या ऐसा प्रतीत होता है मानो सुमेरु पर्वत के चारो ओर नक्षत्रो की माला हो अथवा शिवजी के कण्ठ में मुण्डमाल हो।

टि०—(१) चन्द्रमा के चारो ओर जलहरी का दिखाई ेना वर्षा का सूचक होता है। इस स्थल पर रक्तवर्षा होने की सूचना दी गई है।

(२) 'पारम' शब्द के भिन्नभिन्न टीकाकारो ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थ लगाए है.–(१) चारो ओर, (२) दोनो पार्श्व मे, (३) परित, (४) पारस पाखाण (की देहरी)।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(१०८) रुक्मिणीजी ने देवालय में प्रविष्ट होकर अत्यधिक श्रद्धा, हित तथा प्रीतिपूर्वक देवी का दर्शन किया तथा स्वय अपन हाथो से देवी की पूजा करके उसके बदले म इच्छित फल अपने हाथ मे किया, अर्थात् फल प्राप्त किया।

(१०९) चितवन-रूपी आकर्षण, मोहिनी मुस्कान-रूपी वशीकरण, अगभगी-रूपी उन्मादक, गति-रूपी-द्रविण और सकोच-रूपी-शोषण, इन पाँचो काम-देव के शरो को धारण करके सुन्दरी रुक्मिणीजी ने देव-मन्दिर के द्वार में प्रवेश किया।

टि०—(१) कामदेव अपने इन पाँचो शरो द्वारा मनुष्य को जीत लेता है। इसी प्रकार रुक्मिणीजी के इन पाँचों व्यापारो में कामदेव के पचबाणों के सदृश शक्ति थी। रुक्मिणीजी की चितवन मे हृदय आकर्षित करने, मुस्कान में हृदयवश में करने, लास्यपूर्वक अगभगी में उन्माद उत्पन्न करने, गति में

हृदय पिघलाने तथा सकोचपूर्ण शील तथा लज्जा में हृदय की चेतना हर लेने की शक्ति है। इससे प्रतीत होता है कि रुक्मिणीजी श्रीकृष्णजी पर विजय प्राप्त कर लेंगी।

(२) तृतीय पक्ति में 'गति' के स्थान पर 'मन' पाठान्तर भी है। तीन टीकाओ में उसका अर्थ 'स्वत. दर्शन द्वारा' किया गया है।

(३) 'संच' का अर्थ 'उद्यम किया' अथवा 'प्रपञ्च कृत' भी लिया गया है।

(४) कामदेव के प्रसिद्ध पाँच वाणो की सख्या निम्नप्रकार वताई जाती है :—

(अ) समोहनोन्मादौ च शोपणस्तापनस्तथा।
स्तभनश्चेति कामस्य पच बाणा प्रकीर्तिता ॥

अथवा (व) अरविन्दमशोक च चूत च नवमल्लिका।
नीलोत्पल च पञ्चैते पचवाणस्य शायका ॥

सभवत कवि ने 'सम्मोहन' के स्थान पर 'वशीकरण', 'तापन' के स्थान पर 'द्रविण' तथा 'स्तम्भन' के स्थान पर 'आकरसण' का प्रयोग किया है।

अलकार—यथासख्य।

(११०) (रुक्मिणीजी के ऐसे व्यापार तथा अगभगी को) देखते ही सम्पूर्ण सेना मूच्छित हो गई। उन (सैनिको) का मन निश्चल हो गया। उन्हें ययाय ज्ञान नही रहा (अथवा नि शक्त-से हो गए)। (उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता था) मानो देवालय निर्माण के साथ ही साथ यह प्रस्तर-प्रतिमाएँ भी खोदकर वनाई गईं थी।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—(१) सस्कृत टीकाकार ने 'तह' का अर्थ 'शक्ति' माना है। पारीकजो के अनुसार यह फारसी शब्द है और इमका अर्थ 'चेतना' अथवा 'यथार्थ ज्ञान' होना चाहिए।

(२) सस्कृत टीकाकार के अनुसार 'निकुटीए' का अर्थ 'सूत्रधारिभि' होना चाहिए।

(१११) त्रिभुवनपति कृष्ण अश्वो को हाँकते हुए शत्रु सेना के मध्य इतनी तीव्र गति से अचानक आ गए कि पता ही न चला कि वे पृथ्वी पर

अथवा आकाश में से किस मार्ग से होकर आए है। ज्योही उनके रथ का घर्घर शब्द सुनाई पडा वैसे ही रथ भी दिखाई पडा।

अलकार—चपलातिशयोक्ति, भ्रान्तिमान्।

टि०—जगमाल सिंहजी ने उक्त दोहले का निम्न अर्थ दिया है :—"आकाश-मार्ग से घोडो को चलाते हुए वैरियो की सैन्य के बीच मे (भगवान्) पृथ्वी पर आए। उस समय त्रिलोकीनाथ के रथ का शब्द सुनाई दिया कि (इतने ही में) रथ भी दिखाई पडा।"

हमने सस्कृत तथा अन्य टीकाओ का अर्थ ग्रहण किया है। उसमें आश्चर्य का भाव अधिक व्यक्त होता है। सिंहजी के अर्थ मे भगवान् की अलौकिक लीला पर श्रद्धा अधिक है।

(११२) वलि को बाँधने में समर्थ श्रीकृष्णजी ने रुक्मिणीजी के हाथो को अपने हाथो का सहारा देकर उन्हें रथ में बैठा लिया। (उस समय कोला-हल मचा अथवा स्वय कृष्ण ने व्यगपूर्वक ललकारा कि) यदि कोई रुक्मिणी का वर हो तो उसकी रक्षा के लिए दौडे, क्योकि हरिणाक्षी को हरि हरण करके लिए जा रहे हैं।

अलकार—परिकर।

(११३) धवलमगल गीत सुनते हुए आला-आला (एक से एक बढकर) सजे हुए सरदारो ने पुकार सुनते ही अपने शरीर पर पहने हुए केसरिया वस्त्रो के स्थान पर कवच पहिन लिए, मानो बहुरूपियो ने वेश बदल लिया हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—(१) सस्कृत तथा ढूँढाडी टीकाओ में प्रथम पक्ति का अर्थ इस प्रकार दिया गया है —जहाँ मगल-सूचक धवल गीत सुनाई पडते थे, वहाँ अब पुकार सुनाई पडती है।

(२) 'साहुलि' का दोनो टीकाओ मे 'कूक' या 'पुकार' अर्थ किया गया है। सस्कृत टीकाकार ने 'आलूदा' का 'सज्जीभूता.' तथा 'बहुरूप' का 'योगी-न्द्ररूपा' अर्थ किया है। इस अर्थ से वह व्यग्य और हास्य-ध्वनि प्रकट नही होती जो जगमाल सिंहजी के अर्थ से प्रकट होती है। अतएव हमने उसी का अनुसरण किया है।

(११४) नर-श्रेष्ठ श्रीकृष्णजो का पीछा करते हुए वीरो के अश्व चित्रलिखित से दिखाई देते थे। (पीछा करनेवाले चिल्लाकर कहते जाते थे) हे माधव! यह माखन-चोरी नही है। हे ग्वाले! यह ग्वालिन नही है कि इसकी चोरी किए ले जाते हो।

टि०—(१) उक्ति व्यग्य-गर्भित है। 'माखनचोरी', 'ग्वालिन की चोरी' या 'ग्वाला' आदि उक्तियाँ स्यलोपयुक्त है। कवि ने यह प्रकट करना चाहा है कि शत्रु ललकारकर यह वता देना चाहते थे कि 'कृष्ण! यहाँ से वचकर न जा सकोगे, क्योकि यहाँ साधारण काम नही है और न नीच जाति से ही सघर्ष है।' कवि ने पूर्व दोहले में वहुरूपिया कहकर शत्रु की ललकार को निरर्थक सिद्ध कर दिया और इस प्रकार हास्य की सफल सृष्टि की है। व्यग यह है कि भला वहुरूपियो को देखिए कि व्यर्थ ही पुकार मचाए हुए है।

(२) पाठान्तर—अन्य टीकाओ मे 'नह खरता नर वरै नर' पाठ दिया गया है जिसका अर्थ सस्कृत तथा अन्य टीका मे इस प्रकार किया गया है — (१) तीरवइ नरवइ करी घोडो घोडा नइँ नर नर नइँ प्रेरइ छइ (२) नखैः खरतरैरुत्पत्यमानैरश्वैर्नरानर वृन्वते प्रेरयन्ति स्मेति स्वस्ववेगाधिक्यदर्शनम।

अलकार—अत्युक्ति तथा वक्रोक्ति।

(११५) घोडो की टापो से उखडी हुई धूल के मध्य सूर्य इस प्रकार प्रतीत होता है, मानो ववण्डर की चोटी पर पीला पत्ता हो। अश्वो के नथनो के शब्द के कारण नगाडो का निर्घोष भी नही सुनाई पडता।

अलकार—उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

(११६) दोनो सेनाएँ अव तक दूर थी, अतएव (पीछा करनेवालो ने) घोडे दौडाकर अपनी सेना को कृष्ण की सेना के निकट किया। प्रहार सहनेवाले (कृष्ण के) दल ने मुँह फेरा और आक्रमणकारी दल ने घोडो की वाग रोक ली। इस प्रकार दोनो दलो में आमना-सामना हुआ।

टि०—सस्कृत टीकाकार ने 'ढेरवीयाँ' का अर्थ 'शिथिल मुक्ता' किया है जो ठीक नही प्रतीत होता।

(११७) काली अथवा प्रलयकारी-घटारूपी दोनो सेनाएँ आमने-सामने से आई है। रक्त-वर्षा का आसार जानकर दोनो ओर से रणदेवी योगिनियाँ

चली, मानो दोनो ओर से चलती हुई बरसने को उद्यत अथवा वर्षा-सूचक योगिनियों की भेट हुई है।

अलकार—रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष।

टि०—(१) सस्कृत टीका मे 'काळाहणि' का अर्थ 'कृष्णवर्ण' किया गया है।

(२) 'वेपुडी' शब्द का किसी-किसी ने 'नदी' अर्थ करते हुए पक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है —"रक्त तथा जल की दो सरिताएँ प्रवाहित हो रही है।"

(३) ज्योतिष के अनुसार आषाढ कृष्ण एकादशी को वर्षायोग के आरम्भ होने पर योगिनियो का एक चक्र दिखाई दिया करता है, वही योगिनी-चक्र है।

(४) 'आडँग जाणे' का अर्थ एक टीका में 'अन्धकार जाणी' भी किया गया है। दूसरी मे 'लोही वरिसबउ जाणी' लिखा गया है।

(५) वेपुडी, जोगिणी, आडँग तथा काळाहणि शब्दो के प्रयोग द्वारा राजस्थानी वर्षा का चित्र उपस्थित किया गया है।

(११८) बन्दूकें, तोपें तथा (हवाई) बाण चलने लगे। शूरवीरो की गगन-भेदी ललकार सुनाई दी। समुद्र में वर्षा की बूँदो के समान वीरो के लौह-कवचो पर लौह-बाण प्रहार करने लगे। अर्थात् जिस प्रकार बूँद समुद्र में गिरकर विलीन हो जाती है और कोई परिवर्तन प्रतीत नही होता, उसी प्रकार लोहे के कवचो पर लोहे के शरो के प्रहार का कोई प्रभाव नही होता था।

टि०—(१) 'गैगहण' शब्द का अर्थ ढूँढाडी टीका मे "गैय हस्ती त्यां की गहणि हुई। गहण कहतां भीड हुई।" दिया गया है।

(२) सस्कृत टीकाकार ने प्रथम पक्ति में आए नामो को आतिशबाजी के नाम बताया है और 'गैगहण' शब्द में 'गहण' का 'ग्रहण' अर्थ में प्रयोग मानकर लिखा है कि 'रणभूमि वीरो द्वारा ले ली गई', "ग्रहणमिति रणभूमि. सूरैर्गृहीता"।

(११९) भाले-रूपी-सूर्य की किरणें युद्ध में तप्त होकर चमचमाने लगी। बाणो का चलना बन्द हो गया, वही वायु का बन्द होना है। शरीर-शरीर पर खड्गधार चमक रही है, वही शिखर-शिखर पर विद्युत् चमक रही है।

टि०—(१)वर्षा के पूर्व सूर्य की सतापकर किरणो का प्रसार होने पर वायु

वन्द हो जाती है। मेघमण्डल मे दामिनी दमकने लगती है। यहाँ भी धीरे-धीरे सेनाएँ पास आ गई है, अतएव वाणो का चलाना वन्द करके भाले चल रहे है। वाणो का चलना वन्द होना एक प्रकार से वायु का वन्द हो जाना था। भालो का चमकना सूर्य-किरणो के समान था। और भी निकट से युद्ध करने पर भाले छोडकर तलवारो का सहारा लेना पडा। लौह-कवच पर पडकर चमकती हुई तलवारो की धारें ऐसी प्रतीत हुई मानो वर्षा के लिए उद्यत वादलो के शिखरो पर विद्युत् चमक रही है।

(२) शव्द-योजना, सजीव चित्रण, स्वाभाविक वर्णन के लिए यह दोहला परम प्रसिद्ध है। दूर तथा समीप से होते हुए युद्ध का लाघव से रमणीय वर्णन किया गया है। शव्दो में ओज की प्रधानता है।

अलकार—रूपक तथा अनुप्रास।

(१२०) रणभीरु-रूपी अशुभचिन्तको के हृदय नगाडो की गडगडाहट-रूपी-गर्जना से कम्पित हो गए। अस्त्रशस्त्रो की उज्ज्वल धाराओ से उमड़ते हुए रक्तरूपी जल के परनाले वहने लगे।

अलकार—रूपक।

टि०—सस्कृत तथा अन्य टीका में 'असुभकारियौ' का अर्थ यह लिया गया है कि "कायर कहने लगे कि अकाल ही यह उत्पात खडा हो गया है।" यथा—१—कायर इम कहिवा लागा जे असुभकारियौ क॰ अकाळइ असुभकारी उतपात ऊपनउ। २—तैर्ज्ञातमय समयोऽकालिकसमेतमेघवदशुभकार्युत्पातिक।

(१२१) लम्वी-लम्वी चोटीवाली चौंसठ योगिनियाँ युद्धस्थल में कूद रही है। मुण्डो के गिरने पर धड उभर रहे है। वलराम तथा शिशुपाल ने निरन्तर शस्त्र-प्रहार रूपी भारी वर्षा की झडी लगा रखी है।

अलकार—रूपक तथा यमक।

(१२२) रणभूमि मे वहुत-से हाथो के प्रहार से वहुत-से व्यक्ति कट-कटकर गिर रहे है, जिसके फलस्वरूप रुधिर प्रवाहित हो रहा है। उसमें जल वुद्वुद् की आकृति के समान, रणचण्डियो के हाथ से गिरकर खोपडी-रूपी पात्र उलटकर तैर चले है।

(१२३) वलरामजी ने अपने साथियो को उत्तेजित करते हुए कहा कि शत्रुदल अभीतक सावित है—वचा हुआ या रक्षित है। वर्षा होने पर जो हल जोतता है वही विजयी होता है, उसी प्रकार जो अव हाथ चलायेगे (प्रहार करेगे) वही जीतेगे।

टि०—'हल' के स्थान पर 'हव' पाठ देकर 'शीघ्र' या 'अविलम्ब' अर्थ भी किया जाता है, किन्तु हल तथा वर्षा एव 'वाहिस्यइ' शव्दो का सयोजन अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। हलधर वलराम की उक्ति होनी भी ऐसी ही चाहिए।

अलकार—रूपक।

(१२४) (हे वीरो!) विगत समय को विस्मृत करके यशरूपी वीज वोना चाहिए जो शत्रुओ को विप के सदृश कडवा लगे। अर्थात् ऐसा भयकर युद्ध करना चाहिए कि शत्रु विध्वस्त हो जाय। (ऐसा कहकर) वलराम के चलाए गए हलो के प्रहार से शत्रुओ के कन्धे रूपी डालो की जडे ऐसी टूटने लगी जिस प्रकार किसान के हल चलाने से (खेत मे छूटी हुई) जडे टूट जाती है।

अलकार—श्लेप, मुद्रा एव रूपक।

टि०—(१) कृपि-सम्वन्धी शव्द-परिज्ञान—वीज, वीजिजै, खारी, खलाँह, हलाँह, कन्ध, मूल, जड, हलधर, वाहताँ।

(२) 'खारी' शव्द का पूर्वोक्त १२३ दो० मे आए 'आवेळा' से सम्वन्ध स्थापित करने पर इसके स्त्रीप्रत्ययान्त होने में अनौचित्य नही है।

(१२५) योद्धाओ के शरीरो मे अनेक घाव हो गए है। प्रत्येक घाव से अत्यधिक रक्त के ऊँचे-ऊचे फव्वारे छूट रहे है। मानो खेत मे पेडियो पर लाल कोपल उत्पन्न हो रही है तथा धान के वाल-रूपी-शत्रुओ के शिरो से प्राण निकल रहे है।

अलकार—उत्प्रेक्षा, शव्दश्लेप।

टि०—सस्कृत टीकाकार ने निम्न अर्थ करते हुए 'सिरा' का अर्थ 'सिरोनामानि फलानीव' किया है—ततो हमा जीवा नि सरन्ति किमिति तत्र सिरोनामानि फलानीव ततापि धान्याविभवि शिरा नि मरन्ति कथ सत्वेन सारतया।

(१२६) महाशक्तिशाली वलरामजी अपने भुजा-वल द्वारा (शत्रुदल रूपी) धान्य की पेडी को प्रहार करते हुए चमत्कारपूर्वक नष्ट कर रहे है। उन्होने अपने (तलवार रूपी) हँसुआ की धार से (रणक्षत्र रूपी) खेत मे वालो रूपी शत्रुओ के सिरो रूपी वालो का ढेर लगा दिया है।

अलकार—यमक, रुपकातिशयोक्ति, श्लेप तथा रूपक।

(१२७) रणक्षेत्ररूपी खलिहान मे शत्रुदल-रूपी-धान्य का गाहटन करते हुए वलराम-रूपी-किसान के स्थिर चरण ही उस खलिहान की मेड़ है। उन्होने घोडो पर चढ-चढकर, उनको घुमा-घुमाकर घोडो के पैरो से कुचलकर शत्रुदल-रूपी-धान्य का भली प्रकार गाहटन किया है।

अलकार—श्लिष्ट रूपक।

(१२८) कृपक-रूपी वलराम ने रणक्षेत्र-रूपी-खलिहान मे कितने ही योद्धा-रूपी-कणो को चुन लिया है—पकड लिया है। कितनो के ही कण-कण—टुकडे-टुकडे—कर दिए है। योद्धाओ के जो दल भाग गए है, वही मानो धान से भरी हुई गाडियाँ जा रही है। मृत शत्रु-रूपी-धान्य के शिरो पर वैठी हुई गीधनी ही मानो चिडियाँ है तथा शवो का माँस ही उनका चारा है।

अलकार—रूपक।

(१२९) वलभद्र अपने सदृश वीरो से लोहा लेते है और उनके विरोध में ढाल उठाते है। 'भलाभली' (पृथ्वी पर एक से एक वढकर वीर है) वाली कहावत सत्य है, (तभी तो) वलरामजी ने जरासन्ध तथा शिशुपाल जैसे प्रसिद्ध योद्धाओ को युद्ध में परास्त कर दिया।

टि०—द्वितीय पक्ति का अर्थ ढूंढाडी टीका मे इस प्रकार दिया गया है —"अनै वडै विरध उपजतै भागा छै।" सस्कृत टीकाकार ने 'विरुधि' का अर्थ 'यमराज' वताते हुए अर्थ किया है —"वडफरि ऊछजीइ इति हृदया-ग्रन्यस्तखेटके गृहीतेपु परमुक्तलोहेपु सत्सु विरुद्धो यमो भूत्वा लग्न यत एव ज्ञायते।"

(१३०) श्री रुक्मिणीजी का भाई रुक्मि अकस्मात् कृप्ण के सामने अडकर इस प्रकार वोला, "तू निर्वल स्त्री को लेकर वहुत दूर चला आया है। हे अहीर! अव खडा रह। मै आ गया हूँ।"

(१३१) रुक्मि के ललकारते ही कृष्णजी का मुख तमतमा आया। उन्होंने हाथ में धनुष लेकर, रुक्मि के अस्त्रो को काटने के लिए, प्रत्यञ्चा पर वाण चढाकर, वाण के फर को मुट्ठी में तथा उसकी नोक को दृष्टि में वाँधा।

अलकार—क्रम तथा दीपक।

(१३२) रणक्षेत्र-रूपी-एरण पर लौह के सदृश तप्त क्रोधावेश में लाल रुक्मि को देखकर स्वय क्रोध करते हुए और रुक्मिणी को आँसू वहाते देखकर, दयार्द्र हो श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को लोहार का वाँया हाथ तथा अपने मन को साँडसी वनाया।

अलकार—रूपक।

टि०—जिस प्रकार लोहार का हाथ साँडसी के गर्म हो जाने पर जलने लगता है और वह ठडा करने के लिए पास रखे जल मे साँडसी डुवोता है, उसी प्रकार क्रुद्ध रुक्मी-रूपी तप्त लोहे को अपने मन-रूपी साँडसी से पकडकर मार डालने की इच्छा से क्रोधित मन कृष्ण भी रुक्मिणी को देखकर अपने मन-रूपी-साँडसी को उनके अश्रुजल से ठडा कर लेते है। शेष रूपक का विस्तार स्पष्ट ही है। लोहार के कार्य का सूक्ष्म निरीक्षण कवि की मौलिक सूझ मे सहायक हुआ है।

(१३३) कैसा आश्चर्य है कि (कृष्ण दोनो काम निवाह रहे हैं) रुक्मि से सम्वन्ध होने की लज्जा तथा उसे रुक्मिणी के निकट (सम्मुख) न मारने के विचार से युद्ध मे वह जिन अस्त्र-शस्त्रो का प्रयोग करता है, श्रीकृष्ण उन्हे ही काट देते है।

(१३४) तब स्वर्णनाम रुक्मि को अस्त्रशस्त्रहीन करके कृष्ण ने उसके केश उतारकर कुरूप वना दिया। क्षणमात्र ही जीवित रह सकनेवाले रुक्मि को श्रीकृष्ण ने हरिणाक्षी के हृदय के भाव समझकर जीवित ही छोड़ दिया।

(१३५) श्रीकृष्ण के अग्रज वलरामजी ने व्यग्यपूर्वक कहा कि, हे भाई! यह क्या उचित है कि जिसकी वहिन को पास वैठाया है उसी को दुष्ट के योग्य दण्ड भी खूव दिया है। वाह भाई! तुमने भी भला (विचित्र) काम किया।

अलकार—वक्रोक्ति।

(१३६) प्रथम तो, वडे भाई की आज्ञा पालन के लिए, दूसरे मृगेक्षिणी रुक्मिणी का मन रखने के लिए राजीवनयन श्रीकृष्ण मन्द-मन्द मुस्कराते हुए, नीचे को मुख किए, लजाते हुए प्रसन्न हुए।

वलि पर पूर्ववर्ती काव्य का प्रभाव और उसका स्वरूप-विधान

पूर्ववर्णित स्थिति के अनुसार वेलिकार का जन्मकाल—स० १६०६—ऐसा समय है जब हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाव्यकाल अपनी अन्तिम साँस ले रहा था और रीतिकाल अपने चरण चाँपता हुआ एक एक पग आगे बढने का प्रयत्न कर रहा था। न तो इस काल मे भक्ति काल का प्रभाव ही एकदम नष्ट हो पाया था और न रीतिकाल ही अपने स्वरूप का वोध कर पाया था। भक्ति और रीतिकाल का यह सन्धिस्थल वेलिकार के जन्म और विकास का युग है। दूसरे शब्दो में काव्य-परम्परा के अनुसार एक ओर उनके पीछे समस्त वीर-गाथा साहित्य तथा भक्तिकाल की अमूल्य काव्य-निधि पडी हुई थी और दूसरी ओर रीतिकाव्य का नवीन आकर्षण था। इस साहित्यिक-चेतनाभूमि के अतिरिक्त वेलिकार के जीवन की व्यक्तिगत परिस्थितियो का चक्र भी कुछ ऐसा प्रभावशाली था कि पृथ्वीराज के व्यक्तित्व में एक ही साथ अनेक धाराओ का सम्मिलन स्वाभाविक रूप से हो गया। इस कथन से यह भ्रम नही होना चाहिये कि पृथ्वीराज का व्यक्तित्व केवल परिस्थितियो से सचालित अथवा उनके आधीन था, वल्कि तात्पर्य केवल इतना ही है कि पृथ्वीराज के व्यक्तित्व-निर्माण मे उक्त सभी परिस्थितियो का सहज, तथा मधुर सम्मिलन हुआ है। सहज ही, उनके इस व्यक्तित्व ने उनके काव्य को भी प्रभावित किया है। जहाँ एक ओर पृथ्वीराज में भक्तिकाल की भावधारा का प्रवाह समा गया था वहाँ दूसरी ओर वीर-प्रसवा जन्मभूमि और आत्मसम्मानी राजपूत वश ने उन्हें जीवन में वल और शौर्य का वरदान भी दिया था। वीरभूमि मे उत्पन्न, लोहे के धनी राठौडराज पृथ्वीराज की शिराओ में प्रवाहित वीकानेर का तेजस्वी राजरक्त तथा शृगारकेलि के लिये उन्मुक्त स्वच्छन्द वातावरण ने मिलकर उनकी वीरता तथा भावुक शृगारिकता की जो गगा-यमुना प्रवाहित की उसमे भागवत के भक्ति-प्रवाह ने मिलकर सरस्वती का कार्य किया। वीर, भावुक और भक्त तीनो व्यक्तित्वो के सम्मिलित प्रभाव से काव्य-क्षेत्र में एक साथ ही वीर, शृगार तथा भक्ति की पावनी सुरसरि प्रवाहित हो उठी। पृथ्वीराज एक ही साथ भावुक भक्त तथा वीरता और शौर्य की मूर्ति थे।

अलकार—स्वभावोक्ति तथा समुच्चय।

(१३७) असम्भव को सभव करनेवाले, किए हुए को नष्ट करनेवाले, सभी वातो में समर्थ श्रीकृष्ण ने रुक्मी के जिन वालो को उतार लिया था, उनको साले के सिर पर हाथ रखकर फिर लगा दिया।

अलकार—व्याघात।

टि०—डा० टैसीटरी ने 'हालिया जा इलगाया हूँता' पाठान्तर के आधार पर 'हालिया' का 'पुन प्राप्त' अर्थ करते हुए 'हालणो' (चलना) क्रिया से इसका सम्बन्ध मानने की चेष्टा की है। वस्तुत 'हा' का अर्थ भूतकालिक 'था' होता है। सस्कृत टीकाकार ने तो 'हा इति खेदमाकलय' कहकर अर्थ का अनर्थ ही कर दिया है। वे 'हालिया' का अर्थ 'हाथी लीया' (हाथ से लिया) भी करते है।

(१३८) एक ही वार में दो प्रकार का आनन्द हुआ कि कृष्ण ने युद्ध में शत्रुदल पर विजय प्राप्त करने के साथ पद्मिनी रुक्मिणी से विवाह भी किया। सैन्यसमूह में होड करते हुए वधाई देनेवाले वढने लगे।

(१३९) द्वारिकापुरी के घर-घर में चिन्ता फैली हुई है। अपने-अपने काम भूलकर लोग ग्रहो की दशा पूछ रहे है। (उत्सुक) प्रजा कृष्ण के आगमन मार्ग में मन लगाए अट्टालिकाओ पर चढी हुई मार्ग देख रही है।

अलकार—स्वभावोक्ति।

टि०—उत्सुकता का सजीव चित्रण है।

(१४०) उनके देखते-देखते शीघ्रता से आते हुए पथिक दृष्टिगोचर हुए। देखते ही उनके हृदय में चिन्ता-ज्वाला प्रज्ज्वलित हुई, वे दुखी होकर पश्चात्ताप करने लगे। किन्तु पथिको के हाथो में हरी डालियाँ देखकर कमलरूपी द्वारिकावासी पुन हरे (प्रसन्न) हो गए।

अलकार—रूपक।

(१४१) नगर में श्रीकृष्ण तया रुक्मिणीजी का शुभागमन सुनकर सभी नगरनिवासी उनकी स्वागतपूर्वक अगवानी करने के लिए उद्यत हुए। उस समय नगर ऐसा शोभित था, मानो पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्रमा के दर्शन के लिए समुद्र लहरें ले रहा हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(१४२) नगरनिवासियो ने घर-घर से वधाईदारो को उनकी दरिद्रता की दरिद्रता दी, अर्थात् इतना दिया कि उनकी दरिद्रता का नाश हो गया। हरी दूव से मगलसूचक केसर और हल्दी उछाली गई। इस प्रकार अनवरत उत्सव मनाया जाने लगा।

(१४३) श्रीकृष्ण के स्वागतार्थ एक मार्ग से पुरुष तथा दूसरे से नारी समूह अत्यन्त उमग में भरकर चला। वह दृश्य ऐसा था मानो द्वारिका-पुरी अपने दोनो वाहु फैलाकर श्रीकृष्ण का आलिगन करने के लिए चली हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

टि०—'तिकरि' के सम्वन्ध मे भिन्न-भिन्न मत है। मारवाडी तथा सस्कृत टीकाकारो ने इसे 'त्वत्करे' का रूपान्तर माना है। डा० टैसीटरी ने 'अतिकरि' रूप की कल्पना की है। हिन्दुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित वेलि के सम्पादक इसका सम्वन्ध 'त्वत्कृते'—(तुम्हारे लिए) से मानते है।

(१४४) (स्वागतार्थ ताने गए मण्डपो के रत्नजटित) दण्ड ही मानो विजली की चमक है। उनकी झालरो से झडते हुए मोती ही वर्षा की बूंदे है और उनके गगनचुम्वी छत्रो से आकाश ऐसा छाया हुआ है मानो वर्ण-वर्ण के मेघ घिरे है।

अलकार—रूपक तथा उत्प्रेक्षा।

(१४५) राजमार्ग अनेक द्वारो से सुशोभित हो रहा है। द्वार मुकुरमय है अथवा दर्पण से सुसज्जित है। मार्ग रग-विरगे गुलाल से छाया हुआ है अथवा सुन्दर गुलाल मार्ग में फैला है। कृष्ण ने सेना को नगर में इस प्रकार प्रविष्ट कराया जिस प्रकार नदी समुद्र में प्रवेश करती है।

अलकार—एकावलि तथा उपमा।

(१४६) नागरिको की स्त्रियाँ यशोज्ज्वल कृष्ण को वधू के साथ देखकर ऊँचे-ऊँचे प्रासादो पर चढकर मागलिक धवल-मङ्गल गीत गाने लगी। श्यामल श्रीकृष्णजी को वलभद्र तथा सैन्य समूह के साथ सकुशल देख उनपर पुष्प-रूपी-बूंदे वरसने लगी अर्थात् नागरी नारियो ने स्वागत मे पुष्पवृष्टि की।

अलकार—रूपक तथा यमक।

(१४७) वसुदेव तथा देवकी ने यह देखकर कि श्रीकृष्णजी शिशुपाल तथा जरासन्ध को पराजित करके विजयी होकर आए है, उनकी आरती उतारी, उनका (जल वारकर) सेवल किया तथा उनका मुख देखकर उनकी वलिहारी गए।

अलकार—लाटानुप्रास तथा यमक।

टि०—डा० टैसीटरी 'वारै पै वारि' का अर्थ 'ऊपर जल वारते है' करते है। उनके विचार से 'पै' 'ऊपरि परि' से सम्वन्धित है। 'पै' का 'पय' से सम्वन्ध मानने में उनकी आपत्ति है कि तव 'वारि' (जल) शव्द व्यर्थ हो जायगा। वस्तुत जल-सेचन द्वारा सेवल की यह विधि डा० टैसीटरी के ध्यान में नही आई। वस्तुत 'वारै' का अर्थ 'वलिहारी जाना' तथा 'वारि' का अर्थ 'वारकर' करना चाहिए।

(१४८) श्रीकृष्णजी के स्वागत में विधिपूर्वक स्वागतकृत्य हो रहे है। वाजे वज रहे है। भिन्न-भिन्न मुखो द्वारा वर्णन किए जाने पर भी कृष्ण भगवान् का एक-सा ही यशगान हो रहा है। राजा लोग श्रीकृष्णजी का सत्कार करते है तथा रानियाँ रुक्मिणीजी को अन्त पुर में लाकर सत्कार कर रही है।

(१४९) ज्योतिपियो को वुलाकर वसुदेव तथा देवकी सवसे पहले यही प्रश्न पूछते है कि ज्योतिप ग्रथो को देखकर वताओ कि कृष्ण तथा रुक्मिणी का किस शुभलग्न में विवाह हो।

(१५०) वेदोक्त धर्म का विचार करके वेदज्ञ पण्डित काँपते (सशक) चित्त से कहने लगे कि एक ही स्त्री के साथ वार-वार पाणिग्रहण कैसे हो सकता है? (एकवार पाणिग्रहण (हाथ पकड) कर तो श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को रथ में वैठाया ही था, फिर पाणिग्रहण की क्या आवश्यकता रही?)

(१५१) त्रिकालज्ञ ब्राह्मणो ने (तत्काल) लग्न-समय देखकर निर्णय करके कहा कि सर्वदोप विवर्जित लग्न तो वही था जव हरण हुआ था।

(१५२) परस्पर सलाह करके ब्राह्मणो ने वसुदेव-देवकी से कहा कि हरण होने से ही पाणिग्रहण तो हो चुका, शेप सभी सस्कार अव होगे।

(१५३) विवाह-सस्कार के लिए रत्नजटित वेदी वनाई गई है। विवाह-मण्डप के हरे वाँस है और उसमें सोने-चाँदी के मङ्गल-कलश रखे है। ब्राह्मण

ही साक्षात् वेदमूर्ति है। अरण्याग्नि में अगरमय ईन्धन है और उसमें कपूर तथा घृत की निरन्तर आहुति दी जा रही है।

(१५४) मधुपर्कादि संस्कारो से मण्डित, छत्र से सुसज्जित मण्डप में वर तथा वधू को पश्चिम दिशा मे पीठ और पूर्व की ओर मुख करके बैठाया।

(१५५) सभी की दृष्टि श्रीकृष्ण के मुखारविन्द पर इस प्रकार लगी हुई है, मानो समुद्र के गर्भ मे मछलियो से घिरा हुआ चन्द्रमा हो। ऊँचे-ऊँचे स्थानो पर चढकर नारियाँ श्रीकृष्ण का मुख देख रही है तथा अपने मुख से मङ्गल-गीत गा रही है।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(१५६) स प्रकार आरम्भ मे तीन भाँवरे भरकर चौथे फरे मे प्रियपति श्रीकृष्ण प्रिया रुक्मिणीजी के आगे हो गए। अपने पूरे हाथ (सागुप्ठ) से श्रीकृष्ण ने रुक्मिणीजी का हाथ पकड रखा है। वह ऐसा शोभित होता है, मानो हाथी ने अपनी सूँड में कमल दबा रखा हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(१५७) तदनन्तर वधू रुक्मिणीजी को श्रीकृष्णजी की बाँई ओर बैठाकर पण्डितो ने उनमे परस्पर विधिपूर्वक वचन कहलाए। उपलब्ध सुकाल में वेदपाठी ब्राह्मणो ने इच्छानुकूल नवनिधियाँ प्राप्त की।

(१५८) पाणिग्रहण छूटने पर, विवाह-मण्डप को छोडकर बँधे हुए अचल के बहाने मन बाँधे हुए (प्रेमानुरक्त) आगे वर तथा पीछे दुलहिन धीरे-धीरे शयनगृह की ओर चले।

अलकार—कैतवापह्नुति।

(१५९) सखियो ने पहिले से ही क्रीडा-भवन मे जाकर उसके आँगन को अपने हाथो से धोया। तत्पश्चात् शय्या के बहाने क्षीरसागर तथा पुष्पो के बहाने फेन सजाए। अर्थात् क्षीरसागर के सदृश निर्मल तथा उज्ज्वल शय्या बिछाकर उसपर फेन के सदृश सफेद पुष्प फैला दिए।

टि०—'करेण' सस्कृत तृतीया विभक्ति है।

अलकार—कैतवापह्नुति।

(१६०) श्रेष्ठ प्रासाद अनेक प्रकार के रगो से रँगे हुए चित्रो से चित्रित

है और वे चित्र मणिदीपको से सुशोभित या दीपित है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो चित्रित चँदोवो के वहाने सहस्र फणो सहित शेषनाग हो। (कवि का सकेत इस वात की ओर है कि कृष्ण विष्णु के अवतार है। वह शेषनाग की शय्या पर क्षीरसागर मे शयन करते है तथा उनपर शेषनाग के फण की छाया है)।

अलकार—कैतवापह्नुति।

(१६१) विवाह-सस्कार करने के कुछ ही समय पश्चात् रतिसस्कार के लिए मिलने के हेतु चतुर सखियो ने एकत्र होकर उन्हें अलग-अलग महलो में किया।

टि०—सखियो को 'विचित्र' विशेषण देना सारगर्भित है। उन्होने दूती का कार्य वडी चतुराई से निवाहा है। पति-पत्नी को क्षणभर के लिए अलग करने में उनके हृदय में मिलनोत्सुकता वढाने की चतुराई छिपी है। कवि का वर्णन अत्यन्त मधुर तथा सारगर्भ है।

(१६२) सन्ध्या-काल मे पथिक वधू की दृष्टि, पक्षियो के पख, कमल-पँखुडियाँ तथा सूर्य की किरणो के समान ही रति की इच्छा करती हुई रमणी रुक्मिणी सकुचित-सी हो रही है।

टि०—(१) सन्ध्या का स्वाभाविक तथा मनोरम सश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के व्यापारो में मिलनोत्सुकता, विश्रान्ति की इच्छा का दर्शन कराकर रुक्मिणी के हृदय की स्थिति का सकेत किया गया है। प्राकृतिक साध्य-सकोच का प्रभाव रुक्मिणी के हृदय को प्रभावित किए विना न रहा। पथिक वधू की प्रतीक्षा, अन्धकार के कारण उसकी दृष्टि का सकोच आदि का मनोरम वर्णन विस्तार से समझने योग्य है। रुक्मिणी के हृदय का सकोच उनकी लज्जा है, मलिन होकर सिकुड जाना नही।

(२) ढूंढाडी टीका ने 'वञ्छित' पाठ दिया है जिसके अनुसार निम्न अर्थ होगा—रुक्मिणी-रमण श्रीकृष्ण के हृदय में रतिकाल को निकट आया समझकर रति की इच्छा हो रही है।

अलकार—दीपक।

(१६३) चन्द्र-किरणें, व्यभिचारिणी, अभिसारिका नारियाँ तथा निशाचरो की दृष्टि दौडने लगी, अर्थात् विस्तृत प्रदेश तक पहुँचने लगी। स्त्री (रुक्मिणी) का

मुख देखने के हेतु अत्यन्त व्याकुल श्रीकृष्ण ने बडी कठिनाई से रात्रि का मुख देखा अर्थात् उन्हें बडी प्रतीक्षा करनी पडी।

टि०—चन्द्र-ज्योत्स्ना के विकास के साथ-साथ कृष्ण का हृदय भी विकसित हो गया। चाँदनी रात मे जहाँ अन्य प्राणी अपने-अपने काम में लगे, वहाँ कृष्ण का मन भी रति-भाव मे विकसित हो गया। प्रिया से मिलनोत्सुक कृष्ण आतुर हो उठे जिससे उन्हें वियोग का क्षण-क्षण भारी और दीर्घ प्रतीत हो रहा है। बाह्य तथा मानव-प्रकृति का सुन्दर सम्मिलन, दर्शनीय है।

अलकार—दीपक।

(१६४) दिवस तथा रात्रि का सयोग ऐसा हुआ कि उस निशासन्धि में अन्य पक्षी तो जोडो मे सयुक्त हो गए, किन्तु चक्रवाक का वियोग हो गया। जलाए हुए दीपक ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो उनके बहाने से कामिनी स्त्रियो तथा कामी पुरुषो के मन में कामाग्नि प्रज्ज्वलित की गई हो।

अलकार—पर्याय, कैतवापह्नुति।

(१६५) सब सखियो द्वारा प्रशसित रुक्मिणीजी प्रियतम से मिलने के हेतु सजी (तैयार) की गई। (दूसरी ओर) श्रीकृष्णजी (उत्सुकतावश) शय्या तथा द्वार के मध्य घूम रहे हैं। पदचाप सुनने के लिए कान देकर पुन. शयनागार में चले जाते हैं।

अलकार—स्वभावोक्ति।

(१६६) बधाईदारो के सदृश चलते हुए सुगन्धित वस्तुओ की सुगन्धि तथा नूपुरो की झकार ने आगे पहुँचकर व्याकुल श्रीकृष्ण को हस के सदृश मन्द गतिवाली रुक्मिणीजी के आगमन की सूचना दी।

अलकार—उपमा तथा पर्याय।

(१६७) सखि के हाथ का सहारा लेकर पग-पग पर खडी होती हुई, यौवनमद को बहाती हुई रमणी रुक्मिणीजी लज्जा-रूपी शृखला में बँधे हुए मदमत्त हाथी के सदृश लाई गई।

अलकार—रूपकगर्भित उपमा।

(१६८) ज्योही श्रीकृष्णजी ने रुक्मिणीजी को देहली में प्रवेश करते देखा,

त्योही ऐसा असीम आनन्द उत्पन्न हुआ कि उसी ने आप ही आप रोम खडे करके उनके द्वारा स्वागत कराया। अर्थात् रुक्मिणी को देखकर श्रीकृष्ण हर्षोत्फुल्ल तथा रोमाचित हो उठे।

अलकार-अतिशयोक्ति, पर्यायोक्ति।

टि०—(१) डा० टैसीटरी ने सस्कृत टीकाकार द्वारा 'जेहडि' के अर्थ 'चरणा-भरण' को स्वीकार किया है। (२) प्रेमोत्सुक्य की सुन्दर व्यजना है।

(१६९) जिस लग्न की वडी इच्छा थी, वह दीर्घकाल के पश्चात् घर मे ही प्राप्त हो गया। श्री हरि ने स्वय अपने अक में लेकर प्रिया को शय्या पर वैठाया।

अलकार—प्रहर्षण।

(१७०) यद्यपि माधव तृप्तमन है तथापि अत्यन्त रूपवती रुक्मिणी के रूपसौन्दर्य से चचल हरि के नेत्र अतृप्त ही है। श्रीकृष्ण प्रियामुख को वार-वार इस प्रकार देख रहे है जैसे दरिद्र धन को तृषित नेत्रो से देखता है।

अलकार—विरोधाभास, उपमा।

टि०—माधव को तृप्तमन कहकर उनके निष्काम अथवा पूर्णकाम होने की ओर सकेत किया गया है। उन्हें अतृप्त बताकर रुक्मिणी के अतुल सौन्दर्य की ओर सकेत किया गया है। दरिद्र का धन को देखना कहकर अतृप्ति की अतिशयता प्रकट की गई है।

(१७१) रुक्मिणीजी के नेत्रकटाक्ष रूपी-दूती अथवा नत्रकटाक्ष रूपी सूत्र वुननेवाली नली दम्पति के अभी तक पृथक् रहनेवाले मन-को मिलाने के लिए घूंघट-रूपी-वस्त्र के अन्दर इधर-उधर आती-जाती है।

अलकार—रूपक।

टि०—लोहार के कार्य के समान ही जुलाहे के कार्य का निरीक्षण करके कविने उपयुक्त समय पर उसका कुशलतापूर्वक उपयोग किया है। मौलिकता तथा कल्पना दर्शनीय है।

(१७२) जव सखियो ने वर और वधू के नेत्रो और मुख के हाव-भाव से उनके हृदय के भावो को समझ लिया तो वे भौहो से हँसती हुई एक-एक करके शयनगृह से वाहर चली गई।

अलकार—सूक्ष्म ।

(१७३) तव एकान्तोचित क्रीडा का आरम्भ हुआ, जिसे किसी देवता अथवा ऋषि-मुनि ने नही देखा है। अनदेखी तथा अश्रुत का किस प्रकार वर्णन किया जाय। उस सुखको वे (भोग करनेवाले) ही जानते है।

(१७४) पति द्वारा पवन डुलाने की प्रार्थना की गई (अर्थात् रुक्मिणी की हवा करने के लिए कृष्ण ने प्रार्थना की)। रुक्मिणीजी रत्यन्त म वहाँ (शय्या पर) थककर शिथिल पडी हुई किस प्रकार शोभित होती है, मानो सरोवर मे क्रीडा करते हुए हाथी द्वारा तोडकर डाली हुई म्लान कमलिनी हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा ।

(१७५) रुक्मिणीजी के ललाट पर कुकुम का विन्दु पसीने की बूंदो के साथ मिलकर शोभा पा रहा है। इसकी शोभा ऐसी है मानो कामदेव-रूपी-कारीगर ने सुवर्ण में हीरे मिलाकर माणिक्य वीच में जड दिया हो।

अलकार—रूपकगर्भित उत्प्रेक्षा ।

(१७६) रुक्मिणीजी का मुख पीला पड गया, चित्त व्याकुल हो गया, हृदय धक-धक करने लगा और उन्हे अत्यधिक कष्ट हुआ। उन्होने अपने नत्रो में लज्जा धारण करके पदो के नूपुरो की झकार तथा कण्ठ में कोकिल का मधुर स्वर बन्द कर दिया। (अर्थात् लज्जा के कारण वे न हिलती थी न वोलती ही थी। वे अवगुण्ठन खीचकर वैठ गई।)

टि०— मारवाडी टीकाकार ने 'कुहू स्वर' को 'मधुर स्वर' के अर्थ मे न मानकर निम्न अर्थ किया है —कुहू-कुहू अेहवउ कूजित सवद सुरत माँहि हूँतउ ते निवारण करे क° निवारयउ।

अलकार—समुच्चय, देहरी दीपक।

(१७७) जिम प्रकार कोई लता भ्रमरो के भार से पृथ्वी पर गिर पडी हो, किन्तु कदली का सहारा लेकर अनेक वल डालकर (टेढी-मेढी होकर) पुन खडी हो गई हो, उसी प्रकार रुक्मिणीजी भी सखी के गले का सहारा लेकर (शय्यारूपी धरा मे) उठ खडी हुई।

अलकार—उपमा ।

टि०—'वणा वाति वल' का अर्थ सस्कृत आदि टीकाओ के टीकाकारो ने निम्न प्रकार से किया है —अँगुली का आँकडा वनाकर अँगुलियो में अँगुलियाँ डालकर

भली प्रकार पकडकर सखी के गले लगी। अथवा अँगुलियो को वल देकर कसकर कण्ठ में डाला।

(१७८) जिन रुक्मिणी के वाल खुल गए थे, मोतियो की माला छिन्न-भिन्न हो गई थी, कचुकी के वन्धन और करधनी खुल गई थी, उन लज्जा, भय तथा प्रीति से पूर्ण रुक्मिणी को सखियो ने पुन प्राणपति श्रीकृष्ण के पास पहुँचाया।

(१७९) श्रीकृष्णजी के रुक्मिणी के साथ रति-क्रीडा का आनन्द प्राप्त करने पर उनकी मन रखनेवाली सखियो के समूह में, अजिर अजिर में वनी हुई चित्रशालाओ के मध्य में (प्रसन्नता तथा हँसी के कारण) खिलखिलाहट मची हुई है।

(१८०) इस अर्द्ध-रात्रि में योगी तत्त्व की चिन्ता में तल्लीन होकर पर्वतो की गुफाओ में तथा कामीजन रति-चिन्ता मे लीन होकर घरो में, जाग रहे हैं। यही दो प्रकार के व्यक्ति इस अर्द्धरात्रि में भी जाग रहे हैं, शेप ससार निद्रा में लीन है।

अलकार—यमक, यथासख्य।

टि०—'कामिए', 'जामिए', शव्दो का प्रयोग करके योगी तथा कामी के विपय में कहकर कवि ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनो मार्गों की ओर सकेत कर दिया है और दोनो की समानता स्थापित की है। उन्होने दोनो मार्गों को समान महत्त्व दिया है। योगी के जागरण का सकेत गीता की 'या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी' पक्ति की ओर सकेत करता है।

(१८१) जिस प्रकार कामी व्यक्ति को मुर्गे का (प्रात कालीन) शव्द और जीवन-प्रिय व्यक्ति को घडियाल का शव्द अप्रिय लगता है, उसी प्रकार उल्लास से पूर्ण लक्ष्मीपति श्रीकृष्णजी को व्यतीत होती हुई रात्रि अप्रिय लगी।

अलकार—उपमा।

टि०—दूसरा अर्थ हिन्दुस्तानी एक्रेडेमी से प्रकाशित वेलि में इस प्रकार किया गया है—रतिक्रीडा-प्रिय आनन्द के समूह में निमग्न लक्ष्मीपति (श्रीकृष्ण) को रात्रि के अवसान में कुक्कुट की पुकार इस प्रकार लगी जिस प्रकार

जीवित प्रियपुरुष को व्यतीत होनी हुई जिन्दगी (के समय) मे घटिका (का शब्द लगता है)।

(१८२) रात्रि के समाप्त होने पर चन्द्रमा इस प्रकार शोभा रहित हो गया, जैसे पति के अस्वस्थ होने पर पत्नी का मुख उदास दिखाई देता है, (दिन मे) दीपक जलता हुआ भी प्रकाश नहीं देता और जैसे आज्ञा का उल्लघन होने पर नरश्रेष्ठ राजा की दशा होती है।

अलकार—उपमा, विरोधाभास।

टि०—सस्कृत टीकाकार ने 'नासफरिम' का अर्थ 'अदातृत्वेन' या कजूसी बताया है।

(१८३) प्रभात होने पर (एक ओर) चक्रवाक के मन की रतिवाञ्छा पूर्ण हुई, परन्तु (दूसरी ओर) कोक-शास्त्रानुसार रमण करनेवाले व्यक्तियो की रति-इच्छा निवृत्त हो गई। प्रफुल्लित पुष्पो ने सुगन्धि छोडी, अर्थात् कली के विकसित हो जाने से सुगन्धि फूट निकली तथा स्त्रियो के आभूषणो ने शीतलता ग्रहण की।

अलकार—व्याघात।

टि०—कवि ने प्रातःकालीन प्रभाव का साकेतिक वर्णन किया है। आभूषणो की शीतलता का उल्लेख करके कवि ने रात्रिभर पतिपत्नी के सयोग के पश्चात् प्रातःकालीन पृथकत्व का सकेत किया है। किन्तु वर्णन की विशेषता यह है कि शृङ्गार अश्लीलता की सीमा मे नहीं पहुँच गया है। शील और सकोच मे लिपटे हुए इस वर्णन में विशेष व्यजना और माधुर्य है।

(१८४) सूर्योदय-रूपी-योगाभ्यास हुआ। शख तथा भेरी का शब्द-रूपी-अनहदनाद सुनाई पडा। रात्रि-रूपी-मायावरण को हटाकर प्राणायाम में (सूर्य के प्रकाश-रूपी) परम ब्रह्म की ज्योति का प्रकाश हुआ।

अलकार—रूपक।

टि०—प्रभात का समय ही योगाभ्यास का उचित समय है। तभी योगी प्राणायाम करते है। योगाभ्यास की सिद्धि में योगी को अनहदनाद सुनाई पडने पर मायावरण चीरकर ज्ञान-प्रकाश विकीर्ण हो जाता है। प्रस्तुत पद में उसी के आधार पर कवि ने प्रातःकालीन सुषमा का महत्त्व बताया है।

यही दोनो विशेपताएँ उनके काव्य मे सवल और सरल रूप में ढली है। उनकी उच्चकोटि की वैष्णव-भक्ति पर रीझ कर ही नाभादास जी ने अपने वृहत् ग्रथ 'भक्तमाल' में अन्य भक्तो के साथ आपका नाभ भी वडे आदर से लिया है —

सवैया, गीत, श्लोक, वेलि, दोहा, गुण, नवरस।
पिंगल काव्य प्रमाण, विविध विधि गायो हरिजस॥
परिदुख विदुप सश्लाध्य, वचन रसना जु उच्चारे।
अर्थ विचित्रन मोल सवै सागर उद्धारे॥
रुक्मिणी लता वर्णन अनूप, वागीस वदन कल्याण सुव।
नरदेव उभय भापा निपुण, प्रथीराज कवि राज हुव॥

इनकी वीरता और रचना की ओजपूर्णता दोनो से प्रभावित होकर ही टॉड तथा टैसीटरी जैसे प्रसिद्ध विदेशी विद्वानो को भी मुक्तकण्ठ से इनकी और इनकी रचना की प्रशसा करनी पडी। पृथ्वीराज की कविता वह सगमस्थल है जहाँ वीर तथा भक्ति की दो अजस्र धाराएँ आकर एक में समाहित हो गई है। पृथ्वीराज के व्यक्तित्व का निर्माण जिन परिस्थितियो मे हुआ था उनमें कविता के इस स्वरूप का सघटन सहज था। वीरगाथाकाल के जिन चारण कवियो ने वीर रचनाओ द्वारा भारतीय नरेशो को पारस्परिक सघर्प की ज्वाला में झोक दिया, अथवा आश्रयदाताओ की जैसी मिथ्या विरुदावली गा गाकर उन्होंने साहित्य का कलेवर भर दिया, पृथ्वीराज वीरकाव्य के लेखक होकर भी उस श्रेणी के कवि नही थे। पृथ्वीराज स्वय वीर योद्धा, और स्वतन्त्रता तथा स्वदेश के अनन्य पुजारी थे। ऐसी दशा मे उनके काव्य में वीर गाथा काव्य की कतिपय विशेपताओ का मिलना आश्चर्यजनक नहीं। विद्वानो के मतानुसार डिंगल भापा भी वीर रस के ही उपयुक्त है। उममें वीर जितना खिलता है, जितनी ओजस्विता उसमें है वह वीर रस के स्फुरण के ही योग्य है। अतएव डिंगल भापा का सहारा लेकर काव्य-रचना करने पर वीरगाथा की परम्परा-निर्वाह का लोभ भी सहज स्वाभाविक है।

वीरगाथा काव्यो की एक अपनी परम्परा है, अपनी शैली है। उन काव्यो की प्रवान विशेपता है, अपने आश्रयदाताओ की प्रशसा। एक सर्वमान्य शैली जिसका प्रचलन ममस्त वीर काव्यो में हुआ है वह थी किसी ऐसे शासक की

(१८५) दिनकर न उदित होकर सयोगिनी नारियो के वस्त्रो, मथन-दण्ड तथा कुमुदिनी की शोभा आदि मुक्त वस्तुओ को वन्धन दे दिया तथा वन्द गृह, वाजार, ताले तथा गोशालाओ को मुक्त कर दिया।

अलकार—व्याघात, क्रम।

टि०—प्रातःकाल में कुछ वस्तुएँ जो रात्रि भर मुक्त या खिली तथा खुली रही हैं वे वन्द और वन्धनमय हो जाती हैं। इसी प्रकार वन्द या वन्धनयुक्त वस्तुएँ भी मुक्त हो जाती हैं। कवि ने इसी का स्वाभाविक वर्णन किया है। आगामी दोहले में भी वियोग और सयोग की दशा का ऐसा ही वर्णन किया गया है।

(१८६) सूर्य ने उदित होकर रात्रि भर के सयुक्त या सयोगी वणिको को उनकी पत्नियों से, गौओ को उनके वछडो से तथा कुलटा स्त्रियों को लम्पटो से वियुक्त कर दिया। चोरो, चक्रवाको तथा द्विजो को (क्रमश चौरपत्नी, चकवी तथा तीर्थ से) मिला दिया। इस प्रकार उन्हे सयोग-सुख दिया।

अलकार—व्याघात तथा यथासख्य।

(१८७) (ग्रीष्म के आने पर) नदी तथा दिन बढने लगे, जलाशयो के जल तथा रात्रि घटने लगी। पृथ्वी में कठोरता हो चली तथा हिमालय द्रवित हो गया। सघन वृक्षो ने ससार के सिर पर छाया की एव सूर्य ससार के सिर पर से मार्ग वनाकर चलने लगा।

अलकार—व्याघात।

टि०—सस्कृत टीकाकार ने 'राहु' पाठ लेकर सूर्य को राहु के समान महादुखावह वताया है। साथ ही उपर्युक्त 'राह' पाठ के अनुसार भी अर्थ स्वीकार किया है।

कवि ने सिर पर से मार्ग वनाने की वात के द्वारा सवसे अधिक ताप की सूचना दी है। साथ ही सूर्य की उद्दण्डता भी व्यजित की है।

(१८८) स्वय सूर्य ने हिम-दिशा की शरण ली है (उत्तरायण हो गया है)। सूर्य भी वृक्ष (वृषराशि) के आश्रित है (फिर यदि) व्याकुल व्यक्ति छाया की इच्छा करते हैं तो यह ठीक ही है, इसमें आश्चर्य की वात ही क्या है?

अलकार—श्लेप, परिकर।

टि०—(१) ज्योतिपानुसार ग्रीष्म में सूर्य के वृपराशि पर आने से ताप अत्यधिक कष्टकर हो जाता है तथा ग्रीष्मारम्भ में सूर्य उत्तरायण रहते हैं।

(२) 'के वि हुइ अचिरज' पाठ लेते हुए टीकाकारो ने, 'कुछ लोगो को यह आश्चर्य हुआ कि सूर्य कैसा तापकर है', अर्थ भी किया है।

(१८९) अगो पर धारण किए हुए मोतियो के आभूपणो की कान्तिवाले जगत्पति कृष्ण ज्येष्ठ मास मे चन्दन-रूपी-कीचड और गुलावजल-रूपी-जल-वाले सरोवर मे इस प्रकार क्रीडा करने लगे।

अलकार—उदात्त।

टि०—भिन्न-भिन्न टीकाकारो ने 'दलि मुगता आहरण दुति' का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। यथा, ढूंढाडी टीका का अर्थ है —'गहने सभी मोतियो के ही धारण किए हैं।' सस्कृत टीकाकार ने भिन्न ही अर्थ लेते हुए कहा है कि 'कान्ति उत्पन्न करने के लिए पीठिकामध्य में मोतियो को दलकर चूर्ण करके पिण्ड वनाया या एकत्र किया है, क्योकि उसको पीठिका पर मर्दन करने से शरीर को तेजस्विता तथा शैत्य दोनो मिलते हैं। "द्युते कान्त्या आहरणे आनयनार्थं पीठिकामध्य मौक्तिकानि दलयित्वा सचूर्ण्य पिंडीकृतानि तत्पीठिका मर्द्दनेनागस्य तेजस्विता शैत्यमपि।" मारवाडी टीका का कथन है कि "शरीरदुतइ शरीरकान्तइ करिवा पीठी ऊतारिवा भणी मुगता मोती दळ करि आटउ करी दुति कान्ति आहरण आणवा।"

(१९०) माघ-माम के मेघो से घिरी हुई कृष्णवर्ण अर्द्धरात्रि की अपेक्षा आपाढ मास के सूर्य से तप्त मध्याह्न मे लोगो को निर्जनता अधिक ज्ञात हुई। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार माघ मास में अत्यन्त शीत के कारण हिम गर्भ होकर मेघाच्छादित आकाश कृष्णवर्ण हो जाता है और भयकर अर्द्धरात्रि मे कोई एकाध ही व्यक्ति कही चलता दीखता है, उसी प्रकार आपाढ के मध्याह्न के सूर्य के ताप मे भयभीत कोई एकाध ही व्यक्ति कही जाता दीखता था, अन्यथा शून्यता-सी ही छाई थी।

अलकार—व्यतिरेक।

(१९१) नैऋत्य कोण से चली हुई झोले की वायु ने वृक्षो को झखाड

कर दिया है। लू की लहरो ने लताओ को दग्ध कर दिया है। ऐसी दशा म पति अपनी प्रिया के पयोधरो का सेवन कर रहे हैं तथा पत्नीहीन पुरुष पर्वतीय झरनो का आश्रय ले रहे हैं।

टि०—'नैरन्ति प्रसरि निरधण गिरि नीझर' का अर्थ सस्कृत टीका में इस प्रकार किया गया है —"इस मास मे निर्धन गिरि निर्झरो से वहते पानी का सुख अनुभव करते है।" यथा, "तत्र मासि निर्धना गिरि निर्झर प्रसरे वहति पानीये नैरन्तीति सुखमनुभवन्ति।" 'निरधण' का यही 'निर्धन' अर्थ ढूंढाडी टीका में भी किया गया है, किन्तु यह प्रसगोपयुक्त नही है।

(१९२) कमल आदि पुष्पो की मालाओ से विभूषित श्रीकृष्णजी, कस्तूरी की गारा तथा कपूर की ईंटो से बनाए हुए प्रासाद में, प्रत्येक नए प्रभात में नई-नई भाँति से क्रीडा करते हैं।

टि०—ढूंढाडी टीका के अनुसार 'नवै विहाणै नवीपरि' तथा 'कुसुम कमल-दल माल अलक्रित' का अर्थ निम्न प्रकार किया गया है —"नित नित नवा महल सवारिजै। फूल्याँ की माला सो चौंगरद आच्छादित किया छै। इसा महल माहें श्रीकृष्णजी क्रीडा करै छै।" सस्कृत टीकाकार तृतीय पक्ति के दोनो प्रकार के अर्थों से सहमत है।

अलकार—उदात्त।

(१९३) मृगशिरा नक्षत्र के योग से चलनेवाली प्रचण्ड वायु (मृगवात) ने चलकर मृगो को व्याकुल कर दिया है तथा रेत उडकर आकाश में सूर्य तक पहुँच गया है। आर्द्रा नक्षत्र के योग से पानी ने वरसकर पृथ्वी को गीला कर दिया है और गड्ढे जल से भर गए हैं। (यह देखकर) कृषक अपने कृपि के उद्यम में लग गए हैं।

अलकार—यमक।

टि०—(१) मृगशिरा २७ नक्षत्रो में पाँचवाँ है। इसके पूर्वार्ध में वृषराशि और अपरार्व में मिथुन होती है। इस नक्षत्र में चलनेवाली हवा को 'मृगवात' कहते है। हि० एकेडेमी के टीकाकार ने लिखा है कि —"जव यह चलने लगती है तव सव कोई घवराकर कहने लगते हैं 'मिरग वाजै छइ"। मिरगो के वाजने

को अवधि सात दिन समझी जाती है और उस बीच मे वह जितनी ही प्रचण्ड रूप में चलेगी उतनी ही भावी वर्षा के शकुन प्रवल समझे जायँगे।"

आर्द्रा नक्षत्र छठा है और आषाढ के आरम्भ मे लगता है। इसी से वर्षा-योग आरभ होता है। कृषकों का विश्वास है कि इस नक्षत्र में वोया गया धान्य श्रेष्ठ होता है। यथा, "अद्रा धान पुनरवसु पैया, गा किसान जब वोवा चिरैया।"

(२) 'भरिया खाद्र' का अर्थ 'खेत मे खाद भरना' भी किया जा सकता है।

(३) सस्कृत टीकाकार ने 'किकर' का अर्थ 'दुर्वलीकृता विह्वलतया इतस्ततो भ्रमणशीला' किया है।

(१९८) पावस ऋतु में वगुले, ऋपीश्वर तथा राजा वैठ गए है। देवता सो गए है। मोरो का शब्द होने लगा है, अर्थात् मोर वोलने लगे है। चातक ने (स्वातिविंदु की) रट लगाना आरभ कर दिया है और इन्द्र आकाश को चचल मेघो से सजाने लगे है।

टि०—'हरि सिणगारै अम्वहर' का अर्थ इस प्रकार भी किया गया है — "हरि क० इन्द्र तथा हरि मेव इन्द्र धनुखादि कइँ करी तथा भिन्नभिन्नवर्णइँ करी अम्वहर क० आकाश नइँ सिणगारइ।" ढूँढाडी टीका में 'वलाहकि चचल' तथा अन्तिम पक्ति का अर्थ इस प्रकार किया गया है —"वुगली फिरण लागी। उद्यम कीयो चाही जै। अनेक रग रग का जु सिहर उठै छै। सु ये मेघ मानुँ आपणा घर सँवारै छै। भाँति भाँति की विचित्र रचना करै छै।"

(१९५) काले-काले वर्त्तुलाकार मेघो तथा उनके आगे किनारे पर स्थित (पवन के झकोरो से वहाए हुए) सफेद मेघो की कोरवाली घटाओ के साथ श्रावण मास मूसलाधार वर्षा के रूप मे धडधड करके वरसने लगा। दिशा-दिशाओ में वादल पिघल चले जो थमते ही नही है। इस प्रकार पिघलकर वरसनेवाले यह मेघ विरहिणी नारी के नेत्र हो गए है (जिनसे निरन्तर अश्रुरूपी जलवर्षा हो रही है)।

अलकार—रूपक।

टि०—'धरहरिया' का अर्थ सस्कृत आदि टीकाकारो ने 'भूमि-सिञ्चन' किया है। शब्द की ध्वनि के आधार पर 'धड़-धड करके वरसने लगा' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(१९६) सघन मेघ गभीर शब्द से गरजने लगा। बहुत जोर के साथ वरसने के कारण पर्वतो के (नीचे गिरते हुए) नाले तीव्रनाद करने लगे। विद्युत् मेघमण्डल मे नही समा रही है (वार-वार चमक उठती है) तथा समुद्र में भी जल नही समा रहा है।

अलकार—अधिक।

(१९७) मेघ गरजता हुआ वरसा। पृथ्वी पर हरियाली-रहित स्थानों पर जल भरा पडा है। मानो प्रथम समागम के समय स्त्री के वस्त्र उतार लेने पर उसके आभूपण शोभित हो रहे है।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(१९८) वृक्ष तथा लताएँ अव पल्लवित हो गई है, तृणो के अकुर फूट निकले है। पृथ्वी ऐसी हरी हो गई है, जैसे किसी नायिका ने हरी साडी पहिन रखी हो। उसने नदी-रूपी हार धारण किया है तथा पगो मे दादुर-रूपी-नूपुर धारण किए है। मेढको की ध्वनि ही नूपुरो की झकार है।

अलकार—रूपक।

(१९९) वर्षा से सिक्त काले-काले पर्वतो की श्रेणी ही पृथिवी-रूपी-नायिका के नेत्रो की कज्जलरेखा है। समुद्र ही पृथिवी-रूपी-नायिका की कटि में पडी हुई कटिमेखला है। पृथ्वी ने अपने ललाटपट्ट पर वीरवहूटी-रूपी कुकुम की वेंदी लगा रखी है।

अलकार—रूपक।

(२००) पृथ्वी-रूपी-पत्नी तथा मेघरूपी पति के मिलने पर उमडकर तटो को मिलाती हुई गगा तथा यमुना का सगम-स्थल ही मानो फूलो से गुथी तया विखरी हुई (पृथ्वीरूपी नायिका की) वेणी के रूप में सुशोभित है।

अलकार—उत्प्रेक्षायुक्त रूपक।

टि०—कवि ने समागम समय के उपरान्त का मनोरम दृश्य तथा त्रिवेणी का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। नायिका का श्यामल केश-कलाप यमुना के श्यामल जल के सदृश है। उसके वीच गुँथे हुए श्वेत तथा रक्त पुप्प गगा तथा सरस्वती के श्वेत तथा लाल जल के समान प्रतीत होते है। वेणी इसी

कारण त्रिवेणी के समान प्रतीत होती है। पृथिवी संयोगिनी नायिका के समान है जिसकी वेणी समागम के उपरान्त अव्यवस्थित हो गई है। इधर-उधर बिखरे हुए पुष्प ही मानो पृथ्वी-रूपिणी-नायिका की वेणी के स्रस्त पुष्प हैं।

(२०१) पृथ्वी रुक्मिणी के समान तथा जलधर श्याम (कृष्ण) के समान एक दूसरे की गलबाँही डालकर एक हो रहे है। ऐसी स्थिति में अन्धकार के कारण दिन-रात का भेद नही जान पडता जिसके फलस्वरूप ऋषि-मुनि भ्रम में पडकर सन्ध्या-वन्दन करना भूल गए है।

अलकार—भ्रान्तिमान्, उपमा।

(२०२) पृथ्वी तथा जलधर के आलिंगन को देखकर, मनुष्य जन्म पाने का यही लाभ है ऐसा विचार करते हुए, रूठे हुए (पति पत्नियो को तथा पत्नियाँ पति) को पैर पडकर, मनाकर दम्पति आलिंगन करते हुए रसभोग (केलि) कर रहे है।

अलकार—हेतु।

(२०३) श्यामल तथा श्वेत मेघो से जल बरस रहा है। (सूर्य तथा विद्युत् की चमक के कारण) पीले तथा लाल (बने हुए) मेघ जिस महल के छज्जो मे दोनो ओर रगड खा रहे है उसमें श्रीकृष्ण महाराज शोभित है।

टि०—(१) 'पहल' शब्द के समस्त टीकाकारो ने भिन्न-भिन्न अर्थ किए है। ढूंढाडी टीका के अनुसार उसका अर्थ 'दोनो ओर' होना चाहिए। दूसरी टीका उसका अर्थ 'अन्तरइ अन्तरइ जुजुआ' कहकर 'पृथक' का बोध कराती है। सस्कृत टीका के अनुसार 'दोनो पक्ष' अर्थ होता है।

(२) हिन्दुस्तानी एकेडमी के सस्करण में इस दोहले का अर्थ निम्न प्रकार दिया गया है —" (और जिनके) छज्जो पर मेघ रगडते हुए चलते है (ऐसे) कई पीले और दूसरे लाल महलो में महाराज शोभायमान है।" किन्तु हमारे विचार से महलो के रग-बिरगेपन की कल्पना करने की आवश्यकता नही। महल को भी एक वचन ही रखना चाहिए।

(३) सस्कृत टीकाकार 'अर्धमार्ग' का अर्थ 'गगनमध्य' करते है। 'जल-जाल' को 'जलयन्त्र' के अर्थ में प्रयोग करते हुए महलो की जलयत्र के समान

जल वहाते हुए कल्पना की गई है। सस्कृत टीकाकार ने इस दोहले का निम्न अर्थ किया है —

"अधुना मेघाभ्रवर्णान् व्याख्याति। अथ च अर्धमार्गे गगनमध्ये उत्पतिता मेघाभ्रा शुशुभिरे। उत्प्रेक्ष्यते। महाराजस्य परमेश्वरस्य राजे महल इति क्रीडा योग्यानि मुख्यगृहाणीव तेषा वर्णना। कीदृशानि गृहाणि। जलजालैर्जल-यत्रैरिव जलानि स्रवतीव इति द्वयो पक्षे कानिचित् कज्जलवत् श्यामानि कोर णान्युज्ज्वलानि तान्यव सुधावधवलत्व। कानिचित् पीतान्यभ्राणि हरितालितानि गृहाणीव। कानिचित् रक्तानि हिंगलूकर गितानीवेति गृहमेघाभ्रयो सादृश्य पहलपर्यायै अन्तरे अन्तरे पृथक् पृथक् स्थितान्यभ्राणीति ज्ञेय।"

(२०४) नीलमणि की ईंटो और स्वर्ण के गारा से निर्मित लाल मणियो के सुदृढ खम्भे तथा पाँच प्रकार के रत्नो के छत के सुदृढ पाटवाले, पद्म-रागमणि के झरोखोवाले महलो के शिखर-शिखर पर मयूर क्रीडा कर रहे है।

अलकार—उदात्त।

टि०—डा० टैसीटरी ने अन्तिम पक्ति का पाठ 'सिखर सिखरमै मदिर सिर' दिया है और उसका अर्थ सस्कृत टीका के अनुसार करना चाहते है कि —

"ऊपर स्थित शिखरमय गृहशीर्षों को हीरको से वनाया गया है।"

(२०५) सुगन्धित गुलावजल से धोये गये वस्त्रो को शरीर पर धारण करके सुगन्धित द्रव्यो से धुले हुए महलो मे श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी पूरे श्रावण तथा भाद्रपद महीनो मे इस प्रकार सुखोपभोग कर रहे है।

(२०६) जिस शरद् ऋतु का अनेक प्रकार के कथनो से वखान किया है, ऐसी शरद् ऋतु के आते ही वर्षा ऋतु चली गई। जिस प्रकार रतिकाल मे लज्जा स्त्रियो के नेत्रो मे चली जाती है उसी प्रकार निर्मल जल नीचा ढलाऊ भूमि में जा रहा है।

अलकार—दीपक।

टि०—ढूंढाडी टीका में तृतीय पक्ति का अर्थ भिन्न प्रकार से दिया गया है —"पृथी समस्त जलमई होय रही थी। सुँ पाँणी छोडि कै तलाव माहे जाय रह्यो। नीपरि कहताँ धरती निर्मल हुई।"

'निवाणे' का ढूंढाडी तथा सस्कृत टीकाओ ने 'जलाश्रय' अर्थ लिया है।

संस्कृत टीकाकार की कल्पना है कि 'जल ऐसे ही निर्मल हो गया है जैसे सुरतान्त में लज्जा के कारण नारी के नेत्र श्वेत हो जाते हैं।'

(२०७) वनस्पतियों के पक जाने पर धरा पीली हो गई है। उसका कोकिल-ध्वनी-कण्ठ शब्दहीन हो गया है। ओसकण ही उसका पसीना है। सुरतान्त में शब्दहीन, स्वेदहीन, सुन्दरी स्त्री के पीले मुख के समान ही शरद ऋतु की शोभा है।

अलंकार—उपमा।

टि०—कवि ने सुरतान्त के समस्त सात्विकों को प्रकृति नारी के रम्य शरीर पर लक्षित किया है। इस प्रकार के चित्र हिन्दी साहित्य में विरल ही हैं।

(२०८) आश्विन के व्यतीत होते ही आकाश में मेघ, पृथ्वी में पंक और जल में गँदलापन ऐसे विलीन हो गए, जैसे उत्तम गुरु के ज्ञानालोक के प्रकट होने पर मनुष्य के कलियुग के पाप नष्ट हो जाते हैं।

अलंकार—उपमा।

(२०९) शरद् ऋतु के आने पर गायें दूध झरने लगीं, धरा रस उगलने लगी तथा सरोवरों में कमलों की शोभा प्रकट हुई। स्वर्गलोक में निवास करनेवाले पितरों को भी मर्त्यलोक प्रिय लगने लगा।

अलंकार—समासोक्ति।

टि०—कहा जाता है कि शरत्काल में पितर पिण्डदान ग्रहण करने के लिए मर्त्य-लोक में आते हैं।

(२१०) शरद् की रात्रि इस प्रकार शुक्लवर्णा है कि पास होकर भी हंस तथा हंसिनी अपने निकट स्थित एक दूसरे को न जानकर विरह-दुःख के कारण अपने को भूलकर बारम्बार पुकार मचा रहे हैं।

अलंकार—मीलित।

टि०—ढूंढाड़ी टीका में 'गमै' का अर्थ 'दुःख दूर करते हैं' लिया गया है। टीकाकार का कथन है कि यों तो उज्ज्वलता के कारण एक दूसरे को न जानकर दुःखी होते हैं, किन्तु बोलकर उन्हें एक दूसरे का समीप होने का बोध होने पर उनका दुःख दूर हो जाता है। संस्कृत टीकाकार ने भी इसी अर्थ को स्वीकृत किया है।

(२११) रात्रि की सघन ज्योत्स्ना में उज्ज्वल वस्तुएँ अदृश्य हो गई हैं। इमका अधिक वर्णन ही क्या किया जाय? (यहाँ तक हुआ है कि) सोलह कलाओवाला चन्द्रमा भी अपनी ही उज्ज्वलता मे लुप्त हो गया प्रतीत होता है।

अलकार—मीलित।

(२१२) सूर्य तुलाराशि पर स्थित हो गया। राजा भी (तुलासक्रान्ति पर्व पर) स्वर्ण के वरावर तुलते हुए धरा पर शोभित होने लगे हैं। प्रकाश तथा अन्धकार भी वरावर तुल गए है। अतएव एक-एक दिन लघुता प्राप्त करने लगा है तथा प्रत्येक रात्रि इसी कारण गौरव को प्राप्त करने लगी है (वढने लगी है)।

अलकार—श्लेप, हेतु तथा व्याघात।

टि० (१) १२ राशियो में से ७वी राशि तुला है। तुला में स्वाति तथा विशाखा के ४५-४५ तथा चित्रा के ३० दण्ड रहते है। इसका आकार तराजू लिए मनुष्य के सदृश वताया गया है। इस राशि मे मनुष्य तुलादान द्वारा ग्रहो को तृप्त करते है। कवि का ज्योतिप का ज्ञान सराहनीय है।

(२) दिन को लघुता प्राप्त होने में यह व्यजना छिपी है कि अन्धकार जैसे तुच्छ पदार्थ के वरावर अपने को तुलता देख दिन को क्रोध और खेद हुआ जिसके कारण वह क्षीण होता गया। इसी प्रकार अन्धकार को गर्वानुभव होने के कारण रात्रि वढती गई।

(२१३) कार्त्तिक मास में मन्दिरो में मणिदीपक जलाए गए जो भीतर प्रकाशित होते हुए भी वाहर समान अवस्थावाली सखियो के बीच लज्जानुभव करती हुई सुन्दरी के मन में निवास करने पर भी उसके मुख पर चमकने-वाले सुहाग-सुख के समान प्रकाशित हो रहे है।

अलकार—उपमा।

(२१४) जिस कार्त्तिक महीने में नवीन-नवीन शोभा से मण्डित नवीन महोत्सव किए जाते है, उम मास में आनन्दमयी कुमारिकाएँ घर-घर के द्वार पर स्थिर चित्र चित्रित करती हुई स्वय चित्र के समान शोभा पाने लगी।

(२१५) सासारिक मुखो के वहाने से द्वारिकावासी नए-नए प्रकार के सभी नए मुखों का सेवन करते है। शरद् ऋतु में उनकी रात्रि तथा दिन क्रमश रासक्रीडा तथा रुक्मिणीरमण कृष्ण की भक्ति करने मे ही व्यतीत होते है। अथवा शरद् की रात को श्रीकृष्ण रासक्रीडा में तथा दिन को भक्ति करके व्यतीत करते है।

टि०—(१) हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी की प्रति मे 'रुक्मिणीरमण' का सयोग नवीन सुखो से किया गया है जिसके अनुसार अर्थ इस प्रकार दिया गया है — "रुक्मिणी-रमण श्रीकृष्ण के नवीन प्रकार के जो सभी नए सुख है"। हमे वह विशेप गाह्य प्रतीत नहीं होता।

(२) सस्कृत टीकाकार ने 'नवा' का अर्थ 'जन' करते हुए कहा है — "द्वारिकावासी नररूप मे भी देवताओ के समान त्रिभुवन के समस्त नवीन अर्थात् अभुक्त सुखो का सेवन करते है। शरद्ऋतु में रुक्मिणीरमण की सेवा प्रदर्शित करने के लिए दीपमालिका के अनन्तर भुक्तराशि अर्थात् नवीन पक्वान्न द्वारा तथा सुगन्धित द्रव्य तथा वस्त्रादि से निशिदिन भक्ति करते है।" कहा भी है —

"ताम्बूलमन्न युवतीकटाक्ष गवा रसो बालक चेष्टितानि।
इक्षोर्विकारा मतय कवीना सप्तप्रकारा न भवन्ति स्वर्गे।।"

(२१६) जिस प्रकार (महाभारत के आरम्भ में) धनजय तथा दुर्योधन आवश्यकता पडने पर साहाय्य के लिए (कृष्ण के पास) गए, उसी प्रकार नीद से जागने पर भगवान् विष्णु के सम्मुख जो मार्गशीर्ष मास मिला वही भला (सर्वश्रेष्ठ) माना गया।

टि०—देवप्रबोधिनी या 'देव उठान' एकादशी को देवताओ के जागने की ओर सकेत है। चातुर्मास के पश्चात् जागने पर मार्गशीर्ष ही पहले आता है। गीता मे भी कहा गया है —'मासाना मार्गशीर्षोऽह।'

(२१७) (हेमन्त के आरभ होने पर) पश्चिम दिशा से चलनेवाली वायु उत्तर दिशा से चलने लगी। सब (पतियो) को अपनी स्त्रियो के वक्षस्थल स्वर्ग हो गए। भुजग तथा धनाढ्य दोनो ही पृथ्वी की तह फोडकर विवर (तहखाना) बनाकर रहने लगे।

हमारे अन्य प्रकाशन

भारत दुर्दशा—सपादक, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
चद्रावली नाटिका—सपादक, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
रीतिकालीन हिन्दी-कविता और सेनापति—प्रो० रामचद्र तिवारी	२)
उत्तरा-समीक्षा—विष्णुदेव द्विवेदी	१॥)
खजुराहो की शिल्प-कला—श्रीविद्यानिवास मिश्र	२)
हिन्दीगद्य की भूमिका—प्रो० सद्‌गुरुशरण अवस्थी	३॥)
मुद्रिका (नाटक)—प्रो० सद्‌गुरुशरण अवस्थी	१॥)
हिन्दी एकाकी—सम्पादक, प्रो० जगदीश गुप्त	३)
आधुनिक हिन्दी एकाकी—सम्पादक, प्रो० रामचरण महेन्द्र	२॥)
उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा—प्रो० जगदीश गुप्त	५)
कामायनी के चार सर्ग—टीका तया समीक्षा, प्रो० विष्णुदेव द्विवेदी	२)
प्रसाद साहित्य की भूमिका—प्रो० वी० वी० योहन तथा श्रीपुरुषोत्तमदास मोदी, एम० ए०	४)
प्रमाद साहित्य की प्रेरणा—प्रो० विष्णुदेव द्विवेदी	३)
अजातशत्रु समीक्षा—श्रीपुरुषोत्तमदास मोदी, एम० ए०	१॥)
समाज मनोविज्ञान—डा० महादेव प्रसाद	७॥)
राजनीतिक विचारधाराओ की प्रवृत्तियाँ—प्रो० कृष्णानद	५)
मध्यकालीन काव्य साधना, खड (१) प्रो० रामचन्द्र तिवारी	३)
मध्यकालीन काव्य साधना, खड (२) प्रो० रामचद्र तिवारी	३)
कल्प का अनुवाद (कहानी-सग्रह)—प० माखनलाल चतुर्वेदी	३)

विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर

कल्पना जिसकी वीरता तथा शृंगारकेलि का वर्णन स्वच्छन्द भाव से किया जा सके। इस कार्य के लिये किसी ऐतिहासिक अथवा अनैतिहासिक सुन्दरी की कल्पना कर ली जाती थी। काव्य की यह नायिका किसी व्यक्ति के द्वारा नायक की प्रशसा सुनकर उसपर मुग्ध हो जाती और उसके पास अपना प्रेम-सन्देश भेजती। नायिका का सन्देश पाकर नायक शीघ्र ही बडे उत्साह से साज-सज्जा करके नायिका के पिता अथवा सरक्षक पर आक्रमण करता और नायिका का वलात् अपहरण करके उससे विवाह कर लेता था। नायक की वीरता का प्रदर्शन कराने के लिये ही इस आक्रमण की कल्पना काव्यो का मुख्य अग हो गई थी। नायिका-अपहरण के अनन्तर उसकी कामकेलि और सुखोपभोग का वर्णन इन काव्यो की दूसरी विशेपता थी। बिना इस वर्णन के मानो काव्य का उद्देश्य ही पूरा नही हो पाता था। पृथ्वीराज-रासो का सयोगिता-स्वयम्बर प्रसग बिल्कुल अनैतिहासिक है, फिर भी इसका वर्णन कवि ने पूरी लगन से किया है। उसी का परिणाम है कि आजतक उस घटना को सत्य मानकर इतिहास का ढाँचा तैयार किया जाता रहा है। इसी प्रकार की घटना पृथ्वीराज रासो के अन्तर्गत 'पद्मावती समय' में भी वर्णित है।

'वेलि' में भी इस प्रकार की कथा का पूरा निर्वाह किया गया है। इस दृष्टि से 'वेलि' को वीरकाव्य-परम्परा में रखने का प्रयत्न किया जा सकता है। किन्तु, इस प्रकार का निर्णय देने से पूर्व यदि कथा के मूलाधार पर दृष्टिपात कर लिया जाय तो 'वेलि' को वीरकाव्य कहने की असगति सिद्ध हो जायगी। 'वेलि' की कथा का यह स्वरूप कथाकार की ओर से जानवूझकर वीरगाथा की परम्परा के अनुसार नही रखा गया है वल्कि इस कथा के इस स्वरूप का जैसा जो कुछ वर्णन उसे मूलग्रथ भागवत में उपलब्ध हुआ, उसीको उसने अपनी प्रतिभा से सजाया, सँवारा और सुधारा है। कवि को कथा का मूलरूप तो वीरगाथा-काव्यो से बहुत पूर्व के ग्रथ से उपलब्ध हुआ है अतएव यह नही कहा जा सकता कि वेलि वीरकाव्यो की पद्धति का अनुसरण करती है। यह दूसरी बात है कि उसकी घटना वीरकाव्यो की किसी घटना से मिलती जुलती है। घटना के इस साम्य पर दृष्टि रखते हुए, साथ ही यह जानते हुए कि लेखक को घटना भागवत से मिली है, यह अवश्य कहा जा

अलकार—परिकराकुर।

टि०—तृतीय प ि ारा पत-पत्नी के भोग का सकेत किया गया है। घनी तथा भुजग की तुलना के ारा दोनो की विषमयता आदि पर व्यग किया गया है। .

(२१८) नदियाँ घटने लगी, हिमालय पर हिम की निर्मल चोटियाँ इस प्रकार वढने लगी, जैसे यौवनागम पर (नायिका की) कटि क्षीण हो गई हो तथा नितम्व एव पयोधर स्थूल हो गए हो।

अलकार—उपमा तथा व्याघात।

(२१९) हेमन्तकालीन शीत के भय के कारण रात्रि होने पर कोई भी मार्ग मे नही चलता, वल्कि सभी अपने घरो में ही रहते है। कोई कोमल वस्त्र, कोई कम्वल के भार से लदा हुआ अर्थात् रजाई या कम्वल आदि लपेटे हुए रहता है।

टि० (१) डा० टैसीटरी ने द्वितीय पक्ति का 'मलिन सुतनु केइ वहै मग' पाठान्तर दिया है। सस्कृत टीकाकार को भी यही पाठान्तर स्वीकार है जिसका अर्थ उन्होने इस प्रकार किया है कि —"अपने शरीर से मलिन कोई-कोई मार्ग में चलते है। क्योकि आलस्यवश धीरे-धीरे मार्ग में चलने से शरीर मलिन हो जाता है।" (२) 'जिणि' का सस्कृत टीका में 'येन कारणेन' अर्थ किया गया है। यह पाठ चतुर्थपक्ति के 'जण' पाठ के स्थान पर किया गया है।

(२२०) जिस प्रकार कोई ऋणी ऋणदाता को देखकर सकुचित हो जाता है उसी प्रकार दिन भी (शीत को देखकर) धीरे-धीरे सकुचित होने लगे। जिस प्रकार प्रगलभा नायिका पति द्वारा आकृष्ट वस्त्र को कठिनाई से ही छोडती है, वैसे ही पौपमास की रात्रि आकाश को (नीलाम्वर को) वडी कठिनाई से छोड रही है।

अलकार—उपमा।

(२२१) वाणी तथा अर्थ, शक्ति तथा शक्तिमान्, पुष्प तथा सुगन्धि एव गुण तथा गुणी जिस प्रकार एक दूसरे से मिले अथवा अविभाज्य होकर रहते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीजी ने शीत को दूर करने अथवा व्यतीत करने के हेतु परस्पर मन को उलझाया।

अलंकार—मालोपमा।

टि०—तुलना कीजिये —"वाणि अरथ जिम" तथा कालिदास की पंक्ति "वागर्थाविव सम्पृक्तौ।"

(२२२) सूर्य कामदेव के वाहन मकर—मकर राशि—पर स्थित हुआ तथा उत्तरी पवन ने बहकर कमलों को जलाकर वियोगिनी नारी के मुख जैसा मलिन तथा आम के वृक्षों का पालन करके संयोगिनी नारियों के हृदय के समान प्रफुल्ल बना दिया।

अलंकार—रूपक तथा व्याघात।

टि०—मकर राशि १० वीं राशि है। इसमें उत्तराषाढा नक्षत्र के तीन पाद, सम्पूर्ण श्रवण नक्षत्र तथा धनिष्ठा के आरम्भ के दो पाद आते हैं।

(२२३) माघ मास के आरम्भ होते ही लोगों को जल दाहक तथा अग्नि शीतल लगने लगी। प्रार्थना अथवा याचना करने पर कृपण के वचनों—उत्तर—वाली पवन ने आम्र वृक्षों को त्यागकर शेष वन को जला दिया।

अलंकार—चित्र तथा विरोधाभास।

टि०—कवि का वाक्चातुर्य सराहनीय है।

(२२४) यद्यपि इसका नाम शीत है, किन्तु यह अपने नाम के अनुसार शीतलता न देकर हरे-भरे वनों तथा जलस्थित कमलिनी को भी जला देता है। इसी पाप के कारण मन के कालुष्य का मार्जन किये बिना यह द्वारिका में प्रवेश नहीं करता।

अलंकार—विभावना तथा हेतूत्प्रेक्षा।

टि०—समुद्र-तट स्थित द्वारिका की जलवायु मध्यस्थिति की रहती है और शीत की अधिकता वहाँ नहीं व्यापती, इस सत्य को व्यंजित करने के साथ-साथ कवि ने यह भी संकेत कर दिया है कि द्वारिका में कोई पापी नहीं घुस पाता है।

(२२५) सूर्य अपने प्रताप को प्रहरी बनाकर दसों दिशाओं में शीत को रोकता है। अर्थात् सूर्य की प्रचंड किरणें दसों दिशाओं में फैलकर शीत भगाती हैं। धूप तथा तापने की अग्नि के बहाने वह अपना शरीर दम्पति के ऊपर दिन-रात न्योछावर करता है।

अलकार—कैतवापह्नुति तथा रूपक।

टि०—ढूँढाडी टीका ने इसका विचित्र अर्थ इस प्रकार किया है —"ठाकुर को प्रताप ज हुऔ तिणिही तौ सीत पाल्यो आघौ आवण न दीयौ। रुपमणी अर श्रीकृष्ण ऊपरि दसौ दिसा आपणो सरीर उवारें छै। और अगनि अर सूरज ए आपणो सरीर उवारे छै। अगनि धूप कै मिस सरीर उवारें छै। सूर्य दीपक कै मिसि सरीर उवारेछै। रात्रि दिन उवारे छै।

सस्कृत टीका के अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार है कि—"ऊपर चढता हुआ सूर्य अग्निरूप हो सन्ध्या कालो में श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी पर पहले धूप करके पुन आरती के वहाने अपने शरीर को ही वार देता है। वह दशो दिशाओ का भ्रमण करके शीत का निवारण करते हुए अपने प्रताप को प्रतिहारी वनाकर स्वय श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी की सेवा मे अपने को वारता है।" अथवा सस्कृत टीका के अनुसार दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि —"लोग सूर्य के प्रत्युपकार के लिए आरती के वहाने अपने शरीरो को उसके आधीन करते हैं।"

(२२६) सूर्य के कुम्भ-राशि में स्थित हो जाने पर ऋतु मे परिवर्तन होने लगा। हेमन्त की शीत से ठिठुरे अथवा ठूँठ वने हुए वृक्ष शिशिरागमन के साथ हरे-भरे और पल्लवित हो गये। भ्रमर उडने के लिए अपने पखो को तथा कोकिल कूकने के लिए अपने कण्ठो को सँवारने लगी।

टि०—(१) धनिष्ठा नक्षत्र के उत्तरार्ध में तथा शतभिप और पूर्वभाद्र के तृतीय चरण तक रहनेवाली ग्यारहवी राशि कुम्भ कही जाती है। प्रति वारहवे वर्ष सूर्य के कुम्भ राशि पर आने पर हरिद्वार मे कुम्भ मेला लगता है। (२) डा० टैसीटरी ने—ठरे जु द्रह कियौ हेम ठण्ठ—पाठ देकर सस्कृत टीका का अनुसरण किया है, जिसके अनुसार अर्थ यह होगा कि —"हिम अर्थात् ठरित में कमी होकर द्रहा अर्थात् ह्रद अकम्पन कर दिये गये।" तथा ढूँढाडी टीका के अनुसार अर्थ होगा —"हेम पिण ठरचउ पाणी का द्रह निवाण ठण्ठ कहता जामी नइ पालउ थयउ।"

ऋतु के विचार से यह दोनो अर्थ सगत नही प्रतीत होते। कवि ने यहाँ ऋतु-परिवर्तन का वडा स्वाभाविक वर्णन किया है।

(२२७) वीणा, डफ, अलगूंजा, वशी वजाते हुए, हाथो में गुलाल और मुख मे पचम-रागसहित युवक-युवतियाँ घर-घर फाग खेल रहे है, किन्तु ऐसा फाल्गुन मास विरही जनो को अत्यन्त दुखद है।

टि०—डा० टैसीटरी ने 'रीरी' पाठ रखते हुए सस्कृत टीका के अनुसार उसका अर्थ 'वाढस्वरेण' लिया है। 'रीरी' पाठ मानते हुए 'आलाप' अर्थ भी सभव है।

(२२८) तरुओ मे पल्लव, पुष्प तथा नवीन अकुर अभी प्रादुर्भूत नही हुए है। फिर भी, शाखाएँ कुछ-कुछ मजरियो से ऐसी हरी-भरी हो गई है, जैसे प्रिया पति का आगमन जानकर शृङ्गार न करने पर भी शोभित होती है। अर्थात् उसके हृदय के उत्साह तथा हर्ष का भाव उसके मुख पर चमकने लगता है। उसी प्रकार वृक्षो पर पल्लव, पुष्प तथा अकुररूपी आभूषण तो नही दिखाई देते, किन्तु मजरी से उसका उछाह प्रकट हो रहा है।

अलकार—उपमा तथा विभावना।

टि०—कही-कही 'थुड' पाठ देकर 'शाखा-प्रशाखा' के अर्थ में उसका प्रयोग किया गया है।

(२२९) ऋतुसमय से गर्भ के दश मास समाप्त होने पर वनस्पतिरूपा वधू ने वसत-रूपी-पुत्र का प्रसव किया है—अन्य नारियो के अनुभव के समान ही प्रसवित् वनस्पति को भी अनुभव हो रहे है। यथा—भ्रमर के गुजार के रूप में उसके मन की व्याकुलता तथा कोकिल की कूक के रूप मे उसके पीडामय वचन निकल रहे है।

अलकार—समासोक्ति।

टि०—प्रसववेदना से व्याकुल चिल्लाती हुई नारी का वडा ही सच्चा तथा चित्रमय वर्णन है। शब्द-प्रयोग भावानुकूल है।

(२३०) वनस्पति-रूपी-जच्चा की प्रसव वेदना समाप्त हो जाने पर पक्वान्नो, फलो, पत्रो, सुन्दर पुष्पो, सुन्दर रगीन वस्त्रो एव समस्त प्रकार के द्रव्यो से होलिकोत्सव पूजा जाता है।

टि०—होलिकोत्सव के कारण की कल्पना कवि की सूझ मात्र है, फिर भी स्वाभाविक-सी जान पडती है। वसन्तोत्सव अथवा मदनोत्सव तो इतिहास-प्रसिद्ध है।

(२३१) वसन्त-रूपी-पुत्र के किशलय-रूपी-अगो को त्रिगुणात्मक—शीतल, मन्द, सुगन्ध—मलयानिल-रूपी त्रिगुणात्मक—सत्व, रज तथा तमस् युक्त—कलि-पवन का स्पर्श करते ही भूख तथा प्यास लगी। इसी से वह भौंरो की गुँजार के वहाने रोता है तथा वनस्पति-रूपी माता मधु के वहाने दूध झर रही है।

अलकार—कैतवापह्नुति तथा रूपक।

टि०—कुछ टीकाओ मे तृतीय पक्ति में 'मधुप' के स्थान पर 'मधूक' पाठ दिया गया है और अर्थ इस प्रकार किया गया है —मधूक वृक्ष के गिरते हुए पुष्पो के वहाने वसन्त-रूपी शिशु रोता है। क्योकि दलो मे मलयानिल के द्वारा कल नामक रोग-विशेष उत्पन्न हो गया है।

(२३२) वसन्त-जन्म के लिए ववाईदार सुगन्धि पवन-रूपी रथ पर चढ-कर वन, नगर, घर-घर, तरु-तरु तथा प्रति सरोवर और सभी नर-नारियो के नासिका-पथ में ववाई देता घूम रहा है। अर्थात् वसन्त मे सुगन्धि सभी स्थानो पर वितरित हो रही है। (विचित्रता देखिये कि यह वधाई श्रवण-मार्ग से नही, नासिका-मार्ग से दी जा रही है।)

अलकार—अनुप्रास तथा रूपक।

(२३३) सघन आम्र-मौर ही तोरण है तथा कमल की कलियाँ ही मानो मगल-कलश है। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक फैली लताएँ ही मानो वन्दनवार बाँधी गई है।

अलकार—उत्प्रेक्षायुत् रूपक।

टि०—राजस्थान में तोरण विशेषत गृहद्वार पर लटकाई जानेवाली लकडी की वनी हुई उस सजावट को कहते है जिस पर मयूर चित्रित रहते है।

(२३४) वानरो द्वारा फोडे हुए कच्चे नारियल फलो का गूदा ही माग-लिक दही है। केसर ही कुकुम तथा पद्म-पराग ही अक्षत है। अत्यन्त प्रसन्न होकर कोकिल गा रही है। वही मानो कलकण्ठी नारियाँ है जो मगल-गान गा रही है।

अलकार—रूपक।

टि०—मगल-कार्य में दधिदर्शन मगल-सूचक होता है, अतएव उसका वर्णन किया गया।

(२३५) धरा पर वसन्त के आ जाने से कमलिनी के पत्ते पर पडी हुई जल की बूंदे ऐसी शोभा पाती है मानो काँच से निर्मित आँगन मे उल्लसित सुन्दरी नारियाँ मोतियो से थाल भरकर बधाई के लिए आई हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(२३६) पुत्रवती वनस्पति कनेर तथा टेसू के पीले पुष्पो-रूपी-वस्त्र पहने है तथा मन मे प्रसन्न हो रही है। वह कामधेनु के सदृश कामनाएँ बरसाती है, अर्थात् कामनाएँ पूर्ण करती है।—जिसको जिस प्रकार के पुष्पो की इच्छा होती है वह इस ऋतु में उसे उपलब्ध हो जाते है।

अलकार—उपमा।

टि०—राजस्थान में प्रसवोपरान्त पीले कपडे पहनाने की प्रथा है। यह मगल-लक्षण समझा जाता है।

(२३७) जहाँ वनो मे कनेर के तरु में कर्णिकार पुष्प एव सेवती, कूजा, मालती, सोहनी तथा गुल्लाला इत्यादि के पुष्प पुष्पित है, वहाँ मानो इस वनस्पति ने समस्त परिवार को विविध रग के वस्त्र पहनाये है।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

(२३८) इस प्रकार वसन्त को बधाईदारो ने बधाई दी। दैनन्दिन उसकी कान्ति बढती गई और शरीर पुष्ट होता गया। फाल्गुन मास के फाग-गीत के द्वारा उसे हुलराया अथवा लोरी दी। तरुओ के सघन अथवा हरे-भरे होने के रूप मे ही वसन्त तरुण हो गया।

अलकार—परिकर।

टि०—द्वितीय पक्ति का अर्थ ढूँढाडी टीका में इस प्रकार दिया गया है — "दिन-दिन भलाई का समूह बढता गया।"

(२३९) वहाँ वन में ऋतुराज वसन्त ही राजा है, मदन उसके मन्त्री है तथा पर्वतो की शिलाएँ ही उनके सिंहासन है। शिर पर आम्र-तरुओ-रूपी-छत्र शोभा पा रहे है, वायु द्वारा सचालित मजरी-रूपी-चँवर डुलाए जा रहे है।

अलकार—सागरूपक।

(२४०) उस वसन्त-रूपी-राजा के स्वागत में बिखरे हुए अनार के दाने रूपी-रत्न न्योछावर रूप में डाले गये जान पड रहे है। खगो के चरणो से

नीचे गये तथा चोच से कुतरे हुए फलो से टपकते हुए रस-रूपी-जल से मार्ग सीचा जा रहा है।

अलकार—रूपक।

टि०—डिंगल-काव्य में लुचित, चुम्वित, मुचन्ति तथा सिंचन्ति जैसे-शुद्ध सस्कृत प्रयोग लेखको ने आपत्तिजनक माने है। नग—फारसी प्रयोग भी साथ ही हुआ है।

(२४१) वसन्त की सेना का वर्णन करते हुए कवि रूपक बाँधता हुआ कहता है—हरिण-रूपी-पैदल सैनिक, कुज-रूपी-रथ, हस-पवित-रूपी बँधे हुए घोडो की पक्ति तथा सजे हुए पर्वतरूपी हाथियो की पीठ पर खजूरो-रूपी ढालें लटकती शोभा पा रही है।

अलकार—सागरूपक।

(२४२) आकाश तक प्रसारित ऊँचे ताड के वृक्षो की सीधी पेंडियो अथवा तनो पर चचल पत्ते ऐसे प्रतीत होते है मानो वसन्त ने राजसिंहासन पर वैठने पर ससार के ऊपर अपनी दिग्विजय के घोपणा-पत्र बाँधे है।

अलकार—उत्प्रेक्षा तथा सम्वन्धातिशयोक्ति।

टि०—ढूँढाडी तथा सस्कृत टीकाएँ इसका अर्थ भिन्न मानती है। उनके अनुसार अर्थ यह होगा —"राजसिंहासनासीन वसन्त ने अपना हाथ ससार के ऊपर उठा रखा है, मानो कहता हो कि ससार मे कोई भी मेरी बराबरी नही कर सकता।" सस्कृत टीका का अर्थ है कि —"जिस प्रकार ऊपर पत्ते एक दूसरे से जुडे है वह ऐसे प्रतीत होते है मानो वसन्त राजा ने सिंहासनासीन होकर जगत के हाथो को एक साथ बाँध दिया है और इस प्रकार यह घोषणा कर दी है कि जो हमें विजय करना चाहे वह यह जान ले कि उसकी क्या दशा होगी। अर्थात् उसने गर्वपूर्वक शत्रुओ मे भयोत्पादन करना चाहा है।"

(२४३) ऋतुराज के सम्मुख महफिल अथवा नाट्यारम्भ हो रहा है। वन ही मण्डप है, निर्झर ही मृदग है, पचवाण—कामदेव ही उत्सव का नायक है, कोकिल ही गायिका है तथा वनरूपी उस रगस्थली मे एकत्र पक्षी ही दर्शक है।

अलकार—सागरूपक।

(२४४) वहाँ राजहस ही कला-पारखी है, मोर ही नर्तक है, वायु ताल देनेवाला है, पत्ते ही करताल है, झिल्ली की झनकार ही तार के वाद्यो.

का स्वर है। भ्रमर ही नसतरंग वजानेवाला तथा चकोर त्रिवट ताल देनेवाला है।

अलकार—सागरूपक।

(२४५) शुक—नृत्य तथा गान की शास्त्र-विधि वतानेवाला है, सारस रसज्ञ है, चतुर खजन पक्षी गतें लेनेवाला है। कवूतर नट के समान लागदाटादि भावो के वताने में प्रवीण है तथा चक्रवाक की क्रीडा ही विदूपक का अभिनय है।

अलकार—सागरूपक।

(२४६) वन के आँगन अथवा खुले स्थानो में घूम-घूमकर भौंरे जल पीते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे है जैसे त्रिसम ताल पर उडप नामक विशेप नृत्य हो रहा हो। मरुत् चक्राकार घूमती है, मानो मूर्च्छना ले रही है। रामसरी तथा खुमरी नामक चिडियाँ रट—धुन—लगा रही है, मानो मधुर ध्रुवा तथा चन्द्रक ध्रुपद नामक रागिनियाँ अलापी जा रही है।

अलकार—उत्प्रेक्षायुत रूपक।

टि०—ढूँढाडी टीका का अर्थ इस प्रकार है —"आँगण माहें जल छै। सु पवन को प्रेरचो चालै छै। इहै तिरप उरप हुई। मरुत चक्र कहताँ वाउ को चक्र ववूलियो। इहै मुरू हुऔ। रामसरी वोलै इहै मानौ धूवा माठा हुआ। पूमरी वोलै छै। इहै मानो चन्द धुरू सगीत का सवद हुआ।"

(२४७) वन मे सघन तरु-समूह की छाया-रूपी-रात्रि हो रही है। पुष्पित पलाश के वृक्ष-रूपी-दीपयुक्त दीवटें है। आम्र-मजरी ही वसन्त का रीझकर रोमाचित हो जाना है। कमलो का विकास ही हर्पोद्गत हास्य है।

अलंकार—सागरूपक।

(२४८) मधुमास के प्रकट होते ही कोक सगीत प्रकट हुआ, अर्थात् रस, अलकार, शृङ्गार, तथा भावादि सहित सगीत उत्पन्न हुआ। शिशिर ऋतु की श्री अर्थात् शोभारूपी यवनिका को दूर करके अभिनेताओ ने आशीर्वचनादि मन्त्र पढकर ऋतुराज वसन्त पर पुष्पाजलि वारी।

अलकार—रूपक।

टि०—नाट्यारम्भ में सूत्रधार तथा मुख्य अभिनेता आए हुए राजा के स्वागत में पुष्पाजलि भेट करते थे। यह प्राचीन नियम था, इसी की ओर यहाँ सकेत किया गया है। ऐसा उल्लेख हि० ए० के सस्करण के सम्पादको ने

किया है। किन्तु सस्कृत टीका 'रितु' के स्थान पर 'रति' पाठ स्वीकार करती है। और इस प्रकार वसन्त ऋतु के स्थान पर रति की पूजा की ओर सकेत करती है। इस सकेत को एक टीकाकार ने इस प्रकार प्रकट किया है —"नृत्य अवसरइ मन्त्र पढि देवता रइ सिरि पुफाजलि नाँखीयइ।" (२) ढूँढाडी टीका ने भिन्न ही अर्थ दिया है, जो इस प्रकार है —"ससिर रिति थी जवनिका सु तो दूर कीवी। या रिति ही पात्र हुई, तिणि मन्त्र पढि अर पुहपाजली वनसपती उपरि नाँषी छै।" इसके अनुसार वसन्त पर नही, वनस्पति पर पुष्पाजलि वारी जा रही है तथा वसन्त ही पुष्पाजलि वारनेवाला पात्र है। सस्कृत टीका भी इसी से मिलती-जुलती है। किन्तु वसन्त का वर्णन करते हुए उनके स्वागत में पुष्पाजलि वारना अधिक स्वाभाविक तथा उचित ज्ञात होता है।

(२४९) शिशिर-रूपी-दुष्ट राजा उद्भिज्-रूपी-प्रजा को पीडा देता था। राजा वसन्त ने शिशिर के अन्याय-रूपी-दुर्जन उत्तरी वायु को हटाकर वनरूपी-नगर-नगर में प्रसन्न करनेवाली वायु के वहाने न्याय का प्रवर्तन किया।

अलकार—रूपक तथा कैतवापह्नुति।

टि० १ दोहला २२३ के 'उत्तर' शब्द के आधार पर कुछ टीकाकारो ने 'उत्तर दिशा' तथा 'अस्वीकारात्मक उत्तर' दोनो अर्थ किये है। यथा, (१) उत्तरेणानगीकारेणासद्दुर्जन इवोत्थापितो दूरीकृत। (२) ऊतरदिशि वायुरूप ऊतर नाकारइ करी असन्त दुर्जन नी परइ ऊथापियउ दूरइ कीयउ।—आदि। २, कही-कही 'उद्भिज्' के स्थान पर 'अम्वुज' पाठ भी किया गया है। यथा, सस्कृत टीका में।

(२५०) जिस धन को शिशिर-रूपी-दुष्ट राजा के भय के कारण वनस्पति-रूपी-धनपति ने अव तक छिपा रखा था, उसी गडे हुए धन को वसन्त-रूपी-सुराजा के आगमन पर निर्भय होकर एक वृक्ष ने पुष्पो के वहाने तथा दूसरे ने पत्तो के वहाने खोदकर प्रकट कर दिया है। चम्पक वृक्ष-रूपी-लखपती ने—लाखो के धन पर पुष्प-रूपी-दीपक जलाये है तथा केलि-रूपी-करोडपति ने करोडो के द्रव्य पर पत्तोरूपी पताका फहरायी है।

अलकार—रूपकातिशयोक्ति तथा कै० अपह्नुति।

टि०—लखपतियो द्वारा अपने धन पर दीपक जलाने तथा करोडपतियो द्वारा अपने घर पर ध्वजा फहराने का प्राचीन काल में नियम था। उसी का

वर्णन किया गया है। कवि का निरीक्षण सराहनीय है कि उसने चम्पक के पुष्पो की कान्ति की समानता प्रज्ज्वलित दीपक से तथा ध्वजा की समानता कदली के पत्तो से वडी सफलतापूर्वक की है।

२५१—मलयानिल के चलने से सुराज्य-सा स्थापित हो गया, अर्थात् सुराज्य का-सा सुख प्रतीत हुआ। तव पुष्पभार-रूपी-आभूषण धारण करके लताएँ निश्चिन्त भाव से अक भरकर तरुओ के गले लगी।

अलकार—रूपक तथा समासोक्ति। '

टि०—निश्शक भाव से आभूपण पहनने में यह व्यजना छिपी है कि शिशिर के कुराज्य मे किसी को अपने आभूपण तथा धन के वचने की आशा न होने से, अरक्षा की शका से, सवने अपने गहने छिपा दिये थे, जिन्हें वसन्त के सुराज्य के स्थापनानन्तर पहना है।

(२५२) कष्ट देते हुए हेमन्त तथा शिशिर के पूर्वकाल के दुख को ऋतु-राज वसन्त ने हित करके दूर कर दिया। तरुवरो की शाखाओ पर फैली हुई लताओं ने वशाख मास को जन्म दिया।

टि०—वसन्त का सुराज्य पाकर सुखी प्रजारूपी वनस्पति की लतारूपी नारी तथा वृक्षरूपी पुरुष ने एक दूसरे के साथ समागम किया, जिसका वर्णन पूर्व दोहले में कर दिया गया है। उसी समागम के फलस्वरूप वैशाखरूपी पुत्र का जन्म हुआ। चैत्र के पश्चात् वैशाख के आने की यह रमणीय कल्पना है। व—शाख नाम के आधार पर कवि की यह कल्पना साहित्य में अनुपम ही है।

अलकार—परिकरांकुर।

(२५३) भ्रमर-रूपी कर वसूल करनेवाले इधर-उधर घूमते है और गुंजार-रूपी-शव्द (शोर) कर रहे है। यह वृक्षो-रूपी-प्रजा से मजरी, सुगन्धि तथा मधु-रूपी-राज्यकर लेते हुए इसी प्रकार डक नही मारते जिस प्रकार सुराज्य में दण्ड नही दिया जाता।

अलकार—उपमायुत रूपक।

टि०—(१) सस्कृत टीकाकार ने 'डकन' एक शव्द मानकर उसका यह अर्थ किया है कि 'थोडा स्वाद मात्र ही दण्ड दिया जाता है।' यथा—'डकन स्तोक स्वादुमात्र दीयते दण्ड सर्वथा लुण्टनरूप न दीयते।'

सकता है कि लेखक चयन की दृष्टि मे वीरकाव्य से भले ही प्रभावित न हुआ हो किन्तु अपने कुलीन वीररक्त ने उसके दृष्टिकोण को अवश्य प्रभावित किया है। अपनी धमनियो में प्रवाहित होते हुए वीररक्त के ओज तथा स्वदेशाभिमान ने ही कवि को ऐसी घटना का चयन करने के लिये विवश किया जहाँ वह युद्ध का वर्णन कर सके। स्वय राजकुल मे उत्पन्न होकर तथा तत्कालीन परम प्रतापी मुगल सम्राट् अकवर के दरवार मे रहकर उनके लिये जितना सहज शृगार की ओर झुकना था उससे भी कही अधिक वीरत्व के प्रदर्शन की चेष्टा स्वाभाविक थी। परिणामस्वरूप लेखक ने कृष्ण-कथा के अन्य कथानको का तिरस्कार करके यह प्रसग अपनाया जिसमे वह शृगार तथा वीर दोनो प्रसगों का निर्वाह कर सकता। भागवतादि की कथा केवल विवाह-सस्कार तक चलती है किन्तु शृगार लाने के लिये वेलिकार ने उसके आगे सभोग तथा षटऋतु का वर्णन भी किया है। युद्ध का जितना सक्षिप्त वर्णन भागवत मे किया गया है उसका अत्यधिक विस्तार लेखक ने वेलि मे किया है जिससे प्रतीत होता है कि वह अपनी भावनाओ और जातीय गुणो को काव्य की सीमित परिधि से सयमित नही कर सका है। फलस्वरूप वीररस गौण अवस्था से प्रधान वन गया है और शृगार ग्रथ—गूथियै जेणि सिंगार ग्रथ—में रसास्वाद में कुछ विघ्न भी उपस्थित हो गया है। स्पष्ट है कि लेखक ने वीरगाथा परम्परा का निर्वाह करने के लिये नही वल्कि अपने मनोभावो को दवाने में असमर्थ होकर ही वीररस को इतना महत्व दिया है। तात्पर्य यह कि वेलि किसी परम्परा के अनुसरण के लिये नही लिखी गई वल्कि वह भावुक हृदय के स्वाभाविक उद्गार के रूप में प्रस्तुत की गई है।

प्रेमगाथा-काव्यो से भी वेलि का वहुत कुछ साम्य है। उन काव्यों की भाँति ही यहाँ भी आत्मा और परमात्मा का रूपक सिद्ध हो सकता है। पृथ्वीराज ने कृष्ण को जगत्पति तथा अन्तरजामी आदि कहा तथा रुक्मिणी को लक्ष्मी का अवतार वताया एव जन्म जन्मान्तर का उनका सम्वन्ध प्रकट किया है। रुक्मिणी, आत्मा के समान, अनेक ग्रथो आदि से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही कृष्ण रूपी परमात्मा को उपलब्ध करने के लिये मन में निश्चय कर लेती है। किन्तु, विना गुरु—ब्राह्मण—का सहारा लिये

(२) कवि ने यहाँ यह रूपक बाँधा है कि जैसे लगान उगाहनेवाले कृषक की खेती से उत्पन्न धान्य को कर-रूप मे ले लेते है, उसी प्रकार भ्रमर-रूपी करग्राहक वनस्पति-रूपी-कृषक की पुष्पादि-रूप-खेती से कर-रूप मे सुगन्धि आदि ग्रहण कर रहे है।

(२५४) ऋतुराज वसन्त के प्रसाद से तरु पुष्पो से लद गये है। उनके हिलने मे पुष्पभार झड रहा है। मानो कामदेव ने पुष्पवाणो को अपने कराग्र म पकड रखा है। जागतिक जन अग्नि तापने से वच गये है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा तथा पर्यायोक्ति।

टि०—(१) हि० ए० के वेलि सस्करण में 'वलि—जगि', पक्ति का अर्थ श्लेष के आधार पर निम्न प्रकार से भी किया गया है —"वसन्त में ऋतुराज की कृपा से लोगो ने शीतकाल की तरह अग्नि से तापना छोड दिया है, परन्तु अब वे एक दूसरी प्रकार की अग्नि तापते है। वह है कामाग्नि।" यहाँ वेसन्नर का अर्थ 'कामाग्नि' लिया जायगा। (२) 'भुरडीतौ रहे'—पाठ के आधार पर 'अग्नि तापते है,' अर्थ भी किया गया है।

(२५५) जिस प्रकार वर्षा होने पर भी चातक उसके जल से वचित ही रह जाता है—प्यास नही वुझा पाता—उस प्रकार वसन्त के राज्य मे कोई भी वचित नही रहता। जिस प्रकार राजा की प्रशसा में वन्दीजन गान करते तया धन प्राप्त करते है, वैसे ही पक्षी-रूपी-वन्दी वोलकर यशगान कोलाहल कर रहे है। उन पक्षियो ने अपने पखो को ऐसे प्रसन्नतापूर्वक फैला रखा है, मानो अपनी सेवा का फल-रूपी-फल प्राप्त कर रहे है।

अलकार—उत्प्रेक्षा तथा व्यतिरेक।

टि०—डा० टैसीटरी ने तृतीय पक्ति मे 'पखि' पाठ रखकर अगली पक्ति में आए हुए 'खग' शब्द में उसकी पुनरुक्ति मानी है, किन्तु ढूँढाडी टीका के अनुसार 'पख' पाठ मान लेने पर यह आपत्ति उपस्थित नही होती। तब सस्कृत टीका की सी 'वडे पक्षी' तथा 'छोटे पक्षी' आदि अर्थ की कष्ट-कल्पना भी न होगी।

(२५६) कुसुमायुध के आश्रय-स्थान कुसुमित किंशुक को देखकर रति-क्रीडा की इच्छा करती हुई सयोगिनी तथा वियोगिनी नारियो की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हुई। पति-सयोगिनी ने उसे पुष्पित देखकर कहा कि यह 'किं सुख'

अर्थात् कैसा सुखद है। किन्तु वियोगिनी उसे देखकर भय से कृशकाय हो गई और उसने कहा कि यह वन मे पलाश अर्थात् राक्षस है।

अलकार—उल्लेख तथा श्लेष।

टि०—(१) पाठान्तर 'ओटि' के स्थान पर ढूँढाडी टीका में 'उदै, उदौ' पाठ मानकर यह अर्थ किया गया है—"कुसुमायुध कहतां कामदेव तें कै उदै करि केलि विलास खेल।" किन्तु सस्कृत टीकाकार ने पूर्णतया दूसरा ही पाठ प्रस्तुत किया है। यथा "पेख अेक रूँख पति परिफूलित, वदै नारि अनि अनि वचन॥" उनका अर्थ है —"एक वृक्ष को समकाल मे दो नारियो ने पुष्पित देखकर भिन्न-भिन्न रूप में कहा।" इस अर्थ में पूर्व-पाठ का-सा शब्द-सौन्दर्य नही है। कामदेव के कुसुमायुध नाम के आधार पर उसके आश्रय-स्थान के रूप में वसन्त में फूले हुए किंशुक की कल्पना अधिक स्वाभाविक है। सस्कृत टीकाकार ने दूसरा अर्थ भी स्वीकार किया है। (२) हि० ए० के सस्करण के सम्पादको ने प्रथम पक्ति का अर्थ—"पुष्पधन्वा कामदेव की कल्पना करके रति-क्रीडा की इच्छा करती हुई" आदि किया है। इस अर्थ में कवि द्वारा उक्त भाव की व्यंजना नही आती जान पडती। कुसुमायुध के स्थान पर कामदेव कहना और 'ओटि' का अर्थ 'कल्पना' बताना उचित नही जान पडता। 'कुसुमित' किंशुक का विशेषण होना चाहिये। (३) तोते की नाक के समान आगे से टढे होने के कारण पलाश के फूल को किंशुक कहा जाता है। किन्तु कवि ने 'किं सुख' कहकर दूसरे अर्थ की मौलिक कल्पना द्वारा काव्य-चमत्कार प्रदर्शन में सफलता प्राप्त की है। इसी प्रकार 'पलाश' शब्द की 'पल मास अश्नाति इति पलाश' व्युत्पत्ति का सहारा लेकर भी उक्ति-चातुर्य दिखाया गया है। किंशुक का लाल मुख देखकर उसे सरलता से मासाहारी कहा जा सकता है। (४) सयोगिनी तथा वियोगिनी नारियो के एक ही पुष्प के विषय मे एक ही काल में भिन्न-भिन्न भावो की सुखद कल्पना की गई है, जो स्वाभाविक भी है।

(२५७) वन-वन में मालिनियाँ केसर बीन रही है। केसर के रग तथा सुगन्धि के समान ही उनके तन का रग तथा सुगन्धि है। उनके कर-पल्लव कोमल कुसुमो के सदृश है। वे मालिनियाँ अपने नखो में अपने ऐसे शरीर के प्रति-बिम्ब को देखकर भ्रम में पड गईं—और उन्होने केसर बीनना छोड दिया।

अलकार—उपमा, भ्रान्तिमान् तथा रूपक।

टि०—सभव है, कावुल के आक्रमण के लिए जाते हुए काश्मीर में कवि को यह मनोरम दृश्य देखने का अवसर मिला हो। कवि का शव्द-चयन प्रशसनीय है।

(२५८) कामदेव का मलयानिल रूपी दूत मलयाचल से हिमालय पर्वत के लिए चला। महादेव को प्रसन्न करने के लिए जल से भीगकर पहले वलवान अथवा स्वस्थ वना, तदनन्तर उनके क्रोध के भय से डगमग पैर रखता हुआ, वह कामदूत सुगन्धि-रूपी भेट सजाकर चला।

अलकार—समुच्चय तथा परिकर।

टि०—जल-सिक्त कहकर शीतल, सुगन्धि की भेंट सजाये हुए कहकर सुगन्धित तथा डगमगाते वताकर मन्द वायु का सकेत किया गया है। इस प्रकार चतुराई से कवि ने शीतल, मन्द, सुगन्ध मलयानिल का वर्णन किया है। उक्ति-चातुर्य तथा कवि-कल्पना सराहनीय है।

(२५९) प्रत्येक नदी को तैरते तथा तरु-तरु को लाँघते हुए, प्रत्येक लता के गले लगते हुए, दक्षिण से उत्तर की ओर आते हुए उस पवन के पग आगे नही पडते। तात्पर्य यह कि नदी के स्पर्श से वह शीतल, वृक्ष तथा लता के स्पर्श से सुगन्वित होकर श्रम के कारण मन्द-मन्द चला आ रहा है।

अलकार—समासोक्ति।

टि०—हि० ए० सस्करण के सम्पादको ने इसे शठ-नायक का चित्र माना है। पवन-रूपी शठ नायक अन्यत्र विहार करने के कारण अपनी प्रेयसी से मिलने में लज्जित होता है। यह कल्पना अच्छी है, किन्तु दोहले का वर्णन पवन के उतार-चढाव जनित श्रम का ही अधिक सकेत करता है। सीवे-सीधे यदि श्रम की सूचना मान ली जाय तो विहारी की पक्ति—'आवत दक्खिन देस तें थक्यो वटोही वाय—'के समान यहाँ भी पवन-वटोही का चित्र माना जा सकता है। आग का दोहला इसका प्रमाण है।

(२६०) केवडा, कुन्द तथा केतकी के पुष्पो की सुगन्धि का भारी भार कवो पर उठाये चलने के कारण ही गन्धवाह पवन की गति मन्द हो गई ह। वह निर्झर के जलकणो के रूप में श्रमकण ही गिरा रहा है।

अलकार—रूपक तथा हेतु।

(२६१) उन लताओ की शरीर सुगन्धि को लिए हुए रस-लोभी मलयानिल रति के अन्त में किये जानेवाले स्नान के समान रेवा के जल मे स्नान करके उत्तर दिशा की ओर सापराध पति (धृष्ट नायक) के समान चल रहा है। अर्थात् जिस प्रकार कोई नायक अन्यत्र रतिक्रीडा करके अपनी पत्नी के सम्मुख जाने मे सकुचित होता है, उसी प्रकार पवन भी मन्द-मन्द चल रहा है, मानो सकुचित हो रहा है। वह शीतल तथा सुगन्वित भी है, क्योकि सुगन्धि का स्पर्श तथा जल-स्नान करके आ रहा है।

अलकार—उपमा।

(२६२) पुष्पवती लता रजस्वला नारी के सदृश है। उनसे पवन स्पर्श करता है, उन्हें आलिगन दान देता है। मधुपान-रूपी-मदिरापान करके मतवाला बना हुआ वायु-रूपी-नायक अपने पैर ठीक स्थान पर नही रखता।

अलकार—समासोक्ति तथा श्लेष।

टि०—(१) रजस्वला-नायिका का स्पर्श निषिद्ध होने पर भी जो नायक उसे स्पर्श करता हो उसकी उन्मत्तता मे शका ही क्या हो सकती है। कवि ने यहाँ उस उन्मत्तता का प्राकृतिक कारण भी खोज लिया है। (२) मधुपान का चित्र कुमारसम्भव से देखिये —"मधु द्विरेफ कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियायामनुवर्तमान ।". (३) सस्कृत टीकाकारने प्रथम पक्ति में 'न परस पमूंके' के स्थान पर 'परसपर मूंके' पाठ देकर उसका अर्थ यह किया है कि "परस्पर पुष्पवती लताओ में एक को छोडकर दूसरी को आलिगन दान करता है।" किन्तु यह अर्थ उतना सारगर्भ नही। दूसरे, इससे वयणसगाई के नियम का भी उल्लघन होता है।

(२६३) निर्झरो के जल के छीटे उडाता हुआ, चन्दनतरुओ से शरीर-घर्षण करता हुआ, पराग-रूपी-रज से अत्यन्त धूसरित अगवाला, मधु-रूपी-मद झरता हुआ, उन्मत्त मारुत-रूपी-मातग मस्ती से मन्द-मन्द चल रहा है।

अलकार—रूपक तथा अनुप्रास।

टि०—कवि ने मदमत्त हाथी का रूप उपस्थित करने के लिए यहाँ उसके 'मातग' नाम का अत्यन्त उचित प्रयोग किया है। अन्तिम पक्ति का प्रत्येक

शब्द भी मस्त चाल से एक-एक पग सम्हालकर उठाता जान पडता है। मातग के धूसरित अग का वर्णन करके मनोरम रूप की सृष्टि की गई है। साथ ही पूरे दोहले से शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु का भी परिचय दिया है।

(२६४) वियोगिनी तथा सयोगिनी दोनो की ओर से पवन के विपय में ही यह वाद-विवाद हो रहा है। वियोगिनी कहती है कि यह पवन सर्प का निगलकर उगला हुआ भक्ष्य विष है। सयोगिनी कहती है कि चन्दन वृक्षो—के पर्वत के सयोग से उसके गुण ग्रहण किये हुए यह शीतल तथा सुगन्धित पवन है।

अलकार—उल्लेख तथा वृत्यनुप्रास।

(२६५) सुकवि किसी ऋतु के दिनो का, किसी की रात्रि का तथा किसी की सन्ध्या का सरस वर्णन करते हैं, किन्तु वसन्त अपने दोनो दिन तथा रात्रि को, दोनो शुक्ल तथा कृष्ण पक्षो को, दोनो मास को शुद्ध करता हुआ समान अवस्था में चलता रहता है। अर्थात् सब कालो में सुखद है।

अलकार—व्यतिरेक।

(२६६) वसन्त में पति श्रीकृष्ण तथा कान्ता रुक्मिणी परस्पर एक दूसरे के गुणो के वशीभूत हो रहे हैं। कान्ता कान्त के गुणो के तथा कान्त कान्ता के गुणों के वशीभूत है। उन्हे वसन्त की रात्रि तथा दिन, निमेष तथा पल सब समान भाव से सुखदायी है और वे एक दूसरे को अपने प्रेम का अन्त नही देते, अर्थात् दोनो में से एक भी प्रेम का अन्त नही होने देता।

अलकार—अन्योन्य।

टि०—ढूँढाडी टीका ने इसका अर्थ निम्न प्रकार से किया है —"निमिष पल वसन्त रै विषै रात्रि अर दिन सरीषा निरवहै छै। एकै थै एक कहुँ वात जणावै नही छै।" आदि।

(२६७) उनके पुष्पो से सजे महल है, पुष्पो के ही आभूपण है, पुष्पो के ही ओढने और विछाने के वस्त्र है। वे प्रसन्नता-पूवक पुष्पो के हिंडोले में झूलते है और उनकी सभी सखियाँ भी पुष्पो पर आश्रित है।

अलकार—उदात्त।

टि०—अन्तिम पक्ति का भावार्थ हि० ए० सस्करण में इस प्रकार दिया गया है —"अर्थात् उनकी जीविका पुष्पो के आभूषण गूँथने और सजाने पर निर्भर है।" किन्तु सस्कृत टीकाकार के अनुसार इसका तात्पर्य यह होना चाहिये कि "कामीजनो को किसी न किसी विधि से पुष्पो का बाहुल्य ही प्रिय है।"

(२६८) कामदेव के सदृश रुक्मिणी-पति श्रीकृष्ण वसन्त ऋतु का इस प्रकार भोग करते हैं कि उन्हे रात्रि मे गानवाद्यादि का नाद सुलाता है, प्रात काल वेदपाठ उन्हें जगाता है और वे रात-दिन, वन-वाटिका, उद्यानादि में विहार करते है।

टि०—हि० ए० सस्करण के सम्पादको ने 'नाद' का अर्थ अनाहत नाद, 'वेद' के लिए स्वय वेद भगवान् तथा 'वाग' के लिए वाणी-सरस्वती का प्रयोग किया है। उनका तर्क है कि—"जहाँ भगवान् को नाद पौढाडै और वेद परबोवै वहाँ वाग-सरस्वती देवी का नित्य विलास होता है। सरस्वती देवी भी भगवान् का गुणानुवाद करने को रात-दिन मौजूद रहती हैं।"—किन्तु प्रत्येक बात को अनावश्यक रूप से नये अर्थों मे प्रयोग न करके यदि सरल अर्थ को ही सप्रसग तथा उपयुक्त समझा जाय तो हानि नही। सस्कृत टीका-कार ने उक्त सरल अर्थ लेते हुए भोग की सामग्री का निम्न श्लोक दिया है —

सुगन्ध वनिता वस्त्र गीत ताम्बूलभोजने।
सुख शैयामलस्नानमष्टौ भोगा प्रकीर्तिता ॥

(२६९) उस अवसर पर रुक्मिणी के मन में प्रीति का प्रसार हुआ और उन्होंने हाव-भावो से कृष्ण के मन को मोह लिया। अनग ने रुक्मिणीजी के उदर में आकर निवास किया जिसके फलस्वरूप महादेवजी के क्रोध से छिन्न-भिन्न उसके समस्त अग उसे पुन प्राप्त हो गये।

टि०—'प्रीति पसरि मन अवसरि' का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि 'परस्पर श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी के मन मे प्रीति का विकास हुआ।'

(२७०) पिता वसुदेव के वासुदेव पुत्र हुए, तथा जगत्पति श्रीकृष्ण पिता के प्रद्युम्न पुत्र हुए। सास देवकी की पुत्रवधू लक्ष्मीजी हुईं। तथा सास रुक्मिणी की पुत्रवधू रति हुईं।

(२७१) लीलामय भगवान् ने मनुष्यलीला ग्रहण की। ससार को वसाने-वाले प्रभु ही जग में वसने लगे। जगत्पति श्रीकृष्ण पितामह वने, प्रद्युम्न पिता हुए तथा उषा-पति अनिरुद्ध पौत्र बने।

(२७२) जिस निर्गुण, निर्लेप नारायण श्रीकृष्णजी का गुणगान करते हुए शेषनाग भी थक गया, उसी कृष्ण का क्या वर्णन किया जाय या मैं क्या कह सकता हूँ। किन्तु, सखियो सहित रुक्मिणी, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के नाम सक्षेप से कहता हूँ।

टि०—सस्कृत टीकाकार ने 'सहचरियें' का अर्थ 'सहचरीभि स्वस्व-पत्नीभि '—किया है। जो उपयुक्त नही प्रतीत होता।

(२७३) रुक्मिणी के नाम गिनाये गये हैं। अर्थ सरल है।

(२७४) प्रद्युम्न के नाम दिये गये है। अर्थ सरल है।

(२७५) अनिरुद्ध के नाम दिये गये गये है। अर्थ सरल है।

(२७६) रुक्मिणी की सहचरियो के नाम है। अर्थ सरल है। पुराणो में इनका उल्लेख नही है।

(२७७) ससार के सुन्दर अथवा श्रेष्ठ प्रभु ने गृहस्थ धारण करते हुए अथवा लोकसग्रह करते हुए मदिरा, क्रोध, हिंसा, निन्दा, इन चारो के साथ गाली को भी चाण्डाल अर्थात् अग्राह्य मानकर छोड दिया।

टि०—सस्कृत टीकाकार ने 'गृहसग्रह' का अर्थ 'द्वारका कुर्वता रचितवता' किया है। उससे वह सौन्दर्य उपस्थित नही होता जो उक्त अर्थ से होता है। हि० ए० स० में उक्त अर्थ ही स्वीकार किया गया है।

अलकार—रूपक।

(२७८) हे प्राणी, यदि हरिभक्ति, हरिणाक्षी के प्रेम को समझने, रण-क्षेत्र में आक्रमण करके खल शत्रुओ को तलवार से काटने, और अन्यजनो की सभा में वैठकर वोलने की कामना है तो वेलि का पाठ कर।

टि०—'चात्रण' का अर्थ टीकाकारो ने 'खण्ड करना' वताया है। हि० ए० स० मे उसे 'अग्निमन्थन-यन्त्र' कहकर शव्दार्थ के साथ यह अर्थ किया गया

है —"जिस प्रकार चात्र-यन्त्र से अग्नि मथी जाती है, उसी प्रकार शत्रुदल का मन्थन करना।"

(२७९) इस युक्तिपूर्वक जो व्यक्ति वेलि का पाठ करते है उनके कण्ठ मे सरस्वती, घर में लक्ष्मी, तथा मुख में शोभा विराजने लगती है। भविष्य मे मुक्ति तथा भोग प्राप्त होते हैं। हृदय मे ज्ञान तथा आत्मा में हरिभक्ति प्रकट होती है।

(२८०) छ मास तक पृथ्वी पर शयन करके, प्रात काल स्नान करके, स्वय शुद्ध रहकर, जितेन्द्रिय रहते हुए वेलि का नित्य पाठ करनेवाले वर को वाछित पत्नी तथा स्त्री को वाछित वर की प्राप्ति होती है।

टि०—इस दोहले से कवि के वैष्णव–विश्वास का पता लगता है।

(२८१) वेलि का पाठ करने के फलस्वरूप कन्या वर को, परिणीता स्त्री पुत्र तथा पति के सुहाग को प्राप्त करती है। इसका पाठ करनेवाले पति-पत्नी में श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी जैसा ही पारस्परिक प्रेम रात-दिन उत्पन्न होता है।

अलकार—अन्योन्य तथा दीपक।

(२८२) रुक्मिणी तथा हरि की इस वेलि का पाठ करते हुए व्यक्ति के परिवार में पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, गज, अश्व तथा रथादि—साहण—साधनो का भाण्डार अथवा साधन तथा भाण्डार इस प्रकार भर जाते है जैसे ससार के तल अर्थात् पृथ्वी पर वेल वढती है।

अलकार—उपमा।

(२८३) विमल मगलाचार को एक ही घर मे एकत्र देखकर एक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से कहता है कि ससार में इसने कौन-से शुभ आचरण करके यह फल प्राप्त किया है। ज्ञात होता है कि इसने वेलि का पाठ किया है।

टि०—ढूंढाडी टीका के अनुसार किसी की समृद्धि को देखकर एक व्यक्ति पहले यह पूछता कि उसने कौनसा शुभ कर्म किया है तब अन्य व्यक्ति उत्तर देता है। इस प्रसग के स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही है।

(२८४) शरीर का उपचार करने के लिए वेदोक्त चार प्रकार की शस्त्र, औषधि, तन्त्र तथा मन्त्र की जो चिकित्सा बताई गई है वे वेलि-पाठ मात्र मे ही हो जाती है।

(२८५) जो व्यक्ति नित्य वेलि का पाठ करता है उसे आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा वात, पित्त एव कफ ये शरीरताप तथा विकारो-युक्त रोग नही होते। अर्थात् वह व्यक्ति भगवत्कृपा से सदा नीरोग रहता है।

(२८६) शुद्ध मन से रुक्मिणी-मगल वेलि का जाप करने से नित्य ही कोष में धन तथा कुशल-मगल रहता है। दुखद दिन, खोटे ग्रह, दुसह दुर्दशा, दुस्वप्न तथा अपशकुन नष्ट होते हैं।

अलकार—अनुप्रास।

(२८७) वेलि के पाठ करने से जल, थल अथवा आकाश कही भी मणि, मन्त्र, तन्त्र तथा यन्त्र-आदि के सहारे किया गया कोई अमगल नही छल सकता अर्थात् कोई अनिष्ट कही नही होता। डाकिनी, शाकिनी, भूत, प्रेतादि के द्वारा किये गये उपद्रव भी भयाकुल होकर भाग जाते है।

(२८८) मुक्ति प्राप्त करने के लिए सन्यासी, योगी तथा तपस्वी हठयोग, साधन तथा इन्द्रिय-निग्रह करते है किन्तु उनके ऐसे हठ तथा निग्रह करने से क्या लाभ अथवा उनकी क्या आवश्यकता, जबकि वेलि पढने से ही व्यक्ति भवसागर से पार हो गये है। निश्चय ही वेलि के पाठक मुक्त हो गये है। इसमें सन्देह नही है।

अलकार—प्रतीप।

(२८९) हे कृपण मन, क्यो कलपता—दुख उठाता—है। योग, यज्ञ, जप, तप से क्या लाभ? तीर्थ से क्या? व्रत करने, दान देने, अथवा वर्णाश्रम धर्म पालन करने से भी क्या लाभ? अर्थात् उनके द्वारा होनेवाला लाभ भी वेलि के पाठ के द्वारा होनेवाले लाभ के सम्मुख नगण्य है। अतएव मुख से रुक्मिणी मगल कह, उसका पाठ कर। उसी से मुक्ति होगी।

अलकार—प्रतीप।

टि०—सस्कृत टीका के अनुसार अन्तिम पक्ति का अर्थ—"कृपण से क्यो माँगता है"—होगा।

(२९०) हे भागीरथी! तू गर्व न कर, क्योकि तू विष्णु तथा शिव दोनो का आश्रय लेती है, तैरना न जाननेवाले को डुबा देती है तथा एक

देशीय होकर वहनेवाली है, अन्यत्र नही वहती। वेलि से भला गगा की समानता ही क्या? अर्थात् वेलि गगा से श्रेष्ठ है।

अलकार—प्रतीप।

टि०—'दो का आश्रय लेनेवाली' कहकर यह व्यग किया है कि गगा पतिव्रता नही है। 'तैरना न जाननेवाले को डुवा देती है' के द्वारा यह कहा गया है कि वेलि भवसागर से पार करती है,' डुवाती नही। 'एक-देशीय' कहने का तात्पर्य यह है कि गगा सकुचित क्षेत्रवाली है, वेलि का क्षेत्र विस्तृत है। ढूँढाडी टीकाकार ने इसे गगा की निन्दा समझकर टीका न करते हुए कहा है —"गगाजी की निन्दा करी छै ता के लियाँ या दुवाला की अर्थ मैं नही लिख्यौ छै।"

(२९१) इस वेलि का वीज भागवत है जो पृथ्वीदास अथवा भक्त पृथ्वीराज के मुख-रूपी-पृथ्वी के थाँवले में वोया गया है। अर्थात् जिस प्रकार वीज ही आगे लता का रूप धारण करता है उसे पृथ्वी में वोकर थाँवला वाँधकर उसकी रक्षा की जाती है उसी प्रकार इस वेलि ग्रथ को लता के समान समझना चाहिये। इसका वीज भागवत है जहाँ से कथा ली गई है। पृथ्वीराज कवि का मुखरूपी थाँवला ही वह स्थल है जहाँ यह अकुरित हो गया है। इसकी मूलपाठ तथा ताल-रूपी-जडें है तथा अर्थरूपी दृढ मण्डप पर सुखद छाया करने के हेतु ही यह फैली है।

अलकार—रूपक।

टि०—(१) अन्तिम पक्ति का अर्थ सस्कृत टीकाकार ने 'करणि' शब्द को 'कर्ण' मानकर यह किया है —"सुस्थिरे कर्णरूपे मण्डपे चटिता छायारूप श्रुतिसुखम्।" (२) 'मूल, ताल, जड, अरथ' का अर्थ भी इस प्रकार किया गया है —"गान समये तालो मूलरूपो। अर्था जटा पृथग्भूता।" इस अर्थ के अनुसार 'अर्थरूपी दृढ मण्डप' अर्थ के स्थान पर 'कर्णरूपी मण्डप' मानना होगा।

(२९२) इस वेलि-रूपी-लता में अक्षर समूह-रूपी-पत्ते है। दोहलो में वर्णन किया गया यश-रूपी-परिमल है। इसके नव-रस-रूपी तन्तुओ की अहोरात्रि वृद्धि होती रहती है। रसज्ञ ही इसके मधुकर है। भक्ति ही मौर है। सासारिक सुख साधन-रूपी फूल है और मुक्ति ही फल है।

हुए रुक्मिणी का काम नही चलता और स्वय उसका भाई शिशुपाल एव जरासघ शैतान की भाँति बीच मे आ जाते है। आत्मा की इतनी लगन से प्रभावित होकर पद्मावती—परमात्मा—समान ही कृष्ण व्याकुल होकर चल पडते है। बीच मे शैतान के कारण ही मानो युद्ध का विघ्न उपस्थित होता है और आत्मा तथा परमात्मा के प्रयत्न द्वारा शैतान पर विजय प्राप्त करके दोनो मिल जाते है। जिस प्रकार पद्मावती के दर्शन से राजा रत्नसेन मूर्छित हो गये थे, उस प्रकार रुक्मिणी मूर्छित नही होती, किन्तु इसके विपरीत रुक्मिणी के ही सौन्दर्य से शत्रुसेना अवश्य विजडित सी रह जाती है।

'वेलि' का कथा-स्वरूप रामकथा के शील-निरूपण की सीमा में भी ठीक उतरता है, क्योकि इस काव्य की रुक्मिणी का रूप ऐसा है जैसे, 'शील आव-रित लाज सू'। कवि मर्यादा की पूरी रक्षा करते हुए भी शृगार की मधुमयी सरिता प्रवाहित करने मे सफल है। कृष्ण को लेकर चलने वाले पुष्टि मार्ग की विशेषताओ का रूप भी 'वेलि' में निखरे रूप मे प्रकट हुआ है। पुष्टिमार्ग की विशेषता थी कृष्ण को ब्रह्म मानकर उन्हे स्वामी तथा आराध्य मानना तथा अपने को सेवक के रूप में मानकर चलना। सेवक की विशेषता होनी चाहिये कि सब कुछ कृष्णार्पण कर दे। पूर्ण आत्म-समर्पण करते हुए गोपियो की भाँति निस्सकोच होकर प्रभु से प्रेम करना और कृष्ण के निवास स्थान को वैकुण्ठ मानना, यह भी पुष्टिमार्ग की एक मान्यता है। वेलिकार इस सिद्धान्त का पूर्ण अनुसरण करते चले है। उनके कृष्ण भगवान है, यह कई बार कहा जा चुका है। रुक्मिणी उन्हे अपना सर्वस्व ही नही मानती, उनसे जन्मान्तर का अमिट सम्बन्ध भी मानती है। उनके प्रति रुक्मिणी की अनन्य-भक्ति का प्रमाण उसका पत्र है। वह लाज छोडकर पत्र लिखती है अतएव गोपियो की समानता में भी उसमें कोई कमी नही। रुक्मिणी तथा कवि दोनो अपनी अपनी ओर से कृष्ण के प्रति दास्यभाव की घोषणा करते है। उन्होने अपने को २९१वें दोहले मे प्रियीदास ही कहा है। श्रीकृष्ण का निवासस्थान वैकुण्ठ ही है, इसका वर्णन तो द्वारिका में पहुँचकर आश्चर्यचकित ब्राह्मण ने अपने शब्दो मे किया ही है। उसका कथन है कि —

अलकार—रूपक।

टि०—अन्तिम पक्ति का जो अर्थ हमने दिया है वह ज्यो का त्यो हि० ए० सस्करण से लिया गया है। किन्तु इस अर्थ के द्वारा 'मिसि' शब्द का कोई अर्थ नही वैठता तथा क्रम भी भग होता दीखता है। सस्कृत टीकाकार ने इसका अर्थ यह माना है —"मुक्ति-प्राप्ति ही फूल है तथा वैकुण्ठ में अनन्त सुखानुभव ही फल है।" हमारे विचार से इस पाठ को स्वीकार करना अधिक उचित है। और यदि निम्न अर्थ भी स्वीकार कर लिया जाय तो कोई हानि नही प्रतीत होती। मै इसका अर्थ यह करना चाहूँगा —"कृष्ण की सासारिक भुक्ति वर्णन के वहाने मुक्ति-रूपी-फल-फूल की प्राप्ति होती है अर्थात् मुक्ति ही इसका परिणाम है।" इसके अतिरिक्त यदि 'भुगति' के स्थान मे 'भगति'—भक्ति—पाठ स्वीकार कर लिया जाय तव भी भक्ति के वहाने मुक्ति-रूपी-परिणाम की प्राप्तिवाली बात उचित प्रकार से समझी जा सकती है।

(२९३) कलियुग में कल्पलता, कामधेनु, चिन्तामणि तथा सोमलता जैसे चारो अलभ्य पदार्थ पृथ्वीराज के मुखकमल में एकत्र अक्षरावलि के बहाने एक साथ ही पृथ्वी में प्रकट हुए है। अर्थात् वेलि का माहात्म्य ऐसा है कि अलभ्य और असभव वस्तुएँ भी प्राप्त हो जाती है।

अलकार—कै० अपह्नुति।

(२९४) पृथ्वीराज रचित वेलि क्या है, पाँच प्रकार के शास्त्र, वेद तथा अखण्ड कार्य-सिद्धि आदि की प्रसिद्ध प्रणाली है, साधन-मार्ग है। यह पृथ्वी से स्वर्ग ले जाने की सीढी है। मुक्ति-प्राप्ति की सुशोभित या वनी हुई नसैनी है।

अलकार—रूपक।

टि०—एक टीका में इसका अर्थ यह किया गया है —"अेह किस्यूं वेलि छइ किना पचविध क° पाँच प्रकार ना आगम शास्त्र नउ रस निरगम क° नीकलवा वहिवा भणी प्रसिद्ध क° प्रगट अखिल क° अखण्ड परनाळी क° प्रणालि छइ जेह कारणइ रसादि परनालियइ वही चालइ।"

(२९५) एक से एक वढकर अनुपम मोतियो को खरीदने के लिए चलनी अथवा सूप लेकर यह नही खोजा जाता कि किसे लेना चाहिये अथवा किसे

नही। मेरे मुख से कहे हुए वचनो-रूपी-मोती-कणो के विपय मे निश्चय ही सुकवि अथवा कुकवि-रूपी-चलनी अथवा सूप द्वारा यहाँ निश्चय नही किया जा सकता कि किसे ग्रहण किया जाय, किसे नही। अर्थात् यहाँ एक से एक बढकर वचन एकत्र है वह मुक्ताकणो के समान अनुपम तथा सर्वथा ग्राह्य है।

अलकार—दृष्टान्त तथा क्रम।

टि०—सस्कृत टीकाकार ने इसका अर्थ इस प्रकार दिया है —"मोतियो के व्यापार में एक से एक अनुपम मोती देखकर एक मोती भी छोड देने मे कौन समर्थ है। जिस प्रकार उन्हें सभी ग्रहण करते है उसी प्रकार यह सच है कि मेरे वचन-कणो को शोधन करने मे केवल मेरा मुख ही समर्थ है अथवा मैने जो कुछ कहा है वह न्याय्य ही है।"

(२९६) पृथ्वी पर वेलि रूपी मेरी यह कविता अपने शरीर पर नख से शिख तक आभूषण—अलकार—पहने है। यह वास्तविक नारी के समान ही जगत् के गले से लिपटी रहती है। तथा जिस प्रकार सती स्त्री दोप सहन नही करती वैसे ही इसमे भी दोप नही है।

अलकार—उपमा।

(२९७) मेरी कविता का यही मर्म है कि काव्य-रचना करते हुए डिगल, व्रज आदि भाषा, सस्कृत तथा प्राकृत आदि उसके लिए उसी प्रकार साधन मात्र है जैसे आनन्ददात्री सुन्दरी के साथ रमण करते हुए शैया के ऊपर अथवा भूमि सभी साधन एक ही समान है। अर्थात् रमण करने मे वास्तविक महत्व रमण का है, न कि शैया आदि का। व्यक्ति कही भी रमण कर रहा हो इसका कोई अन्तर नही पडता, केवल रमण होना चाहिये।

अलकार—उदाहरण।

टि०—कवि ने भाव को प्रधानता देते हुए अपने को रस-मार्गी सिद्ध किया है। तुलना के लिए देखिये—१, "यवनी नवनीत कोमलागी शयनीये यदि नीयते कदाचित् अवनीतलमपि साधुमन्ये"—पण्डितराज। २, "भाव अनूठो चाहिये, भाषा कोऊ होय।" ३, "वाणी मेरी चाहिये तुम्हे क्या अलकार। तुम वहन कर सको जनमन में मेरे विचार।"—सुमित्रानन्दन पन्त।

(२९८) हे रसिक जन ! यदि वेलि-गत रस की कामना है तो मेरा कहना करो। सब व्यक्ति यदि इतने पूरे अर्थात् इतने ज्ञानवान् होगे—जितना आगे के दोहले मे वताया है—तो वेलि का पूरा अर्थ प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा इतने से कम होने पर अधूरा अर्थ प्राप्त होगा। अथवा—आगे वताये गये—यदि सब व्यक्ति एकत्र होगे तो वेलि का पूरा अर्थ का ज्ञान होगा और इनसे जितने कम होगे उतना ही कम अर्थ का ज्ञान होगा। तात्पर्य यह कि विद्वान् ही इसका अर्थ—गाम्भीर्य थाह सकेगे।

(२९९) ज्योतिपी, वैद्य, पौराणिक, योगी, सगीतज्ञ, तार्किक, चारण, भाट, सुकवि जो भाषा-चित्र वनाने अथवा भापा में शव्द, रस भावादि का चमत्कार उत्पन्न करने मे समर्थ हो, उन सवको एकत्र किया जाय तो वेलि का पूरा अथवा ठीक अर्थ कहा जा सकता है।

(३००) गुरुजनो अथवा महापुरुषो के मुख से ग्रहण करके, उनके मुख से निःमृत वचनो का मनन करके मैंने वेलि मे उन्हे उगल दिया है। मेरे अक्षरो का यही रहस्य है। ससार में सज्जन इसे गुरुजन विद्वानो आदि महापुरुषो का प्रसाद कहेंगे, किन्तु अधम व्यक्ति अपने समान इसे जूठा—जूठन—कहेंगे।

अलकार—उल्लेख।

(३०१) मेरी पण्डितो से विनम्र प्रार्थना है कि भगवान् के यशगान के रस के कारण साहस करके चले या निकले हुए मेरे सदोप वचन् आपके श्रवण-रूपी-तीर्थ तक आये है, अतएव उन्हें आप मुक्त करें, मोक्ष दे।

अलकार—समासोक्ति तथा रूपक।

टि० (१) तीर्थ पर आ जाने से अथवा हरिभक्ति करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते है, अतएव कवि की कामना है कि यदि कोई काव्य-दोप वेलि मे हो भी तो पण्डितजन उसे शुद्ध कर लें, उसे दोपमुक्त कर दें। साथ ही उसे विश्वास है कि हरिभक्ति के कारण उसकी वेलि सज्जनो द्वारा सदोप होने पर भी ऐसे ही ग्रहण कर ली जायगी, जैसे हरिभक्ति के कारण पापी भी तर जाते है। कहा भी है —

"हरिर्हरति पपानि दुष्टचित्तेरपि स्मृत। अनिच्छयाऽपि लोकाना स्पृष्टो दहति

पावक ॥" (२) 'मोख' का अर्थ एक टीका मे 'अगीकार' करना भी वताया गया है —'अे माहरी वीनती कथन मोख क° अववारउ अगीकार करउ ।'

(३०२) रुक्मिणीजी की सहचरी सरस्वती ने जैसा मुझमे कहा, मैंने वैसा ही कहा है, अतएव रमण करते हुए जगत्-स्वामी श्रीकृष्ण की एकान्त कामकेलि के वर्णन में कोई भी झूठा कथन नही है।

(३०३) हे केशव ! आपके तथा आपकी प्रिया रुक्मिणी के लीला-कर्मो का वर्णन कौन कर सकता है। इस वेलि मे जो कुछ अच्छा अश है वह सरस्वती की कृपा के कारण है तथा जो कुछ भौंडा या भद्दा है वह सव मेरी ही वुद्धि का भ्रम या प्रमाद है।—अतएव तुम्हे धन्यवाद है।

अलकार—काकुवक्रोक्ति ।

(३०४) रुक्मिणीजी के सौन्दर्य, शुभलक्षण तथा गुणो का वर्णन करने में कौन समर्थ है। उनका पूर्ण वर्णन कोई नही कर सकता। श्रीकृष्ण की महिषी रुक्मिणी के जितने गुणो को मै जानता था उनका ही वर्णन मैने किया है।

(३०५) पर्वत—७, गुण—३, वेदाग—६, तथा शशि—१, वाले सवत् वर्ष में मैंने श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणीजी का यशगान किया—जिसके फलस्वरूप यह वेलि प्रस्तुत की। इसे सदा सुनने तथा कण्ठस्थ करनेवाले व्यक्ति अपार लक्ष्मी—धनसम्पत्ति—तथा अतुल भक्ति-रूपी-फल प्राप्त करते है।

टि० (१) नियमानुसार सख्या क्रम को उलट देने से वेलि का रचनाकाल इस दोहले के अनुसार सवत १६३७ हुआ। (२) लेखक ने ग्रथात मे स्वामी तथा स्वामिनी का नाम लिया है। यह प्रथा का अनुसरण है।

सम्प्रति ए किना किना ए सुहिणौ, आयी कि हूँ अमरावती।

स्पष्ट है कि वेलि इस मार्ग का भी पूर्ण अनुकरण करती है और उसकी भोली नायिका मानो अपने भोलेपन से ही यह सिद्ध करना चाहती है कि एकमात्र भक्ति ही वह माध्यम है जिसके द्वारा प्रभु से साक्षात्कार किया जा सकता है। रुक्मिणी प्रभु से सामीप्य स्थापित करती है, अद्वैत नही। यह भी पुष्टि की ही पुष्टि है।

वेलि की रचना से वहुत पूर्व अलकार तथा नायिका भेद के कई ग्रथ लिखे जा चुके थे। यथा, कृपा राम की हिततरगिनी प्रकाश में आ चुकी थी। रहीम भी नायिका भेद और नखशिख की रचना कर रहे थे। अतएव रूप की दृष्टि से 'वेलि' रीति के प्रभाव की ओर भी सकेत करती प्रतीत होती है। उसके पद पद मे अलकार, यथा-स्थान नखशिख और रूप-सौन्दर्य चित्रण तथा ऋतु-वर्णन सभी रीतिकाल की प्रवृत्ति के द्योतक है।

वस्तुत वेलि भक्ति तथा रीति की वह प्रवाहिनी है जिसमे वीच वीच मे कुछ अन्य धाराओं का भी मिलन हो गया है। भक्ति तथा रीतिकाल के सन्धि-स्थल पर खडे होकर वेलिकार ने अपनी शक्तिभर दोनो कालो के प्रमुख लक्षणो का मधुर सम्मिलन करने की चेष्टा की है जिसके परिणामस्वरूप प्रतिभाशाली लेखक का इगित पाकर 'वेलि' की पक्ति पक्ति खिल उठी है। भक्ति और शृगार की ऐसी मधुर साधना अन्यत्र दुर्लभ है। रीतिकाल को वहुत से लेखको ने शृगार की प्रधानता के कारण ही शृगारकाल के नाम से अभिहित किया है। वस्तुत शृगार की साधना ही उस काल की प्रमुख साधना, थी। वेलिकार ने भी अपने काव्य मे शृगार की अनेक दशाओ का वडा ही सरस और हृदयरजक वर्णन किया है। डिगल भाषा की कठोरता मे छिपी हुई सरसता का जो उत्स इस कवि ने प्रवाहित किया है, उसके लिये वह प्रशसा का पात्र है। इस छोटे से कथानक को एक अच्छे खण्ड काव्य का रूप देते हुए कवि ने अपने इच्छानुकूल ऐसे मधुर शृगारमय प्रसगो की उद्भावना की है जो भक्ति की रचना मे भी उसके अविच्छेद्य अग के समान है, जो उसकी शोभा ही वढाते है। प्रारम्भ मे ही नायिका की वय सन्धि तथा नखशिख का वर्णन, उसका पूर्वानुराग, मुग्धा नायिका की सहज-उत्सुकता, मिलन के लिये व्याकु-

लता, सहज स्वाभाविक सकोच तथा लज्जा तथा अन्यत्र रतिश्रान्ता की स्थिति आदि का चित्रण कवि ने जिस भावुकता एव मर्मज्ञता के साथ किया है उससे उसके हृदय की गहरी अनुभूति तथा रसज्ञता का ही परिचय मिलता है।

साराश यह कि यद्यपि वेलि में वीरकाव्य परम्परा के अनुसार भाषा, कथावस्तु तथा वीरकाव्योपयुक्त वीर रस आदि पर्याप्त लक्षणो का समावेश हुआ है, तथापि रचना-सौष्ठव, पदलालित्य तथा मधुरभाव की जैसी उज्वलता इस काव्य मे व्याप्त है वह इसे वीरकाव्य होने से रोकती है। पृथ्वीराज को सबसे अधिक श्रेय तो इस बात का मिलना चाहिये कि उनके द्वारा डिंगल भाषा भी 'वेलि' की मधुर कथा के साँचे में ढल-पिघल कर माधुर्य की मधुमयी प्रवाहिनी मे परिवर्तित हो गई है।

वेलिकार के पूर्व भी इस कथा को लेकर भिन्न भिन्न लेखको ने अपना कौशल प्रदर्शित किया। पृथ्वीराज कवि के समकालीन तथा अकबरी दरबार के सम्मानित कवि नरहरि ने 'रुक्मिणी-हरण' काव्य की रचना की। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास का 'रुक्मिणी-मगल' तो एक प्रसिद्ध रचना है ही। हिन्दुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित 'वेलि' की भूमिका से पता चलता है कि उसी समय किन्ही पद्मदत्त की रचना 'रुक्मिणी-मगल' महा-काव्य के रूप में राजस्थानी भाषा मे लिखी जा चुकी थी। इसके अतिरिक्त उसी भूमिका के पृ० ४९ पर उनका कथन है कि —"कहते है कि साँइया जाति के झूला चारण ने 'रुक्मिणी-हरण' ग्रन्थ उसी समय बनाया था। यह और 'वेलि' दोनो ग्रथ एक साथ बादशाह अकबर को निरीक्षणार्थ भेजे गये। बादशाह ने पहले वेलि को सुनकर हरण को सुना। अन्त में हरण की रचना को श्रेष्ठतर निर्णीत करके श्लेष और व्यग्य में पृथ्वीराज से कहा 'पृथ्वीराज तुम्हारी वेलि को चारण बाबा की हरिणियाँ चर गईं।' इस प्रकार 'रुक्मिणी-हरण' की तारीफ की। परन्तु ये सब किम्वदन्तियाँ मात्र है।"—जो हो, हमे कहना इतना ही है कि वेलि की रचना के समय तक रुक्मिणी-काव्य की एक स्थिति बन चुकी थी और भक्त-कवियो से लेकर चारणो तक का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो चुका था। नन्ददासके साथ साथ अन्य कवि भी इस ओर झुके थे। नरहरि की रचना मे तिथि का उल्लेख नही

किया गया है किन्तु सभव है नरहरि की यह रचना 'वेलि' से पूर्व की ही हो। यह रचना वेलि की तुलना में इतिवृत्त मात्र है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यदि वेलि की रचना पहिले हो चुकी होती तो नरहरि अवश्य ही उसकी तुलना में मनोरम काव्य की सृष्टि करने की चेष्टा करते। ज्ञात होता है कि नरहरि की ऐसी रचना देखकर पृथ्वीराज का मन तृप्त नही हुआ और उन्होने 'वेलि' की सृष्टि की। अस्तु, 'वेलि' की पृष्ठभूमि मे कई मगल विद्यमान है और यह उस काल की एक रचना-पद्धति का अनुगमन ही है। किन्तु, यह अनुगमन प्रथा-पालन मात्र नही है, भक्त-कवि के हृदय से निकली हुई सरस भावधारा है।

आगे चलकर स० १७५० में मथुरा के केसौराय नामक किसी लेखक के 'रुक्मिणी मगल' तथा रीवाँ नरेश रघुराजसिह जू देव के 'रुक्मिणी परिणय' (स० १९०६) ग्रथो के द्वारा इस प्रकार के काव्यो की परम्परा वनी रहने का श्रेय 'वेलि' को ही देना चाहिए। स० १९२५ का नवल सिंह कायस्थ का 'रुक्मिणी-मगल' भी उसी प्रवाह का द्योतक है। आगे चलकर प० वैजनाथ का 'श्रीकृष्ण खण्ड और रुक्मिणी स्वयम्वर' विष्णुदत्त का 'रु० मगल' सुजानसिंह का 'रुक्मिणी चरित्र' तथा 'हरिऔध जी' का 'रुक्मिणी परिणय' नाटक भी लिखा गया। किन्तु ये साधारण रचनाएँ है।

राजस्थानी साहित्य और वेलि

डिगल साहित्य की अपनी एक परम्परा है। वह जातीय गौरव और सम्मान का जीवन्त प्रश्न लेकर चलने वाला साहित्य है। उसमें वीरभूमि राजस्थान का वीरदर्प वोलता और हँसता सुनाई देता है। वह हमारे पूर्वजो के सघर्ष और आत्मरक्षा के लिये वलिदान का गौरवपूर्ण इतिहास है। मेनारिया जी के शव्दो में, "देश प्रेम, जातीय गौरव, तथा आजादी के झझावात वहुल सन्देशो से यह लवालव भरा हुआ है। इस साहित्य में पटरानियो के अट्टहास, नायक-नायिकाओ के गुप्तमिलन और राजमहलो के विलास-वैभव का वर्णन

नही है। इसमे है रणोन्मत्त राजपूत वीरो, मरणातुर राजपूत महिलाओ और रणागण की रक्त-रजित हाय-हत्या का भावमय चित्रण। यह साहित्य जीवन का साहित्य है और सदा जीवन को लेकर आगे बढा है। यह ऐसे लोगो का साहित्य है और ऐसे लोगो द्वारा रचा गया है जिन्होने तलवार की चोटे अपने मस्तक पर झेली है, जीवन-सग्राम में जूझकर प्राण दिये है"—पृ० ४८ रा० भा० सा०।

डिगल पद्य दो रूपो मे उपलब्ध होता है। कही वह गीतो के रूप मे है और कही प्रबन्धकाव्य के रूप में। प्रबन्ध काव्यो के अन्तर्गत महाकाव्य तथा खण्डकाव्य दोनो ही की रचना हुई है। इन ग्रन्थो की अपनी अपनी परम्पराएँ हैं। कुछ ग्रथ ऐसे है जो नायक का शौर्य-वीर्य वर्णन करने के विचार से लिखे जाने के कारण नायक के नाम के साथ रासो आदि लगाकर प्रस्तुत किये गए है। कुछ ऐसे ग्रथ है जिनमें नायक के शौर्य का वर्णन अथवा उसके जीवन की अन्य घटनाओ का वर्णन करने पर भी छन्द के आधार पर ही उनका नामकरण किया गया है। चरित्र-नायको के नाम पर पाये जाने वाले ग्रन्थो के अन्तर्गत ५ प्रकार के नाम बताए गये है, जैसे रासो, प्रकास, विलास, रूपक तथा वचनिका। छन्दो का विचार करके जिनका नाम दिया गया है वह लगभग ७ प्रकार के ग्रन्थ है। किसी का नाम नीसाणी है, किसी का झूलणा, किसी को भमाल कहा गया है और किसी को गीत, कवित्त अथवा दूहा की सज्ञा दी जाती है। इन्ही छन्दो में एक छन्द वेलियोगीत भी है जिसके आधार पर किन्ही किन्ही ग्रथो का नाम वेलि भी दिया गया बताया जाता है। पृथ्वीराज लिखित वेलि इसी छन्द परम्परा के अनुसार नाम दिये जाने वाले ग्रन्थो की परम्परा मे बैठती है। यह ग्रन्थ मगलाचरण तथा देवी देवताओ की स्तुति से आरम्भ तथा नायक की महान् विजय अथवा मृत्यु से समाप्त होते है। स्तुति के पश्चात् नायक की वशावली की दीर्घ प्रशस्तियाँ रहती है। इन काव्यो का एकमात्र उद्देश्य नायक के बल-वीर्य का वर्णन है। इसीके लिये अनेक युद्धो का वर्णन किया जाता है और जहाँ तहाँ नायक का किसी कन्या को हरण करके उसके साथ भोग-विलास में लिप्त हो जाने का भी वर्णन रहता है। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त राजस्थानी-साहित्य में धर्म, नीति, तत्वज्ञान आदि विषयो पर भी कुछ ग्रन्थ उपलब्ध होते है।

वस्तुत डिगल कविता वीर कविता ही है, और उसका प्रधान भाव ओज तथा रस वीर है। वह रस चाहे फिर अपने अन्य दानवीर आदि भेदो मे से एक को ही लेकर प्रकट हो या सब को। वीर रस के वर्णन में ही इन कवियो की वृत्ति रमी है। उसका वर्णन करने मे उन्होने अपूर्व कल्पना-कौशल तथा वर्णन चातुर्य से काम लेते हुए अतिशयोक्ति को भी अपना लिया है। साथ ही साथ इन कवियो ने मनोभावो के वर्णन में भी पूर्ण सफलता प्राप्त की है। जहाँ इन काव्यो मे नायक की वीरता का प्रदर्शन किया गया है, वहाँ नारी-जगत का सम्मान रखते हुए अनेक वीरनारियो के चरित्र भी इसी डिंगल में वडे उत्साह मे गाये गये है। वीररस डिंगल के साथ इतना जुड गया है कि डिंगल ही वीररसोपयुक्त भाषा स्वीकार कर ली गई, किन्तु शृगार का मधुर मधुमय चित्रण भी वीर के साथ साथ इन काव्यो मे उपलब्ध होता है और वह अपनी छवि से छविवान है। इसी प्रकार वीर की सहायता के लिये अन्य रसो का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है।

डिंगल के ऐसे वीरकाव्यो मे जहाँ पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो, खुमाण रासो, आदि ग्रथ प्रसिद्ध है, वहाँ शारगधर नामक जैन कवि का हम्मीर रासो, श्रीधर के रणमल छन्द, तथा नल्लसिंह के विजयपाल रासो का भी नाम लिया जाता है। जिनमें शारगधर की रचना अभी तक प्राप्त नही है। यह रचनाएँ कवि पृथ्वीराज से पूर्व की है। डिंगल के कारण वेलि का रचनाकार इनसे प्रभावित हुआ है तथा उसने, जैसा बताया गया है, अपने वीरवश के स्वाभाविक गुण वीरता की भी रक्षा की है।

पृथ्वीराज का उदय जिस काल मे हुआ वह समस्त देश के लिये धर्म और भक्ति का काल था। इस बात को हम हिन्दी मे वेलि का स्थान निर्धारित करते हुए बता चुके है। राजस्थान भी इस धर्म-प्रचार से अछूता नही रहा। इस समय का साहित्यकार एक ओर तो सत-साहित्य अथवा सगुण-भक्ति से प्रभावित होकर भक्तिपूर्ण रचना करने में प्रयत्नशील था और दूसरी ओर उसका मन सतो तथा भक्तो की माधुर्य-भाव की साधना से प्रभावित होकर शृगार की ओर झुक रहा था। एक ओर राजस्थान मे 'ढोला मारू रा दूहा' जैसा शृगार का रसमय ग्रथ लिखा जा रहा था और दूसरी ओर दादू पथ से

प्रभावित साहित्य की रचना हो रही थी। साथ ही कीर्ति वर्णन की परम्परा भी अपना निर्वाह करती चली आ रही थी।

इस प्रकार डिंगल की वीरता भक्ति तथा शृंगार की बाढ में वही जा रही थी। ढोला की रचना स० १५३० की मानी जाती है। वह राजस्थान का अपूर्व प्रेमगाथात्मक काव्य समझा जाता है। आज भी इस कथा का प्रचार अपनी मोहक कविता के कारण राजस्थान के घर घर में है। 'ढोला' के महत्व के एक अन्य कारण की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए मेनारिया जी का कथन है कि यह काव्य डिंगल का आदि-काव्य है। 'पृथ्वीराज रासो' की रचना वे स० १७०० से स० १७३२ के बीच मानते है। उनका विचार है कि "इससे पूर्व का लिखा हुआ डिंगल भाषा का कोई काव्य-ग्रथ उपलब्ध नही होता।" रा० भा० सा० पृ० १०३। स० १५९१ और स० १५९८ के बीच किसी समय सूजाजी नामक चारण ने 'राव जैतसी रो छन्द' नामक काव्य की रचना करते हुए उसमें बाबर के पुत्र कामरान तथा बीकानेर नरेश राव जैतसी के युद्ध का विशुद्ध डिंगल मे वर्णन किया। सत्रहवी शती के आरभ में ईसरदास नामक कवि ने 'हालाँ झालाँ रा कुण्डलिया' नाम का एक वीररस पूर्ण ग्रन्थ रचा जिसे वीररस की अत्युत्कृष्ट रचना माना जाता है। इसी शती में केशवदास चारण का वीररस का 'राव अमरसिंह जी रा दूहा' तथा वेदान्त का 'विवेक-वार्त्ता' ग्रथ तथा १६२५ के पश्चात् कविजल्ह निर्मित एक प्रेम-कहानी 'बुद्धिरासो' के नाम से उपलब्ध होती है। साथ ही भक्ति में पगी हुई रचनाओ का तो इस काल में अत्यधिक प्रचार पाया जाता है। स्मरण रहे कि हिन्दी तथा राजस्थानी साहित्य की अमर कवयित्री परम भक्त मीरा ने अपना स्वर इसी काल मे जगाया था। उनकी रचनाएँ आज तक देश के कोने कोने में बडे प्रेम से गाई जाती है। मीरा के उपास्यदेव कृष्ण थे और उनकी भक्ति माधुर्य-भाव की थी। इनकी कविता में भक्ति और शृंगार की गगा-यमुना प्रवाहित है। उस मे इनके हृदय का निश्छल राग, तप और वाणी का माधुर्य सभी एक साथ उतर आया है। अपने सौन्दर्य में इनकी कविता निखरी हुई है। हृदय की पीर मीरा के काव्य में पक्ति पक्ति मे बिखरी है जिससे इनकी रचना अत्यन्त मार्मिक बन सकी है। इनके अतिरिक्त नाभादास नामक प्रसिद्ध लेखक और

भक्त, जिन्होंने 'भक्तमाल' की रचना की, भी इसी काल की विभूति है। रामानुज-सम्प्रदाय के भक्तकवि कृष्णदास पयहारी ने स० १५५९ से १५८४ के बीच 'जुगल मैन चरित्र,' 'ब्रह्मगीता' तथा 'प्रेमतत्व-निरूपण' नामक तीन ग्रथो में भक्ति की सरिता प्रवाहित की थी। नाभादास जी के गुरु अग्रदास जी ने भी रामभक्ति का अवलम्ब ग्रहण कर कई ग्रथो की रचना इसी काल में की थी। 'हालाँ झालाँ रा कुण्डलियाँ' के लेखक ईसरदास तो उस काल के प्रसिद्ध भक्तकवि थे। इनके विपय में राजस्थान मे अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित है तथा इनकी प्रशसा में इनके समकालीन कवियो की पक्तियाँ भी मिलती है। १२ ग्रन्थो मे इनका 'हरिरस' नामक ग्रथ भक्ति के विचार से अपूर्व कहा जाता है। इसमे तल्लीनता, अगाव प्रेम, दृढ विश्वास कूट-कूटकर भरा है। पृथ्वीराज के समकालीन कवि साँया झूला चारण (स० १६३२ से स० १७०३ तक) के नाम पर 'रुक्मिणी-हरण' नामक काव्य प्रसिद्ध है। इनका एक दूसरा ग्रथ 'नागदमण' भी मिला है जो 'रुक्मिणी-हरण' से सजीव और पुष्ट बताया गया है। मेनारिया जी ने हरण के ६ छन्द उद्धृत किये है, जिसमे इस ग्रथ की सरलता तो ज्ञात होती है किन्तु कथा की नवीनता, मौलिक प्रसगोद्भावन आदि पर कोई प्रकाश नही पडता। इस ग्रथ में ४३६ छन्द हैं। 'नागदमण' भी छोटा किन्तु 'हरण' से सुन्दर काव्य है। 'हरण' के ६ पद इस प्रकार है —

> प्रगटचा क्रिसन वसुदेव जादव पता, श्री हुई रुखमण राव भीमक सुता ॥ १ ॥
> विमळ पिता मात कुळ छात जणावियो, लार भरतार अवतार रुखमण लियो ॥२॥
> भळमळा राजहस राजकुँवरी भली, एह छै रुखमणी रूप जुग ऊपली ॥ ३ ॥
> मात पित पून परवार वैठा मती, सोझियो वाद विवाह कारण सुती ॥ ४ ॥
> भाखियो भीम मुख जोग चवदै भवन, कुवर वर मूझ एक सूझै क्रिसन ॥ ५ ॥
> रुखमिया जाँणि त्रन जाळणी राळियाँ, भला भीकम तुम्हे वर भाळियो ॥ ६ ॥

पृथ्वीराज के ही समकालीन तथा अकवर के दरवार से सम्वन्धित राजस्थानी कवि दुरसाजी आढा का नाम भी इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है। दुरसाजी वीर भी थे और कई युद्धो में स्वय गये थे तथा वहाँ उनके घायल होने की भी वात कही जाती है। यह पृथ्वीराजके ही समान आत्मसम्मानी तथा देश-भक्त थे तथा मन ही मन अकवर से चिढे भी रहते थे। पृथ्वीराज के ही समान

अनुक्रम

182 to end

यह भी महाराणा प्रताप को हिन्दू-जाति का रक्षक मानते और उनका सम्मान करते थे। राजस्थान में ये अपनी ओजमयी रचनाओ के लिये सम्मानित हैं। इन्होने 'विरुद बहत्तरी' में अकबर को अकबरियो, अधम तथा लालची नामो से पुकारा है। इन्होनें 'वेलि' को सुनकर उसे पाँचवा वेद कहा था। १६१० या १६१५ के बीच किसी समय जन्म लेने वाले माधोदास भी उस समय वर्तमान थे और इन्होने 'रामरासो' तथा 'भागवत दसमस्कध' की रचना की थी। इन्होने 'वेलि' को सुना था और उसकी प्रशसा भी की थी। इसी समय कुशललाभ तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य परशुराम प्रेमकथा तथा निर्गुण-सगुण भक्ति की राजस्थानी तथा पिंगल में रचना कर रहे थे। परशुराम ने तो लीलाओ को लेकर कई ग्रथो की रचना की थी।

तात्पर्य यह कि पृथ्वीराज के पूर्व तथा उनके समय मे राजस्थान में कविता दो मार्गों में होकर चल रही थी। एक तो वह वीर-कविता का रूप धारण कर लेती थी और दूसरे भक्ति-साहित्य के रूप मे सामने आती। पृथ्वीराज से पूर्व ही राजस्थान तथा देश के अन्य भागो मे 'वेलि' की पृष्ठभूमि के लिये काम करने वाली रचनाएँ बन चुकी थी। किन्तु डिंगल साहित्य में शृगार-रस की या तो एक-दो प्रेमकथा ही उपलब्ध थी अथवा वह वीरकाव्यो में वीर का सहायक ही बन कर प्रयुक्त हुआ था। वेलिकार के समय में ही जो 'हरण' लिखा गया था वह भी भक्ति के दृष्टिकोण को लेकर। मीरा के माधुर्य-भाव ने अवश्य भक्ति और शृगार के मिश्रण की नींव पक्की कर दी थी। यही कारण है कि वेलि में जहाँ शृगार को प्रधानता दी गई है, वहाँ भक्ति का उद्देश्य भी सम्मुख रखा गया है।

वेलि की रचना में पूर्णतया राजस्थानी पद्धति का निर्वाह किया गया है। साथ ही प्राचीन सस्कृत-ग्रथो की पद्धति का भी निर्वाह हो गया है। वेलि देशीय व्यवहार, सस्कार, ऋतु-परिवर्तन, आदि में तो राजस्थान की परम्पराओ मे बठनेवाला काव्य है ही साथ ही डिंगल के छन्द, भाषा आदि के विचार से भी वह राजस्थानी पद्धति में पूरा उतरता है। एक ओर उसमें समसामयिक जीवन का प्रभाव भक्ति के रूप में फूट निकला है, दूसरी ओर काव्य के सौन्दर्य की रक्षा भी हुई है। मुझे ऐसा लगता है कि वेलि समसाम-

यिक परिस्थिति मे जीवन के लिये एक सुझाव लेकर आई थी। जब एक ओर निर्गुण और सगुण धाराओ का मतभेद खडा हो, सगुण मे ही राम और कृष्ण को लेकर पृथक् रूप मे अपने अपने आराध्य को महत्व देने के लिये जब अनेक सम्प्रदाय उठ खडे हुए हो, तथा जब प्रेमगाथा के रूप में हिन्दुओ की ही कथा और उन्ही के नाम लेकर विदेशी सूफीवाद का घोल जनता के गले के नीचे उतारा जा चुका हो, वीर भाव दब गया हो और महाराणा के प्रति श्रद्धानत रहते हुए भी जब अकबर की प्रशस्तियाँ लिखने के लिये कवि विवश हो गया हो, अकबर के दीनइलाही की कूटनीति ने जब बहुत से राजभक्तो को प्रभावित करके हिन्दू महिलाओ से अकबर का विवाह करा देने में गौरव का आभास करा दिया हो, तब उन्ही शक्तिशाली अकबर के दरबार में रहकर स्वतन्त्रचेता पृथ्वीराज ने मानो शृगार, भक्ति और वीररस का सम्मिलन करते हुये वेलि की रचना द्वारा हिन्दू जनता तथा हिन्दी-साहित्य के लिये एक चेतावनी दी। उनकी वेलि ने मानो प्रेमकथा कहकर सूफी प्रेमकथाओ के प्रति होने वाले आकर्षण को रोक दिया। कृष्ण तथा रुक्मिणी के जन्मान्तर से चले आते हुए सम्बन्ध की बात कहकर उन्होने मानो हारी हुई जनता को ईश्वर का भरोसा दिलाया और अपनी शक्ति पहचानने की आँखें दी। कृष्ण के रामावतार आदि की चर्चा कराकर न केवल हिन्दू विश्वासो के प्रति विश्वास ही जाग्रत किया बल्कि भगवान की शरणागतवत्सलता आदि की ओर भी सकेत किया। रुक्मी को दण्ड दिलाकर उन्होने शैतान और मदमत्त प्रबल शत्रुओ को नष्ट कर देने की इच्छा उत्पन्न करने की चेष्टा की। रुक्मिणी की लगन ने आत्मसमर्पण की ओर ध्यान आकृष्ट कराया और सूफीकाव्य के स्वरूप को भी अपने में घेर लिया, साथ ही पुष्टिमार्ग तथा ऐसे ही अन्य धर्मवाद उसकी कथा के रूप में खिल उठे और काव्य का स्वरूप भी काव्यात्मक और मोहक ही बना रहा।

वेलि का नामकरण तथा वेलि परम्परा

प्रस्तुत काव्य को कवि ने वस्तुत. 'वेलि' नाम दिया है किन्तु अन्त के दोहलो मे 'रुक्मिणी-मगल' नाम की ओर भी उनका झुकाव दिखाई देता है। यथा, 'मन सुद्धि जपन्तां रुपमणी मगल' इसका प्रमाण है। रुपमणी-मगल नाम के रहते हुए भी 'वेलि' नाम देने की इच्छा के मूल में कई कारण दीख पड़ते है। एक कारण तो कवि ने

स्वय ही स्पष्टरूप से स्वीकार करते हुए बताया है कि उन्हें इस कथा का बीज भागवत से मिला है, वही वेलि, वल्लरी अथवा वेल के रूप में फैल कर अब इस काव्य का रूप धारण कर चुका है। इस वेल के फैलने का एक लम्बा रूपक देते हुए कवि ने कहा —

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ, महि थाणौ प्रिथुदास मुख।
मूळ ताल जड अरथ मण्डहे, सुथिर करणि चढि छाँह सुख ।।

पत्र अक्खर दळ द्वाळा जस परिमळ, नवरस तन्तु बिधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सु भगति मजरी, मुगति फूल फळ भुगति मिसि ।।

इस प्रकार के रूपक की एक परम्परा थी और जायसी तथा तुलसी दोनो ने इस साधन का उपयोग 'पद्मावत' तथा 'मानस' में किया है। दोनो ग्रथ किसी न किसी धार्मिक उद्देश्य से लिखे गये है, यह उनके रूपको से ही स्पष्ट है। मुक्ति का द्वार खोलने वाला पृथ्वीराज का यह काव्य भी उसी परम्परा का पालन करते हुए मानो यह प्रचार करना चाहता है कि लौकिक आवरण में यह ग्रथ भी भक्ति का ही है अथवा धार्मिक उद्देश्य से युक्त है।

एक और बात जो इस 'वेलि' नाम से प्रकट होती है, वह है लेखक का कथा के कोमल तथा मधुर भाग की ओर इगित। 'वेलि' नाम में ही एक ऐसी लचक और मधुरता है कि काव्य का विषय खुलता-सा प्रतीत होने लगता है। काव्य की नायिका का शरीर भी कनकवेलि-सा ही है —'कनकवेलि विहु पान किरि।' इस नायिका का शरीर यदि कनकछरी-सा होता तो उसके लोच और मृदुलता का पता कैसे लगता। सभव है इसी बात को लक्ष्य कर कवि ने काव्य के नाम से ही उसके विषय का ज्ञान कराने के लिये उसका नाम वेलि रखना उचित समझा। यह वेलि रुक्मिणी के हृदय को कृष्ण के हृदय से जोडती है। दोनो के बीच प्रेम-लता, प्रेम-वेलि फैल जाती है जिसके स्निग्ध बधन में दोनो बँधे रह जाते है।

पृथ्वीराज स्वतन्त्र विचार-प्रदर्शन के प्रेमी थे और उनके समय में तथा उनसे पूर्व 'मगल' नामक काव्यो की रचना हो चुकी थी। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि उन्होने उस परम्परा से कुछ भिन्नता प्रदर्शन की भावना से इस

रूपक के आधार पर अपने काव्य का नामकरण किया होगा। 'हरण' नाम मे उन्हें वह आकर्षण नही मिला। वे रुक्मिणी के इस सम्बन्ध को जन्मान्तर का सम्बन्ध मानकर चलते थे। जन्मान्तर का सम्बन्ध 'हरण' कहा जाय यह उन्हें प्रिय न रहा होगा। सभव था कि वे इसे 'स्वयम्वर' कहते किन्तु उनकी कथा का अन्त स्वयम्वर में नही कुमारोदय में होता है। अतएव वह नाम देना भी उनके लिये सभव न हुआ। कालिदास के कुमारसम्भव के आधार पर भी उन्होने, अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखने के विचार से, इस काव्य का नामकरण न किया। मभव है राजस्थान मे प्रचलित तथा प्रस्तुत काव्य में प्रयुक्त 'वेलियो गीत' छन्द के आधार पर लेखक ने इस ग्रथ का नामकरण किया हो। राजस्थान मे ऐसे काव्यो की कमी नही है जो छन्दो के नाम के साथ पुकारे जाते है। यह ग्रथ भी राजस्थानी भापा का है अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि स्वदेश-प्रेमी कवि ने अपने देशीय गौरव की रक्षा करने के निमित्त तथा परम्परा पालन के विचार से भी इस काव्य का 'वेलि' नाम रखना ही उपयुक्त समझा।

वेलि ग्रंथों की परम्परा

'वेलि' नाम के ग्रथो की एक परम्परा है। इस प्रकार के ग्रथ तीन नामो से पाये जाते है। कभी इन ग्रथो को वेलि कहा गया है, कभी वल्लरी और कभी वेलि का पर्याय लता उसके स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। नाम के वैभिन्य के साथ ही साथ इन काव्यो के विषयो में भी अन्तर दिखाई देता है। कुछ वेलियाँ ऐसी है जो किसी आश्रयदाता के चरित्र को प्रकाश मे लाने के लिये ही उनके नाम के साथ वेल या वेलि जोडकर लिखी गई है, जैसे—राजकुमार अनोपसिंह री वेल, राजा रायसिंघ जी री वेल, राणा उदैसिंघ जी री वेल' राठौड देईदास जैतावत री वेल, राजा सूरजसिंघ जी री वेल। कभी भगवान का गुणगान करने के लिये भक्त-कवियो ने वेलि, लता और वल्लरी नामो का प्रयोग किया है। कभी कभी वैराग्य के ग्रथो का नाम भी वल्लरी दिया गया है। इसी प्रकार लता नाम से भी एकाध काव्य किसी राजा की कीर्ति वर्णन के विषय को भी लेकर चला है। विद्यापति की कीर्तिलता नामक

पुस्तक इसी प्रकार का प्रशस्ति-काव्य है। यह ग्रथ अवहट्ठ अर्थात् अपभ्रश का है। व्रजभाषा में श्री हितहरिवश के शिष्य श्रीयुत ध्रुवदास जी की अनुराग-लता, रहस लता, प्रेमलता, तथा आनन्दलता और नागरीदास जी की राजरस-लता, अयोध्या के महाराज श्री द्विजदेव मानसिह जी की शृगार-लतिका, सुखदेव मिश्र—सं० १७२० से १७६० के बीच—की शृगार लता आदि भक्ति तथा शृगार पूर्ण काव्य, चरखारी महाराज खुमानसिह के दरबारी कवि श्री दत्त की लालित्य लता (जो स० १८३० के लगभग का एक अलकार ग्रन्थ है) १८ वी शती में घनानन्द की 'इश्कलता' तथा आधुनिक काल के श्री ठाकुर जगमोहन सिह के सग्रह प्रेमसपत्तिलता तथा श्यामालता आदि अनेक ग्रथ पाये जाते है। १९ वी शती की जयपुर के महाराज प्रतापसिह 'व्रजनिधि' की प्रीतिलता भी व्रजभाषा की ही रचना है। एकाध के अतिरिक्त इन सब रचनाओ के विषय कृष्ण की लीला से सम्बन्धित है। किसी में उनके प्रेम का गान है, किसी में रास का। मुख्यत शृगार ही इनका विषय है, और उस शृगार का सम्बन्ध है कृष्ण से। इनमें से कुछ ग्रथ नागरीदास जैसे भक्तो की भक्तिपूर्ण रचनाएँ है।

इसी प्रकार वल्लरी या वेलि नाम को लेकर लिखे जाने वाले ग्रथ भी पाये जाते है और इनका सम्बन्ध भी प्राय कृष्ण अथवा राधा की भक्ति या शृगार वर्णन से ही है। व्रजभाषा के प्रसिद्ध प्रेमी कवि घनानन्द के नाम से १८वी शती के दो काव्य 'रस केलि वल्ली' तथा 'वियोग वेलि' नाम से उपलब्ध होते है। इसी शती के लिपि किये गये दो काव्य 'मनोरथ वल्लरी' नाम से श्रीयुत मोतीलाल जी मेनारिया को उपलब्ध हुए हैं, जिनका उल्लेख उन्होने 'राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज' नामक ग्रथ के प्रथम भाग के १०० तथा १०१ पृ० पर किया है। इन दोनों के लेखक क्रमश तुलसीदास तथा रामराय बताये गये है। इनमें से तुलसी दास की मनोरथ वल्लरी का लिपिकाल स० १७९३ है और रामराय की मनोरथवल्लरी की प्रतिलिपि १७८९ की है। अनुमान किया जा सकता है कि यह रचनाएँ उससे काफी समय पहले की है और प्रसिद्ध होने पर उनकी प्रतिलिपियाँ भी की गई। तुलसीदास की वल्लरी का रचनाकाल इस प्रकार है —

वेद सप्त रिप चन्द्र पुनि, सवत् ताकौ मास ।
सावन बदि तिथि पचमी, वल्लरी कीयौ प्रकास ॥

इसकी पद्य-सख्या १९१ है तथा विपय राधाभक्ति-वर्णन रखा गया है। रामराय की वल्लरी का विपय कृष्ण-लीला है। दोनो की भापा ब्रजभापा है। पहली कृति केवल दोहो में है और दूसरी दोहे-चौपाई में। स० १७५६ से १८५६ के बीच रहनेवाले भक्तवर नागरीदास के वैरागवल्लरी तथा कलि वैरागवल्लरी ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है। यह ग्रथ क्रमश १७८२ तथा १७९५ के है, और ब्रजभापा मे लिखे गए है। इन्ही नागरीदास के भाई वहादुरसिंह के यहाँ रहनेवाले हित वृन्दावनदास जी ने, जो वाद को ब्रजभापा के श्रप्ठ भक्त-कवियो मे गिने गये, वेलि नामक कई ग्रथो की, कृष्ण-लीला सम्वन्वी विषय को लेकर, रचना की। कृष्ण गिरि पूजन वेलि, श्रीहितरूप चरित वेलि, आनन्द-वर्द्धन वेलि, राधाजन्म उत्सव वेलि, भक्त सुजस वेलि, करुणावेलि, हरिकला वेलि तथा वेलि नामक उनके ८ ग्रन्थो का पता लगता है। ब्रजभापा का मावुर्य, पदावली की कोमलता, शुद्धता और सरलता सराहनीय है। उपरिलिखित वेलियो में से श्रीहितरूप चरित वेलि इनके गुरु श्रीहितरूप जी के प्रति उनके चरित को लेकर लिखी गई जान पडती है, शेष का विषय भक्ति से सम्वन्वित है। इसी प्रकार प्रतापसिह 'ब्रजनिधि' की दुखहरण वेलि भी प्राप्त होती है। यह समस्त वेलियाँ ब्रजभापा में है। राजस्थानी भापा की वेलियो के नाम पहले लिये जा चुके है जो प्राय राजाओ की प्रशस्तियाँ है।

साराश यह कि वेलि लिखने की एक परम्परा भक्त-कवियो के वीच रही है और पृथ्वीराज के पश्चात् की समस्त वेलि राघा कृष्ण की लीलाओ के भक्तिपूर्ण वर्णनो को लेकर चली है। एकाव वेलि ही ऐसी है जो किसी अन्य विषय को लेकर चली हो। इनकी भापा ब्रजभापा है और छन्द दोहे, चौपाई अथवा कवित्त सवैया है। हमारा विचार है कि इस परम्परा को देखते हुए, वेलि के नामकरण के मूल में वेलियो गीत की भावना है, यह धारणा वहुत ठीक नही जान पडती। वेलि नाम का सम्वन्व भक्ति से अधिक है, फिर चाहे वह किसी भी छन्द अथवा किसी भी भापा में क्यो न हो। दूसरे, वेलि नामक जितने ग्रथ ब्रजभापा मे उपलव्व है, उतने राजस्थानी में नही। साथ ही इनके लेखक

प्राय राजस्थान के कवि है। यदि उनके सामने वेलियो गीत से ही वेलि के सम्बन्ध की वात होती तो वे भी उसी छन्द में रचना करते, किन्तु उन्होने ऐसा नही किया। इन वेलियों में प्राय एक ही विषय—भक्ति अथवा शृंगार—की स्थापना भी इस वात का प्रमाण है कि वेलि नाम का सम्वन्ध भक्ति की कोमल भावना अथवा शृंगार की माधुर्य भावना से अधिक है, किसी छन्द से उतना नही। जिन कृतियो का सम्वन्ध इस वेलियो गीत से है, वह केवल 'राजप्रशस्तियाँ मात्र है। अतएव वेलि का नामकरण वस्तुत कृष्ण तथा रुक्मिणी के बीच कोमल प्रेम सम्वन्ध को प्रकट करने के लिये ही हुआ प्रतीत होता है। कवि ने अपने हृदय में उत्पन्न भक्ति रूपी वेल पर ही मुख्यत दृष्टि रखी है, यह और बात है कि यह वेलियो गीत को भी लेकर चला है। आगे चलकर भाषा का भेद-भाव न करते हुए राजस्थान के भक्त-कवियो ने कृष्ण की भक्ति तथा शृंगार के वर्णन के रूप में वेलि ग्रथो द्वारा इसी वेलि की परम्परा को ही निबाहने की चेष्टा की है। अपने हृदय में उत्पन्न भक्ति-वेलि को निरन्तर पालते, रक्षा करते और वढाते रहने का ही प्रयत्न किया है। अभिप्राय यह है कि, पृथ्वीराज का यह ग्रथ एक परम्परा की स्थापना करता है, जिसे राजस्थान तथा व्रज-मण्डल के भक्त-कवियो ने आगे तक निबाहने का प्रयत्न किया है। पृथ्वीराज के द्वारा लगाई हुई इस वेलि को ये भक्त कवि नित्य सीचते रहे।

वेलि का रचनाकाल

वेलि के सम्पादको ने अभीतक एकमत से इसका रचनाकाल स० १६३७ ही स्वीकार कर लिया है। स० १९७३ में प्रकाशित वेलि के सम्पादक श्रीयुत डा० टैसीटरी तथा स० १९८८ में हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित सस्करण के सम्पादक-द्वय श्रीयुत ठा० रामसिह तथा श्री सूर्यकरण जी पारीक ने अपने ग्रथो में वेलि का रचनाकाल स० १६३७ ही स्वीकार किया है। डा० टैसीटरी ने आठ तथा रामसिह जी ने चार अन्य प्रतिलिपियो से सहायता ली थी। उन सव में उन्हें एक ही सवत् मिला, जिसका उल्लेख दोहला स० ३०५ के रूप में वेलि के अन्त मे किया जाता रहा है। डा० रामकुमार वर्मा ने भी इन्ही के आधार पर वेलि का रचनाकाल १६३७ स्वीकार किया है। पारीक जी का तो निश्चय है कि—"अन्तिम दोहले ३०५ में कवि ने प्रथानुसार

वेद सप्त रिप चन्द्र पुनि, सवत् ताकौ मास ।
सावन वदि तिथि पचमी, वल्लरी कीयौ प्रकास ।।

इसकी पद्य-सख्या १९१ है तथा विषय रावाभक्ति-वर्णन रखा गया है । रामराय की वल्लरी का विषय कृष्ण-लीला है। दोनो की भापा व्रजभाषा है। पहली कृति केवल दोहो में है और दूसरी दोहे-चौपाई में। स० १७५६ से १८५६ के वीच रहनेवाले भक्तवर नागरीदास के वैरागवल्लरी तथा कलि वैरागवल्लरी ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है। यह ग्रथ क्रमश १७८२ तथा १७९५ के है, और व्रजभापा मे लिखे गए है। इन्ही नागरीदास के भाई वहादुरसिंह के यहाँ रहनेवाले हित वृन्दावनदास जी ने, जो वाद को व्रजभाषा के श्रप्ठ भक्त-कवियो में गिने गये, वेलि नामक कई ग्रथो की, कृष्ण-लीला सम्वन्वी विषय को लेकर, रचना की। कृष्ण गिरि पूजन वेलि, श्रीहितरूप चरित वेलि, आनन्द-वर्द्धन वेलि, रावाजन्म उत्सव वेलि, भक्त सुजस वेलि, करुणावेलि, हरिकला वेलि तथा वेलि नामक उनके ८ ग्रन्थो का पता लगता है। व्रजभाषा का माधुर्य, पदावली की कोमलता, शुद्धता और सरलता सराहनीय है। उपरिलिखित वेलियो में से श्रीहितरूप चरित वेलि इनके गुरु श्रीहितरूप जी के प्रति उनके चरित को लेकर लिखी गई जान पडती है, शेप का विषय भक्ति से सम्वन्वित है। इसी प्रकार प्रतापसिंह 'व्रजनिवि' की दुखहरण वेलि भी प्राप्त होती है। यह समस्त वेलियाँ व्रजभापा में है। राजस्थानी भाषा की वेलियो के नाम पहले लिये जा चुके है जो प्राय राजाओ की प्रशस्तियाँ है।

साराश यह कि वेलि लिखने की एक परम्परा भक्त-कवियो के वीच रही है और पृथ्वीराज के पश्चात् की समस्त वेलि रावा कृष्ण की लीलाओ के भक्तिपूर्ण वर्णनो को लेकर चली है। एकाव वेलि ही ऐसी है जो किसी अन्य विषय को लेकर चली हो। इनकी भाषा व्रजभापा है और छन्द दोहे, चौपाई अथवा कवित्त सवैया है। हमारा विचार है कि इस परम्परा को देखते हुए, वेलि के नामकरण के मूल में वेलियो गीत की भावना है, यह धारणा वहुत ठीक नही जान पडती। वेलि नाम का सम्वन्व भक्ति से अधिक है, फिर चाहे वह किसी भी छन्द अथवा किसी भी भापा में क्यो न हो। दूसरे, वेलि नामक जितने ग्रथ व्रजभापा में उपलव्व है, उतने राजस्थानी में नही। साथ ही इनके लेखक

प्राय राजस्थान के कवि हैं। यदि उनके सामने वेलियो गीत से ही वेलि के सम्बन्ध की वात होती तो वे भी उसी छन्द में रचना करते, किन्तु उन्होंने ऐसा नही किया। इन वेलियो मे प्राय एक ही विषय—भक्ति अथवा शृगार—की स्थापना भी इस वात का प्रमाण है कि वेलि नाम का सम्वन्ध भक्ति की कोमल भावना अथवा शृगार की माधुर्य भावना से अधिक है, किसी छन्द से उतना नही। जिन कृतियो का सम्वन्ध इस वेलियो गीत से है, वह केवल राजप्रशस्तियाँ मात्र है। अतएव वेलि का नामकरण वस्तुत कृष्ण तथा रुक्मिणी के बीच कोमल प्रेम सम्वन्ध को प्रकट करने के लिये ही हुआ प्रतीत होता है। कवि ने अपने हृदय मे उत्पन्न भक्ति रूपी वेल पर ही मुख्यत दृष्टि रखी है, यह और बात है कि यह वेलियो गीत को भी लेकर चला है। आगे चलकर भाषा का भेद-भाव न करते हुए राजस्थान के भक्त-कवियो ने कृष्ण की भक्ति तथा शृगार के वर्णन के रूप में वेलि ग्रथो द्वारा इसी वेलि की परम्परा को ही निबाहने की चेष्टा की है। अपने हृदय में उत्पन्न भक्ति-वेलि को निरन्तर पालते, रक्षा करते और वढाते रहने का ही प्रयत्न किया है। अभिप्राय यह है कि, पृथ्वीराज का यह ग्रथ एक परम्परा की स्थापना करता है, जिसे राजस्थान तथा ब्रज-मण्डल के भक्त-कवियो ने आगे तक निवाहने का प्रयत्न किया है। पृथ्वीराज के द्वारा लगाई हुई इस वेलि को ये भक्त कवि नित्य सीचते रहे।

वेलि का रचनाकाल

वेलि के सम्पादको ने अभीतक एकमत से इसका रचनाकाल स० १६३७ ही स्वीकार कर लिया है। स० १९७३ में प्रकाशित वेलि के सम्पादक श्रीयुत डा० टैसीटरी तथा स० १९८८ में हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित सस्करण के सम्पादक-द्वय श्रीयुत ठा० रामसिह तथा श्री सूर्यकरण जी पारीक ने अपने ग्रथो में वेलि का रचनाकाल स० १६३७ ही स्वीकार किया है। डा० टैसीटरी ने आठ तथा रामसिह जी ने चार अन्य प्रतिलिपियो से सहायता ली थी। उन सव में उन्हें एक ही सवत् मिला, जिसका उल्लेख दोहला स० ३०५ के रूप में वेलि के अन्त में किया जाता रहा है। डा० रामकुमार वर्मा ने भी इन्ही के आधार पर वेलि का रचनाकाल १६३७ स्वीकार किया है। पारीक जी का तो निश्चय है कि—"अन्तिम दोहले ३०५ में कवि ने प्रथानुसार

ग्रथ-समाप्ति का समय स० १६३७ बता दिया है। इस सं० के विपय मे किसी प्रकार के अपवाद अथवा विवाद को स्थान नही है।" जिस दोहले का आधार यहाँ लिया गया है वह इस प्रकार है —

वरसि अचळ गुण अग ससी सवति, तवियौ जस करि श्री भरतार।
करि श्रवणे दिन रात कठ करि, पामै स्त्री फळ भगति अपार॥

इसमे अचल से ७, गुण से सत्वादि केवल ३, अग से ६ वेदाग तथा शशि से १ चन्द्र की सख्या मानकर यह सवत् स्थिर किया गया है।

राजस्थान के प्रसिद्ध लेखक मेनारिया जी की अपनी शोध में 'वेलि' की कई हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर के सरस्वती भण्डार मे देखने को मिली है, जिनके कारण इस स० के विपय मे एक सन्देह खडा हो गया है। इन तीनो प्रतियो में रचनाकाल स० १६४४ दिया गया है। प्रथम प्रति का लिपिकाल स० १७०१, चैत्र शुक्ला ४, शनिवार तथा पद्य-सख्या केवल ३०३ है। दूसरी प्रति सं० १७२७ की वहुत फटी हुई दशा में है। इसमें ३०१ पद्य है। तीसरी का लिपिकाल स० १७९५, कार्तिक सुदी ७, सोमवार तथा पद्य-सख्या ३०१ है। इनमें से अन्तिम दो की २८६ पद्यो तक टीका है। सख्या १ तथा ३ प्रति की टीकाएँ एक सी है परन्तु दोनों के अन्तिम भाग में अन्तर है। इन तीनो प्रतियो में सवत् का उल्लेख क्रमश. इस प्रकार हुआ है —

प्रति १ —सोलह सै सवत चमालै वरसै, सोम तीज वैसाख सुदि।
रुक्मिणी कृष्ण रहस्य रमण रस, कथी वेलि पृथ्वीराज कमधि॥

प्रति २ —सोलह सै सवत् चमालै वरषै, सोम तीज वैसाख समधि।
रुपमणि क्रित रहसि रमता, कही वेली पृथ्वीदास कविध॥

प्रति ३ —सोलै सै सवत चौमाली मै वरसै, सोम तीज वैसाप सुदि।
रुकमणी वरा रहस्य ईसरमत, कही वेलि प्रिथीदास कमध॥

इन प्रतियो में इस प्रकार स्पष्ट रूप मे सवत् १६४४ स्वीकार किया गया है। इन दोनो सवतो में केवल सात वर्ष का अन्तर पडता है। इस सम्बन्ध में किसी भी एक पक्ष में निर्णय देने में कई कठिनाइयाँ प्रतीत होती है। सबसे पहली और प्रधान कठिनाई है इतिहास की ओर से की गई उपेक्षा। पृथ्वीराज की स्वतन्त्रता-प्रियता से अकबर खीझा रहता था अतएव उस समय के लेखको ने, जो

——

अकबर के दरवार से सम्वन्धित थे, उनका उल्लेख नही किया। आईने अकबरी मे उनकी उपेक्षा की गई है। यदि उनके इस ग्रथ के सम्बन्ध में कुछ प्रशसात्मक उक्तियाँ उपलब्ध होती है, तो वह भी वेलि के रचनाकाल का उल्लेख नही करती। अतएव किसी बहिर्साक्ष्य के अभाव में इस सवत् का विचार बडा कठिन प्रतीत होता है। फिर भी इस विषय को कई प्रमाणो से सुलझाने का प्रयत्न किया जा सकता है। सबसे अधिक सहायता ज्योतिष की गणना की ली जा सकती है। यदि यह स० तथा दिन आदि का उल्लेख ज्योतिष से ठीक उतरता हो तो इस दूसरी तिथि को स्वीकार किया जा सकताहै। दूसरा साधन, जो तिथि-निर्णय में हमारा कुछ सहायक हो सकता है, वह है रचनाकाल लिखने की प्रथा। तीसरे, यह भी विचार बहुत उपादेय सिद्ध हो सकता है कि हम इस प्रकार के मगलो की रचना-तिथि और उनकी परम्परा में 'वेलि' का स्थान खोजकर रचनाकाल का अनुमान करें। इन साधनो के अतिरिक्त भक्त-माल आदि के उल्लेखो पर भी विचार किया जा सकता है।

ज्योतिष के विचार से गणना के अनुसार स० १६४४ की वैशाख सुदी ३ को रविवार पडता है। मेनारिया जी का कहना है कि "इण्डियन एफैमेरिस के अनुसार उस तिथि पर रविवार ही होता है। किन्तु गणना में,इस प्रकार का अन्तर सम्भावित है।" अतएव उनकी सम्मति है कि स०१६३७ को रचना का आरभ काल तथा १६४४ को उसका समाप्ति काल मानना चाहिये। (देखिये, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १२४)।

'वेलि' मगलो की एक परम्परा विशेष से सम्वन्धित है। उनसे पूर्व ही नन्ददास, तुलसीदास तथा नरहरि के रुक्मिणी-मगल प्रकाश में आ चुके थे। नरहरि १६३७ तक भी ७५ वर्ष की अवस्था पर पहुँच चुके थे। ऐसी अवस्था में उनका किसी प्रवन्ध की रचना करना सभव नही प्रतीत होता। साथ ही नरहरि का मगल एक मामूली रचना है जो परिणत वय के व्यक्ति की नही अल्पवयस्क प्रयत्नशील कवि की ही रचना हो सकती है। अतएव उनका मगल 'वेलि' से बहुत पूर्व का है। तुलसीदास वेलिकार के समकालीन थे और उस समय तुलसी का यश-सूर्य परमोन्नति प्राप्त कर चुका था। तुलसीदास ने पार्वती-मगल तथा जानकी-मगल, दो दो मगल-काव्यो, की रचना की है। पार्वती-

मगल की रचना-तिथि स० १६८३ है। इससे पूर्व अथवा इसीके साथ जानकी मगल की भी रचना हुई, ऐसा इतिहासकार मानते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने जानकी-मगल की रचना तिथि भी १६४३ ही मानी है। उनके इस मत को स्वीकार करते हुए यह कहा जा सकता है कि सभवत पृथ्वीराज को तुलसी के इन्हीं मगलों से अपनी रचना की प्रेरणा मिली होगी। विशेषत. पार्वती-मगल को देखकर उनकी इच्छा हुई होगी कि कालिदास के कुमारसम्भव के समान ही यदि तुलसी भी मगल की रचना करते तो अच्छा होता। परिणामस्वरूप उन्होंने गोविन्द की कथा के उस स्थल को ढूंढ निकाला, जहाँ उनके शृगार का वर्णन भी किया जा सके और मर्यादा की रक्षा भी हो जाय। स्वतन्त्र विचारक होने के कारण ही उन्होंने रुक्मिणी-मंगल लिखने की चेष्टा की, क्योंकि उनसे पूर्व लिखे गये मगल एकदम उच्चकोटि की रचना नही थे। अतएव यदि यह कल्पना ठीक मान ली जाय तो यह मानने में कोई आपत्ति नही हो सकती कि 'वेलि' की रचना १६४८ में हुई है। तुलसी ने उनका अनुकरण किया हो यह सभव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि तुलसी तब तक जानकी मगल की रचना कर चुके थे और एक मगल के समान ही वे दूसरा मगल लिखने की ओर भी अपने आप प्रवृत्त हुए होंगे। तात्पर्य यह कि 'वेलि' को तुलसी के पार्वती मगल के पश्चात् की रचना स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इस तर्क को काल्पनिक कहकर टाला भी जा सकता है।

तिथि लिखने की प्रथा पर यदि ध्यान दिया जाय तो स० १६४४ ही वेलि का रचनाकाल ठीक ठहरता है। पार्वती-मगल की रचना करते हुए तुलसी ने उसके तिथिकाल आदि का इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख किया है।

जय सवत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउँ मगल सुनि सुख छिनु-छिनु॥

नरपति की प्रसिद्ध डिंगल रचना वीसलदेव रासो का तिथि-उल्लेख भी इसी प्रकार स्पष्ट रूप मे दिन आदि वताकर यों किया गया है :—

वारह सै वहोतराहाँ मझारि, जेठ वदी नवमी वुधवारि॥

डिंगल ग्रथो अथवा राजस्थान के कवियो द्वारा लिखे गये ग्रथों में इसी प्रकार सवत् देने की प्रथा वाद में भी चलती रही है। जोगीदास नामक

चारण कवि ने अपने हरिपिंगल प्रबन्ध नामक छन्द शास्त्र के डिंगल ग्रथ का रचना काल देते हुए इसी प्रथा का अनुसरण किया है। यथा,

सवत सतर इकवीस में, कातिक सुभ पख चद।
हरिपिंगल हरिअद जस, वणियौ खीरसमद॥

इसी प्रकार बुधसिंह तथा हमीर नामक अठारहवी शताब्दी के रीतिग्रन्थ लेखको ने भी अपने अपने ग्रथो के सवत् तथा दिन आदि का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार किया है —

१—सतरहसै चौरासिया, नवमी तिथि ससिवार।
शुक्ल पक्ष भादो प्रगट, रच्यौ ग्रथ सुख सार॥
२—सवत सत्तर छिनुऔ पणा तस वरस पटतर।
तिथि उत्तिम सातिम्म वार उत्तिम गुरुवासर॥

साराश यह कि तिथि के उल्लेख की एक विशेष परम्परा है जो डिंगल ग्रथो में वेलि से पूर्व से उसी प्रकार चली आ रही है और उसके बाद भी उसीका अनुसरण होता रहा है। हिन्दी की अन्य भाषाओं में भी इसका पालन करने की चेष्टा हुई है। इस विचार से वेलि जहाँ अन्य परम्पराओ का पालन करती है वहाँ इस परम्परा का तिरस्कार करेगी, यह सभव प्रतीत नही होता। अत वेलि की रचना-तिथि १६४४ ही उचित जान पडती है।

पृथ्वीराज का उल्लेख भक्तमाल में हुआ है। उस ग्रथ में उल्लेख होने का अर्थ है कि पृथ्वीराज पहले से पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके होगे । किन्तु इसका रचनाकाल १६४२ से १६८० तक माना गया है । अतएव 'वेलि' की रचना को १६४२ से पूर्व ही मानने की कोई आवश्यकता विशेष प्रतीत नही होती।

वेलि की कथा का आधार

उपनिषद् भारतीय ज्ञान के केन्द्र तथा पुराण भारतीय-जीवन, इतिहास और कल्पना के सरक्षक है। उपनिषदो की वाणी से ढलता हुआ ज्ञान दर्शन के क्षेत्र में पदार्पण करता है और पुराणों में सकलित इतिहास भारतीय कवि के कण्ठ में बसकर कविता का रस-स्रोत उमडाता, कण्ठ से कण्ठ में तैरता, मधु बरसाता जनमन को रसप्लावित करता है । प्राचीन भारतीय-साहित्य के

अन्यतम प्रतिष्ठित काव्य-ग्रन्थो का मूलाधार यही पुराणो की भूमि है। यही से भारतीय प्राचीन काव्य को जीवन-रस प्राप्त हुआ है। यही से रस पाकर वडे-वडे आख्यान-काव्य पल्लवित हुए है। हिन्दी का प्राचीन-काव्य भी—विशेषत भक्ति-काव्य— इसी पुराणो की धरा से अपने पोषण की सामग्री प्राप्त करता रहा है और समय असमय आने वाले अनेक झझावात भी उसके उन्मूलन में असमर्थ रहे है। हिन्दी का सबसे अधिक समृद्ध और परिपुष्ट साहित्य भक्ति का साहित्य है। इस साहित्य का परिपोष इसी पुराण की भूमि पर होता आया है । इसी प्रकार 'वेलि' भी पुराणो से ही अपनी कथा की सामग्री लेकर फलित और पुष्पित हुई है।

'वेलि' की कथा का मूल आधार **भागवत** मे वर्णित रुक्मिणी विवाह का प्रसग है। लेखक ने इस विषय मे स्वय भागवत का ऋण स्वीकार किया है —

> वल्ली तसु वीज भागवत वायौ, महि थाणौ प्रिथुदास मुख।
> मूळ ताल जड अरथ मण्डहे, सुथिर करणि चढि छाँह सुख।।
> पत्र अक्खर दळ द्वाळा जस परिमळ, नव रस तन्तु व्रिधि अहो निसि।
> मधुकर रसिक सु भगति मजरी, मुगति फूल फळ भुगति मिसि।।

तुलसी के प्रसिद्ध मानस-रूपक के समान ही कवि ने यहाँ रूपक का सहारा लेकर कथा के वीज से लेकर उसके उद्भव विकास तथा पल्लवित एव पुष्पित होने तक की वात इन दोहलो में कही है। इस वल्ली का बीज भागवत में पाया गया और उसका वपन पृथ्वीराज के हृदयस्थल में हुआ। उनके मुख-रूपी आलवाल से यह भक्ति की वेल फूटी। इस वेल के मूल दोहलो की लय तथा सगीत ही इसकी जडें है, उन्ही के आधार पर यह स्थिर है। इसके भाव तथा अर्थ रूपी मण्डप पर ही यह काव्य-वल्ली विकसित हो रही है। 'वेलि' के अक्षर ही इसके पत्ते है तथा भगवान् का गुणगान इसकी मनहर सुगन्धि है। इसके अन्तर्गत आनेवाले नवरस इसके तन्तु-जाल है। इसके सहृदय पाठक वल्ली के रस-लोभी भ्रमर के समान है, भक्ति ही मजरी है। इसके पाठ के द्वारा मिलन वाली मुक्ति इसका सुगन्धित पुष्प है, यह वेलि समस्त सुख तथा ऐश्वर्य की साधन-स्वरूपा ह। भक्त के हृदय में भक्ति रूपी सघन छाया करके यह उसे सुख-शान्ति प्रदान करने वाली है। '

वेलिकार ने भागवत के जिस बीज का वर्णन किया है वह भागवत के ५२वें अध्याय से लेकर ५५वें तक आपको प्राप्त होगा। भागवत मे दी गई इस कथा का सक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है —

विदर्भनरेश भीष्मक के पाँच पुत्र तथा छठी एक पुत्री है। उनकी पुत्री ने किसी से कृष्ण के गुणो का श्रवण कर लिया है और उनपर मुग्ध होकर उन्हे अपना पति मान बैठी है। दूसरी ओर कृष्ण ने भी उसके गुण-श्रवण करने पर यह जानकर कि वह अपने ही सदृश शीलादि गुणयुक्त है, उसे वरण करने का मन ही मन निश्चय कर लिया। भीष्मक के पुत्र रुक्मी ने विवाह का समय आने पर रुक्मिणी का सम्वन्ध शिशुपाल से स्थिर कराने का हठ अपने पिता से किया। रुक्मिणी ने अपने मनोभाव प्रकट करते हुए एक ब्राह्मण को सन्देश देकर कृष्ण के पास द्वारिका भेजा। प्रतीहार द्वारा उसका प्रवेश कराए जाने पर श्रीकृष्ण ने उसका स्वर्णसिहासन से उतरकर सम्मान किया तथा उसके भोजनादि के पश्चात् उसके पैर दबाते हुए उसके आगमन का कारण पूछा। ब्राह्मण ने रुक्मिणी की ओर से मौखिक सन्देश दिया और तीसरे ही दिन होनेवाले रुक्मिणी के विवाह की सूचना दी। अम्विकापूजन की चर्चा के साथ रुक्मिणी ने सन्देश द्वारा स्वय राक्षस विधि से हरण करने का प्रस्ताव किया था। भगवान् ने अपनी विकलता का वर्णन किया। उनकी बातो से यह भी यही प्रकट हो गया कि रुक्मी द्वारा किये गये अपने विरोध का भी उन्हे ज्ञान है। द्विज को साथ ले दारुक से रथ जुडवाकर उन्होने प्रस्थान किया और एक ही रात्रि में विदर्भ पहुँच गए। इधर राजा भीष्मक ने रुक्मी की हठ के कारण शिशुपाल को विवाह का प्रस्ताव भेज दिया जिसके पाते ही शिशुपाल वहाँ आ पहुँचा। नरेश स्वय उसकी अभ्यर्थना करने के लिये उपस्थित हुए। शिशुपाल के पहुँचने से भी पूर्व नगर की साज-सज्जा कर दी गई थी। शिशुपाल की सहायता के लिये मगध-राज जरासधादि भी वहाँ आए। उन्हें पूर्व से ही यह शका थी कि कृष्ण रुक्मिणी का हरण करने के लिये आयेगे। दूसरी ओर कृष्ण को भी अकेला गया हुआ जान कर, शत्रुओ के उद्यम को सुन कर कलह की शका से शकित सेना सहित वलराम भी कृष्ण की सहायता के लिए उनके पीछे पहुंच गये। कृष्ण के कुण्डिनपुर पहुँचने में विलम्व होते देखकर रुक्मिणी अत्यन्त चिन्तातुर

हो गईं। उनके नेत्रो में अश्रु आ गए। किन्तु इसी समय उन्हें शुभ शकुन हुए तथा अपने द्वारा दूत वनाकर भेजे हुए ब्राह्मण के भी दर्शन हुए। विप्र को प्रसन्न-वदन देख रुक्मिणी ने उससे कृष्ण के सम्वन्ध में प्रश्न किया और उन्हे आया जानकर ब्राह्मण के वहाने उनके प्रति नमस्कार किया। नरेश ने वलराम आदि का भी ससैन्य सानुराग सम्मान किया तथा उनके दर्शनो के लिये पुरवासी अत्यन्त उत्सुक हो उठे। कृष्ण के आगमन की सूचना पाकर रुक्मिणी सखियो, गुप्तचरो, राजशूरो तथा सन्नद्ध सैनिको से परिवृत्त हो पैदल ही भवानी के दर्शन के लिये गईं। साथ में अनेक वस्त्रालकारो से सुसज्जित द्विजपत्नियाँ, गाते स्तुति करते गायक, वाद्यवादक तथा सूतमागध वन्दी आदि भी चले। वहाँ अनेक प्रकार से देवी का पूजन किया। रुक्मिणी मन ही मन मुकुन्द-चरणो का स्मरण करती जाती थी। (इस स्थल पर भागवतकार ने रुक्मिणी को श्यामा नारी वताते हुए उनके नखशिख का वर्णन किया है।) उनके देवमाया सदृश रूप-सौन्दर्य को देखकर वीरो को भी मूर्च्छा आ गई। ऐसी स्थिति में कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया। शत्रुदल विवश सा देखता ही रह गया। हरण हुआ देखकर शत्रुदल ने युद्ध करने के विचार से कृष्ण को घेर लिया। रुक्मिणी कृष्ण को घिरा देखकर घवरा उठी किन्तु शत्रुदल पराजित होकर शिशुपाल के पास लौट गया। अपनी पराजय के कारण लज्जित होकर शिशुपाल के समस्त सहायक अपने अपने नगर को भाग गये। किन्तु रुक्मी ने कृष्ण को पराजित करने की प्रतिज्ञा करके कृष्ण पर पुन आक्रमण किया। कृष्ण ने रुक्मी को पराजित करके उसका वध करना चाहा किन्तु रुक्मिणी ने अपने भाई की मृत्यु से भयभीत होकर कृष्ण के चरण पकड लिये। कृष्ण ने उसको प्राणदण्ड न देकर उसके केश उतार लिये। वलराम ने इस कार्य को अनुचित मानकर श्रीकृष्ण की भर्त्सना की। साथ ही उन्होने रुक्मिणी को भी प्रवोध दिया। रुक्मी ने पराजित और अपमानित होकर कुण्डिनपुर मे जाना उचित न समझ भोजकट नामक एक अन्य नगर वसायाँ और वही रहने लगा। कृष्ण ने रुक्मिणी के साथ विधिवत् विवाह किया। द्वारिका नगरी उत्सवमग्न हो उठी।

भागवत की इस कथा की कितनी रक्षा वेलिकार ने की है तथा कितना काव्य-कौशल एव अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन उन्होने कथा के सघटन करने मे

किया है, इसका विचार करने से पूर्व यहाँ इस प्रसग का जिन अन्य दो स्थलो पर वर्णन हुआ है उसका उल्लेख करना उचित होगा।

रुक्मिणी-विवाह का यह प्रसग विष्णुपुराण तथा हरिवशपुराण मे भी क्रमश ५वें अध्याय के २६ वें खण्ड तथा ५९ एव ६०वें अध्यायो में भी आया है हरिवशपुराण में कुल मिलाकर इस प्रकार के प्रसग को लेकर १२६ श्लोको का निर्माण हुआ है।

विष्णुपुराण मे दी गई कथा भागवत की कथा से विस्तार में बहुत कम है और इसे इतिवृत्त मात्र कहा जाना अनुपयुक्त न होगा। इस प्रसग में रुक्मिणी का देवदर्शन के लिये जाना, रुक्मिणी द्वारा कृष्ण के समीप ब्राह्मण द्वारा प्रस्ताव भेजना, युद्ध का विस्तृत वर्णन, राजाओ का पराजित होकर शिशुपाल के पास जाना आदि कथाओ का वर्णन नही किया गया है। जिससे नागरिको की उत्सुकता, रुक्मिणी की आतुरता, युद्ध की भयकरता आदि का वर्णन नही हो सका है और कथा अत्यन्त सक्षिप्त रह गई है। इस प्रसग में यह भी स्मरणीय है कि रुक्मी द्वारा इस पुराण में, कृष्ण से युद्ध करने जाने से पूर्व, यह प्रतिज्ञा कराई गई है कि वह यदि कृष्ण को पराजित न कर सका तो कुण्डिनपुर में प्रवेश नही करेगा। भागवत में इस प्रकार की किसी प्रतिज्ञा का उल्लेख नही है। इस ग्रथ में रुक्मी को दिये गये दण्ड का भी उल्लेख नही किया गया है। भागवतकार ने रुक्मिणी के साथ कृष्ण के विधिवत् विवाह मात्र का उल्लेख किया है, किन्तु विष्णुपुराणकार ने उसे स्पष्ट शब्दो में राक्षस-विवाह वताया है —निर्जित्य रुक्मिण सम्यगुपयेमे स रुक्मिणीम्। राक्षसेन विवाहेन सप्राप्ता मघुसूदन ॥ इस विवाह के आगे मदनाश प्रद्युम्न के जन्म का भी उल्लेख वि० पु० के लेखक ने किया है।

हरिवंशपुराण में इस कथा का कुछ दूसरा ही रूप प्राप्त होता है। उसका ५९वाँ अध्याय रुक्मिणी-हरण के प्रसग में ही लगाया गया है और ६०वें में रुक्मि की पराजय का वर्णन हुआ है। यहाँ भी गुण-श्रवण के कारण दोनो ओर प्रेम प्रदर्शित किया गया है, किन्तु कृष्ण तथा वलराम यहाँ केवल शिशुपाल का विवाह देखने की इच्छा से आये है और विवाह के पूर्व मन्दिर के समीप रुक्मिणी को देखकर उसके सौन्दर्य पर विमुग्ध कृष्ण, बलराम के परामर्श

से, मन्दिर के वाहर ही उसका हरण करते है। यह मन्दिर इस ग्रथ मे इन्द्राणी का वताया गया है। हरण के पश्चात् जरासधादि से युद्ध का उल्लेख किया गया है। रुक्मी कृष्ण से युद्ध करके पराजित होता है और कृष्ण से अभय-दान की प्रार्थना करता है। यह अभय-प्रार्थना का प्रसग भी इस ग्रथ में नया ही है। पराभूत रुक्मी ने भोजकट नामक नगर की स्थापना की और वही रह गया। कृष्ण ने द्वारिका पहुँचकर रुक्मिणी से विधिवत् विवाह किया।

वेलि की कथा

'वेलि' का आरम्भ मगलाचरण से होता है। मगलाचरण के अनन्तर कवि ने अपनी असमर्थता का वर्णन करते हुए यह सूचना दी है कि यह श्रृगार-ग्रथ है और प्राचीन मान्य पद्धति के अनुसार श्रृगार-ग्रथ के रचनाकार को पहले स्त्री का ही वर्णन करना चाहिये। अतएव उसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए 'वेलि' में भी पहले रुक्मिणी–कथा की नायिका–का ही वर्णन किया गया है।

मगलाचरण आदि की रूढि का परिपालन करने के अनन्तर ही वेलि की कथा का आरम्भ होता है। नियमानुसार कवि ने पहिले रुक्मिणी के माता-पिता तथा भाइयो का वर्णन करने के अनन्तर उसके जन्म तथा रूप-सौन्दर्य का वडा ही रमणीय कल्पना-रजित चित्रण किया है। रुक्मिणी की शनै शनै विकास प्राप्त करते हुए अगो के छिपाने की इच्छा तथा उसके लज्जानुभव का वडा ही मनोरम वर्णन किया गया है। रुक्मिणी न केवल रूपवती है वल्कि विविध-शास्त्रादि-ज्ञान से भी मडित है। उसकी वढती आयु को देखकर उसके पिता माता को उसके विवाह की चिन्ता होती है। उन्होने किसी से कृष्ण के गुण, रूप-लावण्य, तेज आदि गुणो की प्रभूत प्रशसा सुनकर उन्हीके साथ रुक्मिणी के विवाह करने का निश्चय किया। रुक्मिणी भी कृष्ण पर मुग्ध थी। किन्तु रुक्मी ने निर्लज्ज भाव से अपने माता-पिता की निन्दा करते हुए उनकी इच्छा तथा आज्ञा की अवज्ञा करके चेदि-नरेश शिशुपाल को विवाह के लिए निमन्त्रित कर दिया। रुक्मि का सन्देश पाकर शिशुपाल कुन्दनपुर आ जाता है और भीमक—भीष्मक—राजा उसका स्वागत करते है। कुन्दनपुर नगर की उस समय भी शोभा दर्शनीय है। व्यथिता रुक्मिणी का पत्र लेकर ब्राह्मण

द्वारिका की ओर प्रस्थान करता है, किन्तु कुन्दनपुर से वाहर जाते जाते सन्ध्या हो जाने के कारण अन्य पथिको के समान ही वह भी मार्ग मे ही सो जाता है। प्रात काल जगने पर वह अपने को द्वारिका मे देखकर भगवत्कृपा पर चकित हो उठता है। पूछते पूछते व्राह्मण अन्त पुर मे पहुँच जाता है। कृष्ण उसे दूर से ही देखकर स्वागत के लिए दौड पडते है। अनेक प्रश्नो के अनन्तर विप्र उत्तर में उन्हे रुक्मिणी का पत्र देता है, किन्तु वह प्रेमोल्लास के कारण स्वय न पढकर विप्र से ही पढवाते है। पत्र का सार ग्रहण कर तुरन्त ही रथ जुडवा विप्र को साथ ले कृष्ण कुन्दनपुर के लिये प्रस्थान करते है। कृष्ण के आने में विलम्ब देखकर इधर रुक्मिणी अत्यन्त चिन्तित और उदास थी कि कृष्ण का आगमन सन्देश लेकर रुक्मिणी के पास विप्र जा पहुँचा। उसे दूर से आते देखकर उसकी चेष्टा से ही उसके हृद्गत भावो का पता लगा लेने की जो चिन्ता रुक्मिणी को हुई उसका मार्मिक तथा चित्रमय वर्णन इस स्थल पर कवि ने किया है। इसी वीच कृष्ण को कुन्दनपुर गया जानकर वलराम भी उनकी सहायता के लिये अपनी सेना लेकर पहुँच जाते है। जनता देखने के लिये उमड पडती है। रुक्मिणी सुअवसर जानकर सखियो द्वारा माता से अम्विका-पूजन की आज्ञा लेकर अनेक सखियो तथा रक्षको से घिरी हुई अम्विकालय जाती है। कृष्ण भी उसके पीछे जाते है। अम्विकापूजन के पश्चात् रुक्मिणी सेनाओ पर दृष्टिपात करती है जिसके कारण सव उस माया से अभिभूत होकर चकित थकित से खडे रह जाते है। कृष्ण रुक्मिणी को रथ मे वैठा लेते है। तभी जैसे सेनाओ को सज्ञा आती है और वे ललकार कर युद्ध के लिये सन्नद्ध होते है। घमासान युद्ध में जरासधादि शिशुपाल के सहायको के पराजित हो जाने के अनन्तर स्वय रुक्मी युद्ध के लिये उपस्थित होता है और अन्त मे वह भी कृष्ण के द्वारा पराजित होता है। कृष्ण ने उसकी हत्या न करके उसके केश उतार कर उसे विरूप कर दिया। यह देखकर वलराम ने कृष्ण की भर्त्सना की। कृष्ण ने प्रसन्न हो कर रुक्मी के सिर पर हाथ रखकर उसे फिर स्वस्थ कर दिया। तदनन्तर अपनी सेना लेकर कृष्ण तथा वलराम द्वारिका गये; जहाँ उनकी वडी प्रतीक्षा, द्वारिकानिवासियो द्वारा, की जा रही थी। स्वागत के पश्चात् देवकी तथा

वसुदेव ने ब्राह्मण से कृष्ण के विधिवत् विवाह के लिये मगल तिथि पूछी। ब्राह्मण ने कहा कि जिससे एक वार विवाह हो चुका है कही उसीसे वार वार भी विवाह होता है? फिर भी सस्कार करना ही है तो जिस समय हरण हुआ था उस समय पाणिग्रहण तो हो ही चुका है, अव केवल शेष सस्कार पूरे कर दिये जाँय। ऐसा ही किया गया। शेष सस्कार के पूरा हो जाने के अनन्तर कवि को शृगार-वर्णन का उन्मुक्त अवसर प्राप्त होता है। यहाँ से प्रथम मिलन, रति-श्रान्ता की दशा, रतिक्रीडा के अन्त में प्रात कालीन दृश्य और ऋतु आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस वर्णन के पश्चात् रुक्मिणी के गर्भधारण, 'वेलि' का माहात्म्य-वर्णन, नामकरण, दुर्जन तथा सज्जनो के प्रति विनम्र भाव, 'वेलि' का भक्तिमय सन्देश तथा निर्माणकाल आदि का वर्णन कुछ छन्दों में किया गया है।

उपरिलिखित कथा पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा कि वेलिकार निश्चय ही भागवत का ऋणी है—और यह ऋण उसने स्पष्टत. स्वीकार भी किया है। किन्तु भागवत की कथा वेलि की कथा से समानता रखते हुए भी गठन में वहुत कुछ भिन्न है और वेलिकार ने अपनी कवित्व-शक्ति तथा रचना-कौशल का पूरा परिचय दिया है। अपनी प्रतिभा से उन्होने इस प्रसग में जिन मौलिक कल्पनाओ की योजना की है उसमे पुरानी होते हुए भी कथा नवीन और अत्यन्त मनोरम रचना वन गई है। वेलि को ग्रन्थ का स्वरूप देने के लिये मगलाचरण, ग्रन्थ का विपय, निर्माणकाल, वेलि-रूपक, दुर्जन तथा सज्जनो के प्रति विनम्र प्रार्थना, 'वेलि' का सन्देश आदि तो कुछ ऐसे विषय है जो कथा को काव्य का अलग रूप देने के लिये आवश्यक थे ही किन्तु इसके अतिरिक्त भी रुक्मिणी द्वारा पत्र भेजना, रुक्मिणी का नख-शिख-वर्णन, उसकी वय सन्धि अथवा साज-सज्जा और रति एव रत्यन्त-वर्णन अथवा ऋतुओ का वर्णन आदि विपय भी ऐसे है जो भागवत के वर्णन से कोई सम्वन्ध नही रखते, जो नितान्त प्रसगानुकूल तथा मौलिक है। यह न भूलना चाहिये कि यह ग्रथ, स्वय लेखक के ही शब्दो में, शृगार ग्रथ है। विपय के उपयुक्त मार्मिक तथा मनोहर स्थलो का चयन लेखक ने वडी चतुराई से किया है। युद्ध का वर्णन भी जिस विस्तृत रूप मे यहाँ किया गया है वैसा भागवत मे नही है। इसके अतिरिक्त,

दो शब्द

हिन्दी का क्षेत्र राजस्थान से लेकर विहार तक और हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक रहा है। इस भूमि की आवश्यकताओ, आशाओ, मान्यताओ, विचारणाओ एव आदर्शों की प्रमुख वाहिका भी हिन्दी ही रही है। अन्य प्रादेशिक वोलियाँ साहित्यिक सुरुचि तथा निष्ठा हिन्दी से ही ग्रहण करती रही हैं। जव से हिन्दी ने विश्वविद्यालयो मे उच्च कक्षाओ की पाठ-विधि मे स्थान पाया है, तभी से उसके डिंगल, पिंगल, विहारी आदि रूप अध्येताओ के सम्मुख आते रहे हैं। प्रस्तुत ग्रथ—वेलि क्रिसन रुकमणी री—एम० ए० कक्षा के विद्यार्थियो के पाठ्यक्रम मे वहुत दिनो से स्थान पाता रहा है, परन्तु डिंगल में लिखे होने के कारण विद्यार्थियो को इसके समझने मे प्राय कठिनता का अनुभव होता रहा है। मेरी इच्छा थी कि इस ग्रथ का एक सरल, सुवोध टिप्पणियों सहित सस्करण प्रस्तुत किया जाय, जिससे वेलि के अध्ययन में अध्येताओ को सुगमता हो और वे कवि के हृद्गत भावो का स्वारस्य प्राप्त कर सके। हर्ष का विपय है कि प्रो० आनन्द प्रकाश जी दीक्षित मेरी इच्छा को सफल वनाने के लिये उद्यत हो गये। वे हिन्दी काव्य मे रस-प्रक्रिया पर भी एक महत्त्वपूर्ण प्रवन्ध तैयार कर रहे हैं और मेरा विश्वास है कि उनकी कृतियाँ मातृभापा का भाण्डार भरने मे अनुपम देन सिद्ध होगी।

वेलि के सम्वन्ध मे अभी तक जो खोज हुई है और उसके काव्यत्व पर जो प्रकाश पडा है, उसका उपयोग तो दीक्षित जी ने किया ही है, साथ ही पाठको को इस ग्रथ मे उनकी नवीन खोज के भी दर्शन होगे। वेलि की कथा का स्रोत, उसके काव्यरूप की पृष्ठभूमि, उसका विशेष दृष्टिकोण, अन्य भापाओ

रुक्मी के सिर पर हाथ रखने से उसके केश पुन उग आने की कथा भी लेखक की ओर से नवीन योजना मात्र है। बीच बीच में नगर की शोभा तथा प्रातः काल अथवा सध्या आदि का वर्णन करके भी कवि ने वेलि में सरलता लाने का सफल प्रयत्न किया है और इस प्रकार वर्णन की मौलिकता भी प्रदर्शित कर दी ह। वेलिकार ने रुक्मी के द्वारा भोजकट नामक नगर बसा कर रहने की बात का कही उल्लेख भी नही किया है। वह सभवत- इसी कारण कि कवि काव्य को दुखान्त बनाना अथवा द्वेषपूर्ण पात्रो से युक्त करना नही चाहता था। यही कारण ह कि उसने विवाह के उपरान्त भी कथा को चलाये रखा है और गर्भ का वर्णन करके उसका सुखमय रूप में अन्त किया है। 'वेलि' के नामकरण के अनुसार भी काव्य की सफलता तभी मानी जा सकती थी जब अकुरित वेलि, प्रवर्द्धित और पल्लवित होती हुई पुष्पित तथा फलित भी हो उठे। कृष्ण तथा रुक्मिणी के बीच लगी यह प्रेम की बेल भी तभी सफल कही जा सकती थी जब वह प्रत्यक्ष रुप में सफल हो जाती और इसके लिये रुक्मिणी को माता बनाना अपेक्षित ही था।

इस प्रकार यह सदेह नही रहता कि लेखक ने भागवत का केवल वही तक सहारा लिया है जहाँ तक कथा में कोई बाधा उपस्थित न हो। जहाँ जहाँ उसे स्वतन्त्रता मिली है उसने अवसर का पूरा उपयोग किया है और अपनी मौलिकता के प्रदर्शन मे सफलता प्राप्त की है। काव्य-सौष्ठव के लिये वह अनेक प्रसगोपयुक्त वर्णन बीच बीच में रखता चला है और विशेषता यह है कि शास्त्रीयदृष्टि की अवज्ञा न करते हुए अपने वर्णनो से काव्य को सजीवता प्रदान कर सका है। यहाँ उसकी मौलिकता का सकेत भर किया गया है। आगे के प्रसगो मे उसका विवेचन और रसास्वादन भी कराने का प्रयत्न किया जायगा।

वेलि का काव्य-स्वरूप

रूप की दृष्टि से प्राचीन सस्कृत विद्वानो ने श्रव्य-काव्य को गद्य, पद्य तथा मिश्र नामक तीन प्रकार का बताया था, जिनमें से पद्य-काव्य के भी महाकाव्य, मुक्तक-काव्य, युग्मक, कलापक तथा कुलक एव खण्डकाव्य नामक भेद किये गये थे। वस्तुत महाकाव्य, मुक्तक-काव्य तथा खण्डकाव्य, ये तीन ही भेद करने चाहियें क्योंकि अन्य का समावेश मुक्तक में हो जाता है। इन तीन

प्रकार के काव्यो मे भी प्रधानता मिली महाकाव्य को। अतएव महाकाव्य के स्वरूप-सगठन का विचार भी शास्त्रो में विस्तार से किया गया। दण्डी तथा आचार्य विश्वनाथ ने अपने अपने ग्रथो मे महाकाव्य के स्वरूप का विशेप व्याख्यान किया है और अन्य स्वरूपो का निर्देश एकाध पक्ति में करके छोड दिया है।

खण्डकाव्य का विचार करते हुए साहित्य-दर्पणकार ने एक ही पक्ति से काम लिया है। उनका विचार है कि खण्डकाव्य महाकाव्य का एकदेशानुसारि अर्थात् एक अश-स्वरूप है। अव यदि खण्डकाव्य महाकाव्य का एक खण्ड ही ह तो भी, अथवा यदि कुछ न्यून भी है तो भी, महाकाव्य का स्वरूप जाने विना यह नही कहा जा सकता कि खण्डकाव्य क्या है, और विना यह जाने कि खण्डकाव्य तथा महाकाव्य की सीमाएँ क्या है किसी भी काव्य को किसी प्रकार-भेद के अन्तर्गत नही रखा जा सकता।

दण्डी के काव्यादर्श मे दिए गए महाकाव्य के स्वरूप के अनुसार महाकाव्य का सवसे पहला लक्षण है सर्गवद्ध होना। यह सर्ग अधिक लम्वे न हो। उसका दूसरा लक्षण है आशीर्वचन, देव-वन्दना अथवा वस्तु-निर्देश से उसका आरम्भ। उसका कथानक तीन प्रकार का हो सकता है, यथा, इतिहास सम्वन्धी, कथा रूप में श्रुत, अथवा सद्वृत्त वाला। इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो वर्गों की प्राप्ति का लक्ष्य होना चाहिये। नायक चतुर हो और साथ ही उदात्त भी। इसमें विभिन्न वर्णनो, जैसे, नगर ,समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, एव सूर्योदय आदि के द्वारा प्रकृति-चित्रण किया गया हो। उत्सवो का भी वर्णन किया जाय और उनके समावेश का रूप यह हो कि उद्यान-विहार, जल-विहार, मधुपान आदि का वर्णन किया जाय। मन्त्रणा, दूत-प्रयाण, युद्ध तथा नायक के अभ्युदय की चर्चा द्वारा जीवन के समग्र रूप का चित्रण किया जाय। यह महाकाव्य आकार तथा वर्णनो में सक्षिप्त न हो। इसमें अलकार के प्रयोग के साथ रस तथा भाव की निरन्तर स्थिति वनी रहे। उसमें किसी प्रकार का व्याघात न पहुँचने पावे। लोकरजन ही महाकाव्य का लक्ष्य है। सर्गो में भिन्न वृत्तान्तो का समावेश हो तथा उसे नाटकीय सधियो तथा श्रव्य गुण से युक्त होना चाहिये। तभी काव्य कल्पान्तरस्थायी होता है।

विश्वनाथ के वर्णन मे दण्डी से केवल इतना ही भेद है कि इन्होने सर्ग की निश्चित न्यूनतम सख्या ८, प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द, जो केवल अन्त मे वदलता है, नानाछन्दोपयुत सर्ग, सर्गान्त मे भावी सूचना, नायक के विशेष गुण, श्रृगार, वीर अथवा शान्त मे से एक ही अगी रस सज्जन प्रशसा तथा असज्जन-निन्दा, नामकरण कविनामानुसार अथवा कथानक, नायक या अन्य पात्र के नाम पर एव सर्ग का नाम भी वर्ण्य के अनुसार हो, इन नवीन वातो की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। दोनो लक्षणो पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि वस्तुत· काव्य की मूल वाते तो इतनी ही है कि उसका कथानक किसी ऐतिहासिक घटना से सम्वन्ध रखता हो, अथवा सज्जनो का चरित्र हो, वह रसयुक्त हो और अन्य रसो का वर्णन होते हुए भी उसमे एक रस अगी हो, शेप उसके सहायक हो। वह रस कथा में आरम्भ से अन्त तक बिंधा हो, व्याप्त हो। किसी भी महाकाव्य को ऐसा होने के लिये अपना नायक भी चतुर तथा उदात्त चरित्र वाला ही छाँटना चाहिये। उस काव्य का लक्ष्य चतुर्वर्ग होना चाहिये।

उक्त लक्षणो को ध्यान मे रखते हुए यदि विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि 'वेलि' मे महाकाव्य के अधिकाश गुण समन्वित है। रुक्मिणी-हरण तथा प्रद्युम्न-जन्म की कथा पुराण की भूमि पर उगी है। भागवत जैसे पुराण से गृहीत वस्तु महाकाव्य मे ग्राह्य कथा के समस्त लक्षणो को पूरा करती है। पुराण की भूमि में पली हुई इस कथा के विषय में यह भी सहज रूप में स्वीकार करना उचित होगा कि कथा का लक्ष्य चतुर्वर्ग की प्राप्ति भी है। स्वय कवि ने कथा के अन्त तक पहुँचते पहुँचते इस बात का उल्लेख कई दोहलो में किया है कि इस कथा से सव प्रकार के व्यक्तियो को सव प्रकार के फल प्राप्त हो सकते है। भक्तो के लिये यह ग्रथ भक्ति का पुरस्कार देता है —करि श्रवणे दिन रात कण्ठ करि। प्रामै श्री फल भगति अपार॥ यह ग्रथ पाठक के समस्त रोगो तथा आधिभौतिक, आध्यात्मिक एव आधिदैविक त्रयताप की अचूक दवा है, इसे कवि ने वडे ही स्पष्ट शब्दो मे कहा ह —

चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा, ससत्र उखध मत्र तत्र सुवि।
काया कजि उपचार करन्तौं, हुवै सु वेलि जपन्ति हुवि॥२८४॥ तथा

आधिभूतक आधिदेव अध्यातम, पिंड प्रभवति कफ वात पित।
त्रिविव ताप तसु रोग त्रिविधमैं, न भवति वेलि जपन्त नित ॥२८५॥

इसी प्रकार का माहात्म्य कई अन्य दोहलो में वर्णित है। उसका सग्रह करना यहाँ उद्देश्य नही। उन्ही स्थलो से उद्धरण सचित किये जा सकते है।

कथा का सारा भार कथानायक पर निर्भर रहता है, इसी कारण नायक को धीरोदात्तादि गुणो से विभूपित माना गया है। वेलिकार का नायक तो स्वय जगत्पिता और जगत्पति है, फिर उसमे गुणो की क्या कमी। उनके जगत्पति होने के प्रमाण 'वेलि' में अनेक स्थलो पर उपलब्ध है। रुक्मिणी स्वय उन्हें जन्मान्तर से अपना साथी और वार वार अवतार धारण करके रक्षा करने वाला मानती है। कवि ने आरभ में ही कहा है कि स्त्रीपति के गुणो का गान कौन कर सकता है।—'स्त्रीपति कुण सुमति तूझ जू गुण तवति।' ब्राह्मण भी उन्हे देखकर कृतार्थ हो गया है। धीरता और वीरता की उनमें कमी नही। वीरता-प्रदर्शन की चेष्टा के कारण ही तो 'वेलि' मे वीर रस का इतना प्रसार किया गया है। क्षमाकी कृष्ण मूर्ति है, रुक्मी को रुक्मिणी के कहने पर क्षमा कर दिया और कृपा ऐसी कि उसके केश भी फिर उग आए। ऐसे नायक तथा रुक्मिणी के समान अनन्य पतिभक्ता नायिका से युक्त यह काव्य अत्यन्त आकर्षक रूप मे सामने आया है। नगर, समुद्र, सध्या, प्रात., चन्द्रोदय, जल-क्रीडा, आदि का वर्णन भी काव्य में यथास्थान किया गया है। द्वारिका तथा कुन्दनपुर दोनों नगरो का वडा ही रमणीय वर्णन किया गया है। कुन्दनपुर उत्सव के कारण सजा हुआ वडा ही आकर्पक दीख रहा है —

ग्रिह ग्रिह प्रति भीति सुगारि हीगलू, ईट फिटकमै चुणी अचम्भ।
चन्दण पाट कपाट ई चन्दण, खुम्भी पनाँ प्रवाळी खम्भ ॥ ३९ ॥

मण्डप की शोभा देखिये —

जोइ जळद पटळ दळ साँवळ ऊजळ, घुरै नीसाण सोइ घणघोर।
प्रोळि प्रोळि तोरण परठीजै, मण्डै किरि तण्डव गिरि मोर ॥ ४० ॥

इसी प्रकार द्वारिका अपनी निसर्गसिद्ध पवित्रता और जाप, यज्ञ आदि के कारण एकदम तीर्थ ही वन गया है।—"तीरथि तीरथि जगम तीरथ, विमळ ब्राहमण जळ विमळ॥" द्वारिका-वर्णन के वहाने समुद्र-वर्णन भी दो पक्तियो में कर

दिया गया है। द्वारिका के जन-समूह तथा समुद्र के जल का कोलाहल एक सा ही है —"हेका कह हेका हीलोहल, सायर नयर सरीख सद।" इसी वर्णन में पनिहारियो से लेकर आम्र मौर और कोकिलालाप तक का वर्णन भी आ गया है। इसीसे यदि विप्र को द्वारिका को देखकर उसके अमरावती होने का सन्देह हो गया—"आयौ कि हूँ अमरावती"—तो आश्चर्य ही क्या है। इसी द्वारिकावर्णन मे ही प्रात काल का जनकार्य भी सामने आया है। चारो ओर वेदपाठादि का सुन्दर वर्णन कवि ने ४८ तथा ४९वें दोहलो म किया है। कृष्ण के रुक्मिणी सहित लौटकर जाने पर द्वारिका के उत्सव का वर्णन किया गया है। इस प्रकार नगरो का वर्णन ही नही हुआ है बल्कि उसके साथ साथ उत्सव अथवा प्रात, सध्या आदि का भी वर्णन होता चला है। सन्ध्या का वर्णन पहिले तो ब्राह्मण के कुन्दनपुर से निकलते ही कराया गया है, जो साथ ही साथ व्यक्तियो के भावो का भी सुन्दर प्रदर्शन करता है। दूसरी बार विवाह के पश्चात् पुन सन्ध्या का वर्णन किया गया है। वह अलकरण, वाच्य तथा लक्ष्य दोनो अर्थों से सुशोभित अत्यन्त व्यजक तथा प्रभावपूर्ण है। मिलनोत्सुक प्रमियो के हृदय के लिये उद्दीपन के रूप में काम करने वाला सध्या काल जैसा कृष्ण को प्रतीत हुआ उसका रोचक वर्णन १६२ से १६४ दोहले तक दर्शनीय है। प्रभात का भी आगे चलकर उतना ही रमणीय वर्णन किया गया है। ऋतुओ के वर्णन पर तो विस्तार से ध्यान दिया गया है। हम प्रकृति-वर्णन का यहाँ केवल सकेत किये दे रहे है, उसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र करेंगे। रसो की दृष्टि से भी यह ग्रथ अपूर्व है। शृगार को अगी रूप देकर उसके दोनों भेदो का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है, इसे हम अन्यत्र कहेंगे। वीरादि रसो का भी समावेश तथा उनका विस्तारौचित्य अन्यत्र वर्णित है। प्रद्युम्न-जन्म का वर्णन भी कुमारोदय की दृष्टि से किया गया है। मन्त्रणा का निर्वाह भी कवि ने कथा के आरभ में रुक्मी तथा माता-पिता के परस्पर विचार द्वारा कर लिया है। दूत का काम तो ब्राह्मण के अतिरिक्त रुक्मिणी ने सखियो से भी लिया है। युद्ध का वर्णन भी रूपको के सहारे बडे विस्तार से किया गया है। वीर रस की विशेष प्रतिष्ठा करते समय कवि के सम्मुख निश्चित रूप से कृष्ण के अभ्युदय का विचार रहा है। घोर

युद्ध करके असख्य शत्रुओ के विनाश के द्वारा नायक की प्रतिष्ठा की गई है। अलकार, भाव तथा रजन की कमी भी ग्रथ मे नही है। अलकारो के विविध तथा सुखद प्रयोग तो अत्यन्त प्रशसनीय है। शृगार, हृदय के आकर्षण करने मे पूर्ण समर्थ है। श्रव्यत्व गुण भी 'वेलि' में पूरा पूरा है। शृगार के अनुकूल वृत्तियो का निर्वाह डिंगल को भी मधुरता प्रदान कर रहा ह। इस प्रकार दण्डी द्वारा परिगणित महाकाव्य के लक्षणो में केवल सर्ग-विभाजन ही ऐसा है जो 'वेलि' में नही हुआ है। 'वेलि' की नायिका का वर्णन तो बाल्यावस्था से, जब से वह गुडियाँ खेलती है, लेकर पुत्रवती होने तक किया गया है और इस प्रकार उसके जीवन के अधिकाश अशो को काव्य में समेट लिया गया है। नियमानुकूल, आरभ में ग्रथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये तथा देवता की भक्ति में प्रार्थना भी की कई है, जिससे आशीर्नमस्क्रिया का काम भी पूरा हो जाता है। ग्रथ को 'सिंगार रस' का बताकर वस्तु निर्देश भी आरम्भ में ही कर दिया गया है। सज्जनो, दुर्जनो का वर्णन ग्रथ की समाप्ति के समय किया गया है। सुराज्य, कुराज्य का सकेत भी वसन्त-वर्णन के समय २४९ तथा २५१ दोहलो में किया गया है। कवि ने महाकाव्य के 'असक्षिप्तम्' लक्षण को भी निवाहने का पूरा प्रयत्न किया है। कथा में अनेक प्रसग लाये गये है और इस प्रकार उसे रोचक विशद एव विस्तृत बनाने की चेष्टा की गई है।

इस प्रकार साहित्यदर्पण के भी समस्त लक्षणो का अन्तर्भाव प्राय इस काव्य में हो गया है; किन्तु सा० द० के अनुसार भी यदि कोई त्रुटि रही है तो सर्गहीनता ही। सर्ग सम्बन्धी नियम का पालन कवि ने नही किया है। अतएव यह एक ही सर्ग का काव्य है। इसकी कथा का विस्तार भी केवल एक ही घटना तक है जिससे जीवन का समग्र रूप एकदम सामने नही आ पाता। जीवन की समग्रता का दर्शन न होने के कारण ही इसका दृष्टिकोण सकुचित हो गया है। शास्त्रो में जो सर्गविभाजन की बात कही गई है वह केवल इस विचार से कि जीवन अनेक घटनाओ का एक समूह ही है। अतएव जो काव्य सर्गरूप में निबद्ध होगा वह जीवन की विविधता को ही ध्यान में रखकर चलेगा। इसके अतिरिक्त सर्ग का विभाजन मात्र ही महाकाव्य का रूप नही

खडा कर सकेगा वल्कि जीवन की विविधता में भी एक प्रवाह और सहज विकास प्रदर्शित करने के लिए कथा-सघटन का भी ध्यान रखना होगा। तभी किसी काव्य को महाकाव्य कहा जा सकेगा। इस विचार से 'वेलि' मे जीवन की समग्रता की न्यूनता सिद्ध होती है। महाकाव्य की उपयुक्त विस्तृत कथा इस काव्य की पृष्ठभूमि नही है। इसके साथ ही शृगार के अगी रहते हुए वीर के अत्यधिक वर्णन से जो रस-विरोध दूषण उपस्थित हो गया है वह भी काव्य को महाकाव्य होने से रोकता है। खण्डकाव्य के लिये तो यह और भी वडा दोष है कि सक्षिप्त कथा में ही व्याघात खडा हो गया। रस-सौष्ठव को आघात पहुँच जाना ही वडी बात है। इस दृष्टि से 'वेलि' महाकाव्य की सीमा-रेखा को छूती हुई चलती है फिर भी रस-विरोध तथा जीवन की असम्पूर्णता के कारण वह उसके अन्दर पर रखने से वचित है।

डाक्टर रवीन्द्रनाथ की उक्ति है कि "वर्णनानुगुण से जो काव्य पाठको को उत्तेजित कर सकता है, करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित, कौतूहली और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर सकता है, वह महाकाव्य है और उसका रचयिता महाकवि। उनका यह भी कहना है कि महाकाव्य में एक महच्चरित्र होना चाहिये और उस महच्चरित्र का एक महत्कार्य होना चाहिये और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य और महदनुष्ठान होना चाहिये।"

यदि इस लक्षण को माना जाय तो 'वेलि' पहले लक्षण को तो पूरा करता है। अर्थात् उसमें उत्तेजित, करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित आदि करने की शक्ति तो है, किन्तु उनकी दूसरी शर्त कि उसमें किसी महदनुष्ठान को सम्पन्न होना चाहिये, इस काव्य में उतनी पूरी नही उतरती। निस्सन्देह कृष्ण महच्च-रित्र ही नही अवतार ही है, रुक्मिणी भी वैसी ही है और वह पीडित तथा आर्त भी है, अतएव उनकी रक्षा करना एक महत्कार्य है। किन्तु यह महत्कार्य होते हुए भी इस महदनुष्ठान की सीमा केवल कृष्ण तथा रुक्मिणी तक ही है, उससे प्रजा अथवा अन्यजनो का कोई हित साधन नही होता। दुष्टो को दण्ड देने तथा आर्त की रक्षा करने का उद्देश्य तो इससे सिद्ध होता है किन्तु उसका व्यापक विस्तार नही है। अतएव इस परिभाषा के अनुसार भी यह महाकाव्य

की सीमारेखा को स्पर्श अवश्य करता है, उसमें समाता नही। वस्तुतः वह एक सफल खण्डकाव्य है।

वेलि में शृंगार-रस

'वेलि' का अगी रस शृगार है। लेखक ने ग्रथ की भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है। उसका कहना है कि मै प्रस्तुत ग्रथ में स्त्री का वर्णन ही पहिले कर रहा हूँ, क्योकि परम्परा से ऐसा होता आया है कि शृंगाररस के ग्रथ की रचना करते समय पहिले नायिका का ही वर्णन किया जाता है।

सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा, सुकवि अनेक ते एक सन्थ।
त्रीवरणण पहिली कीजै तिणि, गूँथियै जेणि सिँगार ग्रथ॥

अतएव इस विषय में तो कोई विवाद हो ही नही सकता कि 'वेलि' में कौन रस प्रधान है। 'वेलि' को केवल हरण तक ही सीमित करके शृगार-रस के वर्णन से बचाया भी जा सकता था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने ग्रथ लिखते समय एक शास्त्रीय सिद्धान्त पर भी पूरा ध्यान रखा है और अवसर के अनुसार उसका सदुपयोग किया है। वह यह कि शृगार रस के देवता है विष्णु, और इस कथा के नायक विष्णु के अवतार ही है। अनायास ही ऐसा वरदान सदृश सुयोग कवि को मिल गया है कि उसे जगत्पिता कृष्ण का शृगार वर्णन करने में कोई बाधा नही दिखाई पडी, बल्कि उल्टे उसके लिये अधिकार-पत्र ही मिल गया। शृगार के देवता कथा के नायक ही नही कवि के भी देवता ही है। उन्हें उसने स्थान स्थान पर जगत्पिता आदि कहा है।

शृगार के आलम्बन है नायक तथा नायिका। दोनो महान गुणो से विभूषित होने चाहियें। नायक कृष्ण स्वय भगवान होने के कारण सर्वगुणोपेत है। अतएव उनके गुणो का बखान कवि क्या करे। गुणसागर नागर कृष्ण के गुणो के बखान की शक्ति कवि में नही और न आवश्यकता ही दीखती है। जो कुछ गुण है वह तो अन्यान्य ग्रथो मे लिखे हुए और सज्जनो के कण्ठ में बसे हुए है, जिन्हें रुक्मिणी तथा उनके पिता ने भी जान लिया था। रुक्मिणी-—ग्रथ की नायिका— भी साक्षात् लक्ष्मी का अवतार ही है फिर भी उनका वर्णन किया गया है। वह केवल मातृ-जाति के प्रति कृतज्ञ भाव के कारण।

वह माता जो पुत्र का पिता से भी अधिक हित चाहती है और उसे दस मास उदर में रखकर पीडा भोगती तथा दश वर्ष तक उसके लालन-पालन मे सेवा-रत रहती है, उसका वर्णन अवश्य करना था। पिता का प्रेम उसके प्रम के सामने उतना गहरा नही अतएव पिता का वर्णन एकवार न भी किया जाय तो अनुचित नही। यही कारण है कि रुक्मिणी-वर्णन पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है—

दस मास उदर धरि वळे वरस दस, जो इहाँ परिपालै जीवडी।
पूत हेत पेखताँ पिता प्रति, वळी विसेखै मात वडी॥

लक्ष्मीस्वरूपा होने के कारण रुक्मिणी कथा की नायिका होने के सर्वथा योग्य थी। साथ ही उनमें वे अन्य गुण भी उपलब्ध है, जो एक नायिका के लिये आवश्यक है।

नायिका का लक्षण देते हुए विद्वानो ने बताया है कि जिस रमणी के अवलोकन मात्र से चित्त में शृगार रस का सचार हो वही नायिका कहलाती है। साथ ही उसके आठ अगो का भी विचार प्रस्तुत करते हुए बताया गया है कि वह यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव तथा भूषणयुक्त होनी चाहिये। ऐसी नायिका ही अष्टागवती नायिका कही गई है। 'वेलि' की नायिका रुक्मिणी सर्वांग सम्पूर्ण, सर्वगुणोपेत नायिका है। यौवन के विचार से रुक्मिणी असीम सुन्दरी है, रूप-लावण्य की आगार है। वह बत्तीसो लक्षणो से युक्त है और अपने रूप-सौन्दर्य तथा शरीर-सुगन्धि के कारण पद्मिनी के समान अपने ही कुल-शील की सखियो के बीच सुशोभित होती है।—

१—लखण बत्रीस बाळ लीलामै, राजकुअरि, ढूळडी रमन्ति॥ १३॥
२—सग सखी सीळ कुळ वेस समाणी, पेखि कळी पदमिणी परि॥ १४॥

प्रथम दर्शन में ही शृगार रस का सचार करने की रुक्मिणी में अन्यतम शक्ति है —

आकरषण वसीकरण उनमादक, परठि द्रविण सोखण सर पच।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि ॥१०९॥

गुणो की रुक्मिणी में क्या कमी। वह सर्वविद्या-कला कुशल है।

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि, वेद च्यारि खट अग विचारि।
जाणि चतुरदस चौसठि जाणी, अनँत अनँत तसु मधि अधिकार॥ २८॥

स्त्री का एक वडा गुण है, उसकी लज्जा। लज्जा ही उसका शील है। प्रेम के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति अपनी लज्जा को कैसे वनाए रखे, और कैसे कवि उसके शृगार का वर्णन करते हुए भी उसे लज्जावती दिखा सके, यह एक वडी समस्या है। रीतिकाल मे जो शृगार और नायिका-भेद के नाम पर अश्लीलता का नगा नाच हुआ है, उसके आवार पर यह विश्वास होना कठिन है कि शील और लज्जा को रखते हुए भी शृगार का वर्णन मनोमुग्धकारी हो सकता है। किन्तु पृथ्वीराज की सफलता इस वात में है कि शृगार का मधुर-तम वर्णन करते हुए भी रुक्मिणी की मर्यादा और शील का तो पूरा निर्वाह किया ही गया है, प्रेम की अनन्यता भी प्रदर्शित कर दी गई है। रुक्मिणी अनन्य प्रेमवती है, यह तो कृष्ण को पत्र लिखने, उनकी उत्सुकता पूर्वक वाट जोहने, आदि से प्रतीत हो ही जाता है। किन्तु लेखक ने उनके उस पत्र को सावारण प्रेम-पत्र की कोटि से वचाने के लिये, कही भी उथला प्रेम प्रदर्शित न कराकर, उनके पूर्व-जन्मो के सम्वन्व और अवतारो की ओर ही ध्यान आकृष्ट कराया है। वह प्रेम एक आत्मा का परमात्मा के प्रति विह्वल विरह-निवेदन के समान शुचि है । रति-वर्णन के समय भी कवि ने रुक्मिणी को सदैव सलज्ज ही दिखाया है। माता-पिता के सम्मुख भी रुक्मिणी के शील की रक्षा की गई है। वह अपने अगो का उभार देखकर लज्जा-वश तथा अगो को छिपाने के विचार से माता-पिता के सामने जाने से भी ऐसी लज्जित होती है कि उसकी लज्जाशीलता के सामने लज्जा को भी लज्जा आ जाती है। इसके अतिरिक्त, कृष्ण को आया सुनकर वह अम्विकालय जाने की आज्ञा लेने स्वय माता के समीप नही जाती, वल्कि सखी को भेजती है —

१—आगळि पित मात रमन्ती अगणि, काम विराम छिपाडण काज ।
लाजवती अगि एह लाज विधि, लाज करन्ती आवै लाज ॥१८॥

२—सीखावि सखी राखी आखै सुजि, राणी पूछै रुषमणी ।
आज कहौ तो आप जाइ आवूं, अम्व जात्र अम्विका तणी ॥ ७९ ॥

कुल, वैभव तथा आभूषण का वर्णन करके व्यर्थ विस्तार देने की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नही होती क्योकि विदर्भराज की कन्या को कुलीनता, वैभव तथा आभू-षण में सन्देह का स्थान नही है।

मे लिखित रुक्मिणी-हरण-काव्यो से उसकी तुलना आदि कई विषय एकदम नवीन है। साथ ही वेलि का पाठ, उसकी टीका-टिप्पणियाँ तथा सारगर्भ भूमिका सबने मिलकर इस ग्रथ की उपयोगिता का उत्कर्ष-वर्धन किया है। प्रस्तुत रूप मे वेलि न केवल विद्यार्थियो के लिये प्रत्युत उन सभी सरस्वती-समाराधको के लिये अतीव उपादेय बन गई है जो डिगल साहित्य मे अभि-रुचि रखते है। मै प्रो० आनन्द प्रकाश जी दीक्षित को वेलि का ऐसा सुन्दर सस्करण निकालने के लिये बधाई देता हूँ।

डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम', एम ए., पी-एच. डी.
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
डी. ए वी. कालेज, कानपुर।

मकर सक्रान्ति २००६

नायिकाओ के अनेक भेदो में से रुक्मिणी स्वकीया मुग्धा नवोढा ज्ञातयौवना नायिका है। भले ही उनका हरण किया गया है, किन्तु जन्मान्तर से उनका और कृष्ण का साथ चला आया है, उन्होने कृष्ण को छोड़ अन्य किसी भी पुरुष का ध्यान स्वप्न में भी नही किया है। पण्डितो ने हरण काल को ही उनके पाणिग्रहण का काल वताया है, इन सव कारणो से स्पष्ट है कि रुक्मिणी स्वकीया नायिका है। शरीर में नवयौवन के सचार और लज्जाशीलता के कारण वे मुग्धा है। अपने यौवन का उन्हें ज्ञान है, अतएव वह ज्ञातयौवना है, अज्ञात यौवना नही। रति के समय उन्हें अत्यन्त भय और लज्जा है, अतएव वह नवोढा भी है। इस प्रकार शृगार रस के ग्रथ की नायिका होने के समस्त गुण उनमें विद्यमान है।

शृगार के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सखा, सखी, दूती, ऋतु, वन, उपवन, तडाग अथवा नदी-कूल, एकान्त-स्थल, पवन, चन्द्र, ज्योत्सना, चन्दन, भ्रमर, कोकिल, गायन आदि माने जाते है। वेलिकार ने यथासभव इनका उपयोग करने का प्रयत्न किया है। वलराम कृष्ण के सखा का काम देते है। रति के समय सखियो की सहायता और उनकी कहकहाहट भी भरपूर रूप मे सजोई गई है। दूत का कार्य दोनो ओर से व्राह्मण ने किया है, और रहा सहा काम पत्र ने वना दिया है। शेष उद्दीपन, ऋतु, प्रात, सन्ध्या आदि प्राकृतिक चित्र किसी न किसी रूप मे काव्य में लाये गये है। उन उद्दीपनो का वर्णन हम प्राकृतिक चित्रण के अन्तर्गत अन्यत्र करेंगे।

विभाव के वर्णन के अनन्तर 'वेलि' में प्रयुक्त शृगार का रूप भी देख लिया जाय। साथ ही उसके अन्तर्गत आने वाली विविध दशाओ तथा सचारी आदि की जो मनोरम योजना कवि ने की है उसका भी रसास्वादन कर लिया जाय।

शृगार के दो भेद है —सयोग तथा वियोग। दोनो का सापेक्ष सम्वन्ध है। वियोग की उत्कृष्टता दिखानी हो तो उसके पूर्व सयोग का उत्कट वर्णन अपेक्षित है। वियोग की तीव्रता का तभी अनुभव किया जा सकता है जव सयोग के सुख का अनुभव हो। जितना ही उत्कट सयोग रहा होगा उतना ही उत्कट वियोग भी अनुभव होगा। सुख के वाद आने वाला दुख अत्यन्त भयानक और कष्टकारक लगता है। इसी प्रकार सयोग सुख की उत्कृष्टता

दिखाने के लिये वियोग का वर्णन उसके पूर्व आवश्यक है। 'वेलि' सयोग-शृगार का ग्रथ है, अतएव उसकी उत्कृष्टता के लिये पहले वियोग-वर्णन ही उपयोगी था। यही कारण है कि लेखक ने वियोग का वर्णन पहले ही किया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि इसमें कवि को क्या श्रेय, वह तो कथा का रूप ही ऐसा था। इसका उत्तर यही है कि कथा के विपय में तो कोई सन्देह नही किन्तु वियोग की उत्कटता के चित्रण में तो कवि की ही चातुरी काम कर रही है। यह चातुरी जैसी है वह वियोग तथा सयोग के विवेचन से स्पप्ट हो सकेगी।

वियोग की पूर्वानुराग, मान तथा विप्रलम्भ दशाएँ बताई गई है जिनमें से 'वेलि' में केवल पूर्वानुराग का वर्णन किया गया है। अन्य प्रकार के वियोग का इस कथा मे कोई महत्व ही नही था क्योकि रुक्मिणी जी अत्यन्त लज्जालु है तथा विवाह के पश्चात् उनका वियोग कभी हुआ ही नही। विवाह के पश्चात् का उनका जीवन अत्यन्त सुखमय और सयोग का जीवन है। अस्तु,

पूर्वानुराग के विषय में विद्वानो का लक्षण है कि जब श्रवण अथवा दर्शन अथवा दोनो के कारण अनुराग बढ जाता है किन्तु अभीप्ट नायक अथवा नायिका की प्राप्ति नही होती, वही पुर्वानुराग वियोग है। पूर्वानुराग के दो कारण हो सकते है·—श्रवण तथा दर्शन। दर्शन के भी तीन भेद किये गये है। कभी प्रत्यक्ष दर्शन होता है, कभी स्वप्न में दर्शन होता है और कभी कभी चित्र-दर्शन से ही राग उत्पन्न हो जाता है। 'वेलि' में पूर्वानु-राग का वर्णन तो किया गया है किन्तु वह दमयन्ती के समान श्रवण मात्र से उत्पन्न है। रुक्मिणी ने अनेक ग्रथो का चिन्तन मनन करके कृप्ण को ही सब गुणो का अधिप्ठान पाया और उनकी ओर आकर्पित हो गई। कृष्ण भी दूसरो के मुख से रुक्मिणी के विपय में प्रशसा सुनकर ही मुग्ध हुए है। उनके हृदय में उत्पन्न उस प्रेम को ब्राह्मण ने पत्र देकर और भी प्रवर्द्धित कर दिया और उनके नेत्रो से बरबस अश्रु प्रवाहित होने लगे, रोमाच हो आया, कण्ठ गद्गद् हो गया। प्रत्यक्ष दर्शन तो दोनो को अम्बिकालय के समीप ही हो सका है, उससे पूर्व नही। यह पूर्वानुराग निरन्तर प्रवर्द्धित होता रहा अतएव शास्त्रानु-सार इसे 'मजिप्ठ राग' कहा जायगा। विद्वानो ने पूर्वानुराग के तीन रग माने

हैं—(१) नीली, (२) कुसुम्भ, और (३) मजिष्ठा। मजिष्ठा राग ही वह राग है जो चढकर फिर उतरता नही बल्कि बराबर बढ़ता ही जाता है। रुक्मिणी तथा कृष्ण का राग बढ़ता ही रहा है अतएव उसे मजिष्ठा राग ही माना जायगा।

वियोग की दश अवस्थाओ का वर्णन साहित्य ग्रथो में किया जाता रहा है। यह दश दशाएँ क्रमश इस प्रकार है —(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण, (४) गुणकथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जडता तथा (१०) मरण। 'वेलि' का पूर्वानुराग सयत है, उसका वियोग ही नही सयोग भी सीमित ही रखा गया है। अतएव लेखक से यह आशा करना कि वह साहित्य-शास्त्र का अक्षरश पालन करता व्यर्थ ही है। यो सभी दशाओ का चित्रण अनिवार्य भी नही है। तात्पर्य यह कि वेलि में पूर्वानुराग की कुछ ही दशाओ का चित्रण किया गया है। उसका कारण है रुक्मिणी के शील की रक्षा का प्रयत्न। वेलि की नायिका केवल उद्वेग की सीमा तक जा सकती थी। प्रलाप, उन्माद और मरण जैसी स्थिति का प्रदर्शन उसके शील का रक्षण न कर सकता। अतएव कवि ने रुक्मिणी की केवल पहली ४ दशाओ का ही चित्रण किया है। अभिलाषा का एक चित्र देखिये। 'रुक्मिणी के हृदय में कृष्ण का अनुराग उत्पन्न हो गया है। वह कृष्ण को प्राप्त करने का वरदान माँगने के लिए गौरी तथा शिव का पूजन करती है —

साँभळि अनुराग थयो मनि स्यामा, वर प्रापति वछती वर।
हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर, हर तिणि वन्दे गवरि हर॥ २९॥

उसकी यह अभिलापा अम्बिका-पूजन के समय भी वैसी ही बनी हुई है। अम्बिका-पूजन करके मानो रुक्मिणी ने मनोवाछित फल ही हस्तगत कर लिया है —

देवाळै पैसि अम्बिका दरसे, घणै भाव हित प्रीति घणी।
हाथे पूजि कियौ हाथालगि, मन वछित फळ रुषमणी॥१०८॥

इस अभिलाषा का कथन बहुत ही सयत भाव से हुआ है।

प्रिय को न आते देख, प्रतीक्षा करती हुई नायिका विकल, विह्वल और आतुर हो जाती है। मन की उस अधीरता के कारण प्रियदर्शनोत्सुक नायिका बेचारी प्रिय के न आने का कारण सोचती और किसी अनिष्ट की आशका करती हुई चिन्तित हो उठती है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। अभिलापा के

देखतु कछु कौतिग इहै देखौ नैकु निहारि।
कब की इकटक डटि रही, टटिया अँगुरिन फारि॥

विहारी की नायिका में व्याकुलता का असयत प्रदर्शन मात्र है, 'वेलि' के कृष्ण की-सी विह्वलता और उनका सा शील उसे छू तक नही गया है। विहारी की नायिका यदि इतनी आकुल थी कि टटिया को भी फाडकर देखने लगी, तो हमें आश्चर्य इसी वात का है कि वह मुंह निकाल कर चिल्लाने ही क्यो न लगी। सेज और द्वार के बीच चक्कर लगाने तथा चुपचाप किवाडो से कान लगाकर देखने में जो चुप-चाप वियोग की मर्मपीडा सहन करने और व्याकुल तथा आतुर हो जाने का भाव ध्वनित हो रहा है वह विहारी मे नही है। 'वेलि' का चित्र मर्म तक पहुँच करने वाला है।

क्षणिक वियोग के पश्चात् ही रुक्मिणी—लज्जा और सकोच की मूर्ति रुक्मिणी—सखियो से घिरी हुई वहाँ आती हुई दिखाई दी। कृष्ण ने देखा यौवन-मद झलकाती हुई गजगामिनी रुक्मिणी सखियो का सहारा लिये पग पग पर खडी होती हुई लज्जा और सकोच की लौह-शृखला से जकडी हुई चली आ रही है। उस समय कृष्ण की कितने दिनो की साध पूरी हो गई, इस वात पर ध्यान रखते हुए उनके उछाह, हर्ष आदि की कल्पना तो कीजिये। आनन्दित कृष्ण को रोमाच हो आया है, वह अपने वश मे नही रहे। दौडकर उन्होंने स्वय रुक्मिणी को अपनी गोद में उठाकर सेज पर वैठा दिया। इस विह्वलता के लिये क्या कहा जाय, इस आतुरता का कौन सा चित्र खीचा जाय। कैसे कहा जाय मन के उत्साह को, इसे पृथ्वीराज से पूछिये—

देहली घसति हरि जेहडी दीठी, आणँद को ऊपनौ अमाप।
तिण आपही करायौ आदर, ऊभा करि रोमाँ सूँ आप॥१६८॥
वहि मिळी घडी जाइ घणा वाछता, घण दीहाँ अन्तरै घरि।
अकमाळ आपे हरि आपणि, पवरावी त्री सेज परि॥१६९॥

यह है प्रेम की उत्कटता, जिसकी मधुरता में नायक अपने आपको पूर्णतया भूल गया है। प्रिया को प्रेमपुलकित होकर पान देने की वात तो और कवियो ने कही है—

सहित सनेह सकोच सुख स्वेद कम्प मुसुकानि।
प्रान पानि करि आपनें पान धरे मो पानि॥

किन्तु अपने आपको इतना भूल जाने की बात पृथ्वीराज की अपनी ही है अन्यतम है।

नायिका का रूप-माधुर्य कैसा होता है जिसको देखकर भी नेत्र तृप्त नही होते। उस नवनीत से लावण्य मे भी एक ऐसी लुनाई मिली रहती है कि देखकर भी प्यास बढती ही जाती है। वह तृषा कैसी है, इसका स्वाद प्रेमी ही जान पाता है। बिहारी ने इस विषय पर एक बहुत ही सुन्दर दोहा कहा है, जो रीतिकालीन साहित्य की निधि है, जिसकी बडी प्रशसा साहित्य-जगत में होती आ रही है। किन्तु वेलिकार भी बिहारी से पीछे नही है। उपमा के सहारे उन्होने तृप्ति में भी अतृप्ति का बडा रमणीय और चमत्कारपूर्ण चित्र खीचा है —

बिहारी का कथन है —

त्यो त्यो प्यासेई रहत, ज्यो ज्यो पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाइ॥

वेलिकार कहता है —

अति प्रेरित रूप आँखियाँ अत्रिपत, माहव जद्यपि त्रिपत मन।
वार वार तिम करै विलोकन, धण मुख जही रक धन॥

बिहारी के दोहे मे सलोनेपन का चमत्कार अवश्य है किन्तु सूम का धन को छाती से चिपटाए रहना, बारबार उसे देखना और रक्षा करना, उसी पर ध्यान केन्द्रित रखना आदि भावो के साम्य के आधार पर 'वेलि' में रुक्मिणी के प्रेम और सौन्दर्य के प्रति कृष्ण की तल्लीनता और अनन्यता का भी बहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है।

एक ही साथ कई भावो, सचारियो और अनुभावो का वर्णन करने मे 'वेलि' के कवि को पूरी सफलता मिली है। कृष्ण की आतुरता आदि के चित्र तो निस्सन्देह अपने आप में पूर्ण व्यजक है ही, रुक्मिणी की आतुरता आदि का चित्रण भी एक से एक अद्भुत् और रमणीय है। पूर्वानुराग की अवस्था में कृष्ण तक अपना सन्देश पहुँचा सकने में असमर्थ रुक्मिणी का भावचित्र हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।—

जाळी मगि चढि चढि पन्थी जोवै भुवणि सुतन मन तसु भिळित।
लिखि राखे कागळ नख लेखणि मसि काजळ आँसू मिळित॥

साथ ही साथ प्रिय की प्राप्ति का उपाय, तथा उसकी प्रतीक्षा की चिन्ता नायिका की समस्त अन्य चिन्ताओ को अन्तर्हित करके स्वय प्रधान हो जाती है, इसका अत्यन्त व्यजक चित्र पृथ्वीराज ने कई स्थलो पर चित्रित किया है। यथा, शिशुपाल को स-दल-वल आया देख और अगले ही दिन अपने विवाह की वात सोचकर कृष्ण को इसकी सूचना देने के पश्चात् रुक्मिणी कितनी चिन्तित है :—

रहिया हरि सही जाणियौ रुपमणि, कीध न इवडी ढील कई।
चिन्तातुर चित इम चिन्तवती, ॥ ७० ॥

प्रिय के वियोग में नायिका का मन वार वार उसके गुणो पर जा टिकता है। वह वार वार अपने और प्रियतम के मध्य हुए इस व्यवधान को जितना ही नष्ट करने का प्रयत्न करती है, उतना ही उसका ध्यान पति की ओर आकर्षित होने लगता है। पति के गुणो का स्मरण उसके वियोग को प्रदीप्त करने में अत्यधिक सहायक होता है। रुक्मिणी भी प्रिय का स्मरण करती है और धीरे धीरे उसके गुण-कथन पर उसका मन स्थिर हो जाता है। अपने पति के गुणो पर रीझ कर ही वह वडे विश्वास के साथ ब्राह्मण द्वारा सन्देश भेजती है। उसका यह पत्र पति के गुण-कीर्तन से भरा हुआ है। रुक्मिणी पत्र लिखने के पश्चात् पुन 'स्मृति' अवस्था में लौट जाती है। उपरि-लिखित उदाहरण से स्पष्ट है कि उसे कृष्ण की अविलम्ब रक्षा करने की प्रवृत्ति पर विश्वास है। इन स्थितियो के अतिरिक्त 'वेलि' के प्रसग में अन्य विरह-दशाओ का चित्रण नही हुआ है।

वियोग की इन दशाओ का चित्रण होते हुए भी 'वेलि' में सयोग शृगार की ही प्रधानता है। उसका यह वियोग वर्णन आगे आने वाले सयोग के लिये भूमिका मात्र है। शील के कारण भी विरह की अन्यान्य अन्तर्दशाओ का प्रदर्शन कवि के लिये सभव न था, साथ ही यदि विरह ही प्रधान होता तो उसकी उपस्थिति सयोग के पश्चात् होती और तव सयोग की भूमिका पर वियोग की तीव्रता का अनुभव कराना सभव हो पाता। सयोग की प्रधानता की अवस्था में उसकी विविध दशाओ के चित्रण में ही कवि का ध्यान अधिक लगा है। सयोग और उस से पूर्व नायिका के शृगार का वर्णन ही काव्य का मुख्य वर्ण्य है। इस सयोग की मधुरता के आस्वाद के लिये कवि ने सखियो

का सहारा लिया है, रति और रतिश्रान्ता का वर्णन किया है। क्रुप्रति की सुखदता दुखदता का चित्र अकित किया है, साथ ही अनेक सचारी तथा सात्विकादि का गुम्फन भी किया है। सयोग का सारा वर्णन अपनी अद्भुत माधुरी से भीना भीना सा है और फिर भी रुक्मिणी के शील की रक्षा पूर्ण मर्यादा के साथ हो सकी है। सयोग की मधुरता के प्रवर्द्धन के लिये कवि ने वडी चतुराई से कुछ प्रसगो की अवतारणा की है। अवतारणा स्वाभाविक और रजक है।

विवाह-सस्कार सम्पन्न हो जाने के अनन्तर तुरन्त ही रति-सस्कार की ओर कवि का ध्यान आकृष्ट हो गया है। इस रति-सस्कार की सहायिका है सखियाँ। चतुर सखियो ने पहिले ही से एकान्त मे सेज सजा दी है, सन्ध्या काल भी हो गया है, प्रकृति में किसी का सयोग और किसी का वियोग हो रहा है जिसके परिणामस्वरूप रुक्मिणी भी रति की इच्छा कर रही है — 'रति वछिति रुषमणि रमणि।' सखियाँ इस अवसर को कहाँ चूकने वाली है, उन्होंने सयोग को तीव्रता प्रदान करने के विचार से ही मानो रुक्मिणी को कृष्ण से अलग एक दूसरे कमरे में ले जाकर वैठा दिया है। दोनो को अलग वैठाकर कवि को सयोग से पूर्व कृष्ण की आतुरता, उत्सुकता और विवशता के प्रदर्शन का सुअवसर प्राप्त हो गया है। एसे अवसर पर प्रिय की मिलनोत्सुक अवस्था का चित्र जिस सुन्दरता के साथ कवि ने उपस्थित किया है वह रसिकता से ओतप्रोत है। सन्ध्या होने पर रुक्मिणी की प्रतीक्षा करते हुए कृष्ण सेज और द्वार के बीच आतुर भाव से घूम रहे है और तनिक सी भी आहट होने पर प्रिया का आगमन जानकर उत्सुक भाव से उनकी आहट लेने के लिये किवाडो से कान लगा देते है। न वाहर निकल कर देख ही सकते है और न अन्दर चुपचाप ही वैठे रहा जाता है, तनिक सी आहट पाकर ही चौंक उठते है —

"अटत सेज द्वार विच आहुटि, स्रुति दे हरि घरि समाश्रित।"

इस एक ही पक्ति में समस्त मर्म-व्यजक चित्रो की ओर कवि ने इगित करके जिस लाघव से काम लिया है वह रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि विहारी की निम्न पक्तियो में भी नही दिखाई पड़ता।—

देखतु कछु कौतिग इहै देखौ नैकु निहारि।
कब की इकटक डटि रही, टटिया अँगुरिन फारि।।

विहारी की नायिका में व्याकुलता का असयत प्रदर्शन मात्र है, 'वेलि' के कृष्ण की-सी विह्वलता और उनका सा शील उसे छू तक नही गया है। विहारी की नायिका यदि इतनी आकुल थी कि टटिया को भी फाडकर देखने लगी, तो हमें आश्चर्य इसी वात का है कि वह मुंह निकाल कर चिल्लाने ही क्यो न लगी। सेज और द्वार के वीच चक्कर लगाने तथा चुपचाप किवाडो से कान लगाकर देखने मे जो चुप-चाप वियोग की मर्मपीडा सहन करने और व्याकुल तथा आतुर हो जाने का भाव ध्वनित हो रहा है वह विहारी मे नही है। 'वेलि' का चित्र मर्म तक पहुँच करने वाला है।

क्षणिक वियोग के पश्चात् ही रुक्मिणी—लज्जा और सकोच की मूर्ति रुक्मिणी—सखियो से घिरी हुई वहाँ आती हुई दिखाई दी। कृष्ण ने देखा यौवन-मद झलकाती हुई गजगामिनी रुक्मिणी सखियो का सहारा लिये पग पग पर खडी होती हुई लज्जा और सकोच की लौह-शृखला से जकडी हुई चली आ रही है। उस समय कृष्ण की कितने दिनो की साध पूरी हो गई, इस वात पर ध्यान रखते हुए उनके उछाह, हर्ष आदि की कल्पना तो कीजिये। आनन्दित कृष्ण को रोमाच हो आया है, वह अपने वश मे नही रहे। दौडकर उन्होने स्वय रुक्मिणी को अपनी गोद मे उठाकर सेज पर वैठा दिया। इस विह्वलता के लिये क्या कहा जाय, इस आतुरता का कौन सा चित्र खीचा जाय। कैसे कहा जाय मन के उत्साह को, इसे पृथ्वीराज से पूछिये—

देहली घसति हरि जेहडी दीठी, आणँद को ऊपनौ अमाप।
तिण आपही करायौ आदर, ऊभा करि रोमाँ सूँ आप।।१६८।।
वहि मिळी घडी जाइ घणा वाछता, घण दीहाँ अन्तरै घरि।
अकमाळ आपे हरि आपणि, पधरावी त्री सेज परि।।१६९।।

यह है प्रेम की उत्कटता, जिसकी मधुरता में नायक अपने आपको पूर्णतया भूल गया है। प्रिया को प्रेमपुलकित होकर पान देने की वात तो और कवियो ने कही है—

सहित सनेह सकोच सुख स्वेद कम्प मुसुकानि।
प्रान पानि करि आपनें पान धरे मो पानि।।

किन्तु अपने आपको इतना भूल जाने की वात पृथ्वीराज की अपनी ही है अन्यतम है।

नायिका का रूप-माधुर्य कैसा होता है जिसको देखकर भी नेत्र तृप्त नही होते। उस नवनीत से लावण्य मे भी एक ऐसी लुनाई मिली रहती है कि देखकर भी प्यास वढती ही जाती है। वह तृषा कैसी है, इसका स्वाद प्रेमी ही जान पाता है। विहारी ने इस विषय पर एक वहुत ही सुन्दर दोहा कहा है, जो रीतिकालीन साहित्य की निधि है, जिसकी वडी प्रशसा साहित्य-जगत मे होती आ रही है। किन्तु वेलिकार भी विहारी से पीछे नही है। उपमा के सहारे उन्होने तृप्ति में भी अतृप्ति का वडा रमणीय और चमत्कारपूर्ण चित्र खीचा है —

विहारी का कथन है —

त्यो त्यो प्यासेई रहत, ज्यो ज्यो पियत अघाय।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख तृषा वुझाइ॥

वेलिकार कहता है —

अति प्रेरित रूप आँखियाँ अत्रिपत, माहव जद्यपि त्रिपत मन।
वार वार तिम करै विलोकन, धण मुख जही रक धन॥

विहारी के दोहे मे सलोनेपन का चमत्कार अवश्य है किन्तु सूम का धन को छाती से चिपटाए रहना, वारवार उसे देखना और रक्षा करना, उसी पर ध्यान केन्द्रित रखना आदि भावो के साम्य के आधार पर 'वेलि' में रुक्मिणी के प्रेम और सौन्दर्य के प्रति कृष्ण की तल्लीनता और अनन्यता का भी वहुत सुन्दर निर्वाह हुआ है।

एक ही साथ कई भावो, सचारियो और अनुभावो का वर्णन करने मे 'वेलि' के कवि को पूरी सफलता मिली है। कृष्ण की आतुरता आदि के चित्र तो निस्सन्देह अपने आप में पूर्ण व्यजक है ही, रुक्मिणी की आतुरता आदि का चित्रण भी एक से एक अद्‌भुत् और रमणीय है। पूर्वानुराग की अवस्था मे कृष्ण तक अपना सन्देश पहुँचा सकने में असमर्थ रुक्मिणी का भावचित्र हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।—

जाळी मगि चढ़ि चढि पन्थी जोवै भुवणि सुतन मन तसु भिळित।
लिखि राखे कागळ नख लेखणि मसि काजळ आँसू मिळित॥

पद में, काव्यचतुर कवि ने, एक ही साथ अनुभावो को रखकर नायिका की उत्सुकता व्याकुलता-जनित आतुरता, विरह-जन्य दीनता तथा निरवलम्वता का अकन किया है।

प्रियतम का सन्देश लेकर लौटने वाले ब्राह्मण को देखकर नवोढा नायिका की उत्सुकता, शका, चिन्ता, लज्जा, हृदय की कोमलता, चित्त की अस्थिरता आदि का निम्न चित्रण एक वोलता हुआ सजीव चित्र है —

चळपत्र पत्र थियो द्रुज देखे चित, सकै न रहति न पूछि सकन्ति।
औ आवै जिम जिम आसन्नौ तिम तिम मुख धारणा तकन्ति॥

पूछने की इच्छा होने पर भी शका, लज्जा तथा विवशता के कारण पूछने की असमर्थता तथा सकोच और ब्राह्मण के समीप, समीपतम आने पर एकटक हो उसके मुख को देखकर उसके हृद्गत भाव जानने की व्याकुलता का यह स्वाभाविक, अनुभूतिरजित तथा अनुपमेय चित्र है।

वीच में आए इस वर्णन को छोडकर पुन. एक वार सखियो के वीच चलिये। रति के प्रसग में उद्दीपन की दृष्टि से सखियो से अधिक कौन सहायक होगा जो लज्जालु नायिका की अभिन्न होती है और उसके अन्तर की एक एक वात, एक एक कामना जानती है; कवि ने इसे खूव समझा है। उनका सामीप्य, उनकी हँसी और हास-परिहास ऐसे समय कितने उत्तेजक होते है, इसका कवि ने सुन्दर चित्रण किया है। अपनी हँसी से नायिका तथा नायक में मिलनोत्सुकता वढा देने के पश्चात् यह सखियाँ चुपचाप उस स्थल से कैसे खिसक जाती है, नायक के मनोभाव को किस प्रकार चतुराई से जान लेती है- इसका रमणीय वर्णन पृथ्वीराज ने वडी सफलतापूर्वक किया है। वर और वधू के नेत्रो और उनकी मुखमुद्रा से उनके आन्तरिक भावो को जानकर भौहों से हँसती हुई सखियाँ एक एक करके महल के वाहर चली गईं।—

वर नारि नेत्र निज वदन विलासा, जाणियौ अँतहकरण जई।
हसि हसि भ्रूहे हेक हेक हुइ, गृह वाहरि सहचरी गई॥१७२॥

एक साथ उठती तो रुक्मिणी पकडकर वैठ जाती, स्वय भी चलने की इच्छा प्रकट करती अतएव चतुरा सखियाँ एक एक करके चुपचाप खिसक गईं और कृष्ण को रति-विलास के लिये रुक्मिणी के साथ छोड़ दिया। लज्जा भी वनी

आत्म-कथन

पृथ्वीराज के समसामयिक चारण कवियो के लिये वेलि पाँचवाँ वेद है, अमृत-वेलि है। वेलि के सम्पादक टैसीटरी के शब्दो मे पृथ्वीराज अपनी ओजस्विनी कविता के लिये डिंगल के कवि होरेस (Horace) है। टॉड जैसे इतिहासकार को उनकी कविता मे दस सहस्र घोडो का बल स्वीकार करने में गर्व का अनुभव होता है। श्रीयुत सूर्यकरण पारीक उन्हे हिन्दी का भवभूति मानते है और श्रीयुत मोतीलाल मेनारिया को उनकी उपमाएँ होमर (Homer) की उपमाओ के समान लगती हैं, तथापि हिन्दी के पुराने इतिहासकार मिश्रबन्धुओ के लिये वे साधारण कोटि के कवि है, शिवसिंहसरोज के लेखक के लिये वे केवल सस्कृत के विद्वान् है। इस प्रकार की विरोधी आलोचनाओ में निहित सत्यासत्य की जिज्ञासा ने विद्यार्थी-काल के पश्चात् भी मुझे वेलि के अध्ययन, मनन और चिन्तन में प्रवृत्त रखा है। इस चेष्टा से अध्ययन करते करते वेलि काव्य की चुम्बक-शक्ति ने मुझे अधिकाधिक आकर्षित किया है। सहज ही मेरी प्रवृत्ति अन्य भाषाओ के रुक्मिणी-सम्बन्धी ग्रथो के अध्ययन की ओर भी हुई और मैंने पाया कि वेलि हिन्दी की ही नही भारत की गिनी चुनी अमूल्य काव्य-रचनाओ में से एक है। इस विश्वास की वृद्धि के साथ साथ मेरा यह खेद भी बढता गया कि ऐसे ग्रथ तथा ग्रथकार के विषय मे हिन्दी के पाठक और आलोचक अभी बहुत कुछ अन्धकार में है और जो कुछ जान पाये है वह अत्यन्त अल्प है। डा० टैसीटरी तथा श्री रामसिंह जी एव सूर्यकरण जी पारीक के द्वारा सम्पादित वेलि के सस्करणो में उसके सम्बन्ध मे ज्ञातव्य बहुत सी अच्छी सामग्री प्रस्तुत होने पर भी मुझे उनमे तुलनात्मक दृष्टि की न्यूनता, वेलि के काव्य-सौष्ठव पर विस्तृत विचार की कमी तथा सर्व-सामान्य के लिये उन सस्करणो की अनुपलब्धि खटकी। अतएव मैंने वेलि के अन्यान्य अगो पर विस्तृत विचार प्रस्तुत करते हुए मूल पाठ के साथ सरलार्थ तथा टिप्पणी आदि से सुसज्जित सस्करण प्रस्तुत करने का विचार किया। इधर

रही और इच्छा भी पूरी हो गई। इसका सुख अनुभवी भुक्त-भोगी ही जानता है। पृथ्वीराज मानो रस मे डूब कर लिख रहे है। सखियो की भौंहो की हँसी कितनी अर्थभरी और व्यजक है, जिसने इसका अनुभव किया है वह इन पक्तियो पर मुग्ध हुए विना न रहेगा। विहारी ने भी इस प्रसग की महत्ता समझी थी, अनुभव का सुख उठाया था। उन्होने लिखा —

(१) झुकि झुकि झपकौंहैं पलनु फिरि फिरि जुरि जमुहाइ।
बीदि प्रियागम नीद मिसि दी सब अली उठाइ॥

तथा (२) पति रति की बतियाँ कही, सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली, अली चली सुख पाय॥

परन्तु दोनों के वर्णन में वहुत अन्तर है। विलास-प्रिय जयसिह के राजकवि तथा स्वय विलास-प्रिय कवि विहारी की नायिका तथा नायक इतने सलज्ज नही है जितने पृथ्वीराज के। इसी कारण सखियो को उठाने में चातुरी है नायक-नायिका की और यह चित्र इसी लिये किसी नवोढा मुग्धा वधू का नही प्रौढ़ा का हो सकता है या मध्या का। वस्तुत. सखियों की चातुरी ही पृथ्वीराज का लक्ष्य है, विहारी का लक्ष्य नायिका और नायक है। पृथ्वीराज रुक्मिणी के शृगार का वर्णन सयत भाव से कर रहे है अत उनकी ओर से वे कोई भी सकेत नही कराना चाहते। इससे उनके शील की पूरी रक्षा हो जाती है और फिर भी सखियो की चतुराई से प्रसग की माधुरी वैसी ही आस्वादनीय, रसयुक्त बनी रहती है। इसीमें कवि का सघटन चातुर्य है, सखियो की क्रियाविदग्धता भी इसीमें है।

सखियाँ न केवल नायक-नायिका की रति में सहायक ही होती है अपितु उनके भोग को जानकर उपहास करती हुई कहकहा मारती है, वह कितना जीवनप्रद तथा मधुर होता है। उससे नायक-नायिका के मन को ठेस नही पहुँचती बल्कि एक अनिर्वचनीय रस मन ही मन घुलने लगता है, इसका अनुभव भी कवि को था। अतएव उसने रति के उपरान्त सखियो के कहकहे का भी वर्णन किया है। उनकी कहकहे आनन्द, उछाह और कामना-पूर्ति-जन्य तृप्ति के सूचक है। चौक चौक और चित्रशालाएँ उनकी खिलखिलाहट से भर गयी हैं —

सुख लाधै केलि स्याम स्यामा सँगि, सखिये मन रखिए सँघट।
चौकि चौकि ऊपरि चित्रसाळी, हुइ रहियौ कहकहाहट ॥१७९॥

इन प्रसगो के अतिरिक्त कवि ने शृगार को पूर्णता प्रदान करने के लिये रति-श्रान्ता रुक्मिणी का भी वर्णन किया है। लाज और शील की छुई मुई रुक्मिणी जी की रति का वर्णन कवि का लक्ष्य नही है। इस प्रकार उसने रति-लाभ का वर्णन न कर एक तो शील की रक्षा कर ली और कालिदास के समान नग्न विलास का चित्रण करने से रुक गया, दूसरी ओर अपनी विनम्रता की रक्षा करते हुए अन्य लेखको को पथ-प्रदर्शन भी करा दिया। रुक्मिणी के रति-केलि के वर्णन न करने का कारण कवि के शब्दो मे इस प्रकार है —

एकन्त उचित क्रीडा चौ आरभ, दीठी सु न किहि देव दुजि।
अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै, सुख ते जाणणहार सुजि ॥१७३॥

निश्चय ही एकान्त, व्यक्तिगत और नितान्त गोप्य सुख का वर्णन करना कवि के लिये अनुचित ही है। किसी की रति-क्रीड़ा देखना अनौचित्य की सीमा मे प्रवेश करना ही है। यह क्रीडा अनुचित है यह नही कहा जा सकता किन्तु इसे दूसरे न देखे और न सुनें इसी में शील की रक्षा है। फिर माता-पिता की रति का वर्णन कहना-सुनना और भी अनुचित है। उस सुख को भुक्त-भोगी ही जानता है, अतएव वर्णन भी असभव है। इस रति का विहारी की तरह खुले बाजार यह कहना कि —

राधा हरि हरि राधिका बनि आए सकेत।
दम्पति रति विपरीत सुखु सहज सुरत हूँ लेत ॥

धृष्टता है, निंद्य है। किन्तु रति के उपरान्त रुक्मिणी की दशा का चित्रण करना अनुचित नही। वह शृगार का नग्न चित्रण नहीं है, रति का सकेत भरा व्यजक रसास्वाद है। इसी कारण वेलिकार ने रति-श्रान्ता के कतिपय रम्य चित्रो का उद्घाटन किया है; अनुभावो, सचारियो की सुखद व्यवस्था की है। वर्णन को आभरणयुत बना दिया है। रत्यन्त में प्रकट हुए स्वेदकणो का वर्णन देखिये —

कीवै मधि माणिक हीरा कुन्दण, मिळिया कारीगर मयण।
स्यामा तणै लिलाट सोहिया कुकुम विन्दु प्रसेद कण ॥१७५॥

"स्यामा के ललाट पर स्वेदकण कुकुम की भाँति सुशोभित हो रहे है। मानो कामदेव रूपी कारीगर ने सुवर्ण में हीरे जडकर माणिक्य मिला दिया हो।" रति-श्रम से भी नायिका का सौन्दर्य ही छलक कर बाहर आ गया। इसी स्वेदकण की बात विद्यापति ने दूसरे ढग में कही है कि मानो कामदेव मुख-रूपी इन्दु की मोतियो से पूजा कर रहा है—

वदन सोहाओन स्रमजल विन्दु, मदन मोति लए पूजल इन्दु।

अलकृत सात्विको तथा सचारियो के सौन्दर्य से किसी को विराग हो तो अपनी सहज स्वाभाविकता में खिले हुए सात्विको की नैसर्गिक सुषमा का आस्वाद भी 'वेलि' में लिया जा सकता है। एक ही साथ कई सात्विक कैसे मित्र भाव से कवि की सरल भाषा में बैठ गए हैं यह प्रशसनीय है —

श्री वदन पीतता, चित व्याकुलता, हियै ध्रगध्रगी खेद हुइ।
धरि चख लाज पगे नेउर धुनि, करे निवारण कण्ठ कुइ॥१७६॥

पीतता से वैवर्ण्य के सकेत के साथ, धगधगी से वेपथु का सकेत प्रस्तुत करते हुए कुशल कवि ने व्याकुलता, खेद और लज्जा आदि का निसर्ग-रमणीय चित्र ही अकित किया है। आगे के पदो में कवि ने रुक्मिणी की श्रमित दशा का भी वर्णन किया है। उनके केश के खुल जाने, मुक्तावलियो के टूट जाने, करधनी के ढीली हो जाने और चलने में भी अशक्त हो जाने का वर्णन करके सहृदय को रस-विभोरता तक पहुँचा दिया है। भावुक के लिये इस प्रकार के सकेत ही पर्याप्त है, शृगार का मधुवर्षण करने में पूर्ण शक्त है। ऐसे चित्रो से नग्नता भी बची रही और रस में भीजने का भी पूरा आनन्द आ गया है। 'वेलि' के यह चित्र हिन्दी-शृगार-साहित्य की अमूल्य निधि है।

शृगार की पूर्णता के लिये वेलिकार ने जहाँ तक हो सका है, कोई भी उचित वर्णन हाथ से नही जाने दिया है। रति के अन्त में भी कृष्ण किस प्रकार अतृप्त रह गये है और प्रात का आगमन, प्रिया के विदा होने की चिन्ता के कारण, कितना दुखद लगता है, इसका अकन भी पृथ्वीराज ने उसी कुशलता और उत्साह के साथ किया है।—

लिखमीवर हरख निगरभर लागी, आयु रयणि त्रूटन्ति इम।
क्रीडाप्रिय पोकार किरीटी, जीवितप्रिय घडियाल जिम॥१८१॥

निस्सन्देह नवीना के साथ एक ही रात्रि का सुख उठाने के पश्चात् यदि वियुक्त होना पडे, भले ही दिन भर के लिये, तो सहज ही पीडा से हृदय व्याकुल हो उठता है। उस पीडा की तीव्रता कैसी है, यह भावुक हृदय ही वर्णन कर सकता है।

शृगार के रमणीय प्रसगो की उद्भावना करने में कवि अत्यन्त कुशल है, साथ ही शृगार रस को उद्दीप्त करने के लिये भी उसके पास प्रभूत सामग्री है। शैशव से यौवन की ओर वढती हुई नायिका का वर्णन आरभ से ही पाठक का मन उसके रूप-सौन्दर्य पर स्थिर कर देता है। ज्ञातयौवना और यौवन-जनित लज्जा तथा सकोच और शील के चित्र तो पहिले ही उद्धृत किये जा चुके है। कवि ने उद्दीपन की दृष्टि से श्यामा के शृगार और नखशिख का वर्णन करने का दो-दो वार अवसर खोज निकाला है। एक तो यौवनागम पर प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रस्फुटन के चित्र वांधे गये है और दूसरे कृष्ण को आया सुनकर मिलनोत्सुक रुक्मिणी का शृगार-सज्जा का वर्णन उपस्थित किया गया है। इसी स्थल पर कवि ने रुक्मिणी के स्नान का वर्णन करके सद्य-स्नाता के वर्णन का भी अवसर निकाल लिया है। नखशिख के वर्णन में कवि की सूझ-वूझ, मौलिक उपमा तथा उत्प्रेक्षाओ के प्रयोग का कौशल दर्शनीय है। इन सव वर्णनो के लिये क्रमशः १२, १३, १५, १७, १८, २०, २४ २५, २६, २७, २९, ८०, ८१, ८२ आदि दोहलो का अध्ययन करना चाहिये। यहाँ प्रत्येक का सौन्दर्य प्रकट करना व्यर्थ का विस्तार करना ही होगा।

नखशिख-निरूपण

शृगार-रस के पोषण के लिये नायिका का नखशिख वर्णन उद्दीपन का काम करता है। रीतिकालीन कवियो ने नायिका के नखशिख-निरूपण में वडी वडी दूर की उडानें भरी है। उनका ऊहात्मक वर्णन, उनकी अतिशयोक्तियाँ एकदम विचित्र है। दूसरी ओर ऐसे भी कवि देखे जाते है जिन्होंने नायिका के सौन्दर्य के लिये केवल परम्परागत उपमानो का नाम गिनाकर छोड दिया है। वेलिकार ने इस विषय में अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का भी दर्शन कराने की चेष्टा की है और नायिका के सौन्दर्य के लिये उसके परिधान, आभूषणादि का भी विशद वर्णन किया है। वेलिकार ने पाठक का

मन आकर्षित करने के लिये रुक्मिणी के बाल्यकाल से लेकर उसके वय.सन्धि, यौवन, वासकसज्जा, सद्यस्नाता, रतिश्रान्ता आदि के रम्य चित्र उपस्थित करने के अतिरिक्त उसके प्रत्येक अवयव के विकास और आभूषण तथा वस्त्रो के बीच उसकी शोभा का भी सुन्दर चित्रण किया है।

वय सन्धि का चित्रण करने में कवि को भावाभिव्यजन तथा शील रक्षण मे विद्यापति आदि से कही अधिक सफलता मिली है। विद्यापति ने जहाँ मासल सौन्दर्यानुभूति पर अधिक जोर दिया है वहाँ वेलिकार ने सकेत से काम लिया ह। विद्यापति कहते हैं —

शैशव यौवन दरसन भेल, दुहु दल बले दन्द परि गेल।
कबहुँ बाँधए कच कबहुँ बिथारि, कबहुँ झाँपए अग कबहुँ उघारि ॥
अति थिर नयन अथिर किछु भेल, उरज उदय थल लालिम देल।
चरण चचल चित चचल भान, जागल मनसिज मुदित नयान ॥

अथवा '— मुकुर लेई अब करति सिंगार, सखि पूछइ कैसे सुरत विहार।
निरजने उरज हेरइ कत बेरि, हसइत अपन पयोधर हेरि ॥

किन्तु पृथ्वीराज अपनी नायिका को इस प्रदर्शन तक नही घसीटते। वे उषा और रात्रि का सहारा लेकर सकेत से रुक्मिणी के बढते हुए यौवन की सूचना दे देते हैं —

पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ प्राची, अरुण कि अरुणोद अम्बर।
पेखे किरि जागिया पयोहर, सझा वन्दण रिखेसर ॥

यौवनागम की सूचना भी है और अलकार के साथ साथ सात्विकता भी। उनकी नायिका मुकुर लेकर कुचो का उभार देखती हुई कभी नही दिखाई दी, इसके विपरीत वह 'काम-विराम छिपाडण काज' व्यस्त रहती दीखती है। वह शील की मूर्ति है। उसमें 'ब्रह्म' कवि की नायिका सी निर्लज्जता नही है कि कवि कह उठे —

खेलत सग कुमारन के, सुकुमारि कछू सकुची जिय माँही।
काम कला प्रगटी अग अग, विलोकि हँसी अपनी परछाँही ॥
'ब्रह्म' भनै न रहै उर अचल, तू छिन ही छिन ढाँपत काही।
डारति हो सिव के सिर अम्बर, ए तौ दिगम्बर राखत नाँही ॥

और न मतिराम की-सी नायिका ही वह है कि —

इत उतै सकुचत चितै, चलत डुलावति वाँह।
दीठि वचाय सखीन की, छिनक निहारति छाँह॥

किन्तु; यह भी नही कहा जा सकता कि कवि की दृष्टि से रुक्मिणी के कुचो की शोभा छिपी रही ह। कवि अपनी सरसता के वशीभूत होकर कह ही उठा —

कामिणि कुच कठिन कपोळ करी किरि, वेस नवी विधि वाणि वखाणि।
अति स्यामता विराजति ऊपरि, जोवण दाण दिखाळिया जाणि॥

कवि की दृष्टि से नायिका का कोई भी अग नही वच पाया है, जिसका उसने वर्णन न किया हो। यहाँ हम उन स्थलो को ही उद्धृत करेंगे जिनकी तुलना द्वारा समानता प्रदर्शित की जा सके अथवा कवि की मौलिक सूझ का दर्शन हो सके। इस दृष्टि से वेलि के वर्णन में जायसी से मिलती-जुलती कई कल्पनायें मिलती हैं। रुक्मिणी का सखियो के साथ रहने पर सौन्दर्य ऐसा छलक पडता है जैसे —"उडीयण वीरज अम्वहरि" ही हो। जायसी की पद्मावती भी सखियो के वीच उसी प्रकार सुशोभित है —"धनि सो नीर ससि तरई ऊईं।" रुक्मिणी के नितम्वो की वनावट और उनका सौन्दर्य जायसी की पद्मा-वती के नितम्वो जैसा ही है। वेलिकार ने कहा है —"नितम्विणी जघ सु करभ निरूपम, रम्भ खम्भ विपरीत रुख।" और जायसी की चौपाई है —

वरनो नितम्व लक कै सोभा। औ गज गवन देखि सव लोभा॥
जुरे जघ सोभा अति पाये। केरा खाँभ फेरि जनु लाये॥

दोनो में कोई अन्तर नही, दोनो ने कदली खम्भ की विपरीत स्थिति का स्पष्ट वर्णन किया है। रुक्मिणी की माँग का वर्णन भी जायसी के वर्णन से समानता रखता है। वेलिकार का कथन है कि —"उतमग किरि आधोअधि, माँग समारि कुआर मग।" और जायसी की पक्ति है —"विनु सेंदुर अस जानहु दिया। उजियर पथ रैन मह किया॥" एक ने 'कुआर मग' कहा है दूसरे ने 'उजियर पथ।' वात एक ही है।

इसी प्रकार एकाध स्थल पर विद्यापति तथा परवर्ती विहारी से मिलती-जुलती वात भी आपको मिल जायगी। भौहो के विपय में विद्यापति तथा वेलि-कार दोनो की एक ही कल्पना है। पहला कहता है —'तापर भवर पिवए

रस सजनिए, बइसल पख पसार।' और दूसरा भी उसी के समान कल्पना करता है —'पाँपणि पख सँवारि नवी परि, भ्रूहारे भ्रमिया भ्रमर।' इसी प्रकार 'दीपशिखा- सी देह' का भाव विहारी से साम्य रखता हुआ मिल जायगा। किन्तु ऐसे स्थल गिने चुने है।

इतना होने पर भी रुक्मिणी का नखशिख-वर्णन अपने में बहुत कुछ मौलिक है और कवि की सौन्दर्य प्रियता, सूक्ष्म तुलनात्मक वुद्धि तथा रमणीय कल्पना के साथ साथ कभी कभी उसकी दूर की सूझ का भी पता देता है। इस प्रसग के अन्तर्गत कवि की मौलिक कल्पना के लिये 'वेलि' के क्रमश २३, २७, ८२, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९६, ९८ आदि दोहलो को देखना चाहिये। तिलक का वर्णन कवि ने कितनी सुन्दरता से किया है इसका पता उसके निम्न छन्द —

> कमनीय करे कूँ कूँ चौ निज करि, कलँक धूम काढे वे काट।
> सम्प्रति कियौ आप मुख स्यामा, नेत्र तिलक हर तिलक निलाट ॥ ८७ ॥

की जायसी की —"तेहि लिलाट पर तिलक वईठा, दुइज पाट जानहु धुव दीठा॥" पक्ति से तुलना करने पर लग जाता है। एक में समग्र चित्र की रमणीयता है, दूसरे में साम्य का हलका सा पुट। इसी प्रकार एक और बिल्कुल नवीन और अनूठी कल्पना इसी तिलक को लेकर देखिये। कवि कहता है —

> मुख सिख सधि तिलक रतनमै मण्डित, गयौ जु हूँतौ पूठि गळि।
> आयै क्रिसन माँग मग आयौ, भाग कि जाणे भाळियळि ॥ ८८ ॥

सचमुच नारी के लिये पति का आ जाना कितने सौभाग्य का सूचक होता है। इस कल्पना से यह पद अत्यन्त सजीव हो गया है। और भी अधिक नवीन तथा अलकारसज्जित वर्णन देखना हो तो दोहला ८ देखिये। साथ ही कचुकी का वर्णन भी पढ लीजिये —

> इम कुँभ अन्धारी कुच सु कन्चुकी, कवच सम्भु काम क कळह।
> मनु हरि आगमि मण्डे मण्डप, वन्धण दीध कि वारगह ॥ ९० ॥

साराश यह कि वेलिकार ने रुक्मिणी के नखशिख-वर्णन में नवीन कल्पनाओ, उपमा, उत्प्रेक्षाओ तथा रूपको और रूपकातिशयोक्ति आदि के सहारे रुक्मिणी को अत्यन्त आकर्षक रूप देने में सफलता प्राप्त की है। कवि ने उसकी

साजसज्जा तथा वस्त्राभूपण का सहारा लेकर उसकी तन-दीप्ति को और भी दीपित करने मे सफलता प्राप्त की है। सहज-सौन्दर्य से उनकी रुक्मिणी की देह दीप-पक्ति की कान्ति के समान झलमला रही है। रुक्मिणी में अत वाह्य सौन्दर्य का मनोमुग्धकर सम्मेलन हुआ है। उसके अलौकिक रूप के सम्मुख प्राकृतिक उपमान भी हीन है। सारा वर्णन कवि के कल्पना-गौरव से गौरवान्वित है।

अन्य रस

'वेलि' में शृगार की प्रधानता होते हुए भी कवि ने अन्य रसो का भी चमत्कारपूर्ण परिपाक किया है। शृगार के पश्चात् दूसरे रसो में वीर को प्रधानता मिली है और रौद्र तथा वीभत्स उसके सहायक होकर आए है। शत्रुओ की घवडाहट—११२ तथा ११३ दोहले—दिखाने अथवा सखियो के वचनो के द्वारा हास्य की सृष्टि की गई है। साथ ही कही पर उससे नायक की प्रतिष्ठा वनाने और कही शृगार के पोपण में सहायता ली गई है। सखियो का हास शृगार के उद्दीपन का काम करता है। ११२ तथा ११३ दोहलो में तो ललकार सुनने पर शत्रु की वहुरूपिये के समान सज्जा का चित्रण अत्यन्त सफल हास्य के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। इससे शत्रु का उपहास होने के साथ साथ नायक की वीरता और निर्भीकता भी व्यक्त होती है। वस्तुत इससे वीर रस के परिपाक में सहायता ही मिलती है।

वीर रस के लिये इस प्रकार हास्य से सहायता लेने के अतिरिक्त कवि ने अन्य स्वाभाविक और उपयुक्त साधनो से भी सहायता ली है। यथा, शस्त्रो का उल्लेख, वलराम या रुक्मी तथा अन्य सैनिको का एक दूसरे को ललकारना, ओजमय पक्तियो का सगठन, शरसन्धान आदि के चित्र उपस्थित करके कवि ने वीर का अत्यन्त सफल रूप खडा किया है। कृष्ण अथवा वलराम के क्रोध का वर्णन रौद्र का उदाहरण है। १२५ तथा १२८ जैसे छन्दो में वीभत्स रस का वर्णन दर्शनीय है। १२० से १२५ तक के दोहलो मे वीभत्स रस का ही परिपाक हुआ है। कवि ने शस्त्रो के नाम के अतिरिक्त रणस्थल मे घोडो की नाक का वजना, शस्त्रो की झनकार, युद्ध की क्रियात्मकता के अत्यन्त सजीव तथा ओजमय चित्र अकित किये है। युद्धस्थल में किस प्रकार दो

सेनाओ का आमना-सामना होता है इसका अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन करते हुए कवि कहता है —

अळगी ही नैंडी की ऊखूवते, देठाळौ हुऔ दलाँ दुँह।
वागा ढेरवियाँ वाहरुए, मारकुए फेरिया मुँह ॥११६॥

इसी प्रकार प्रचण्ड रण की अनुभूति जाग्रत करने के लिये कवि ने कितने कौशल से ओजमय शब्दो का प्रयोग किया है, वह दर्शनीय है —

कळकळिया कुन्त किरण कळि ऊकळि,
वरजित विसिख विवरजित वाउ।
धडि धडि धवकि धार धारू जल,
सिहरि सिहरि समखै सिळाउ॥

ऐसे ही उदाहरणो के आधार पर 'वेलि' के सम्पादक पारीक जी का कहना है कि —प्रत्येक छन्द में ओज गुण की प्रधानता इतनी व्यक्त है कि मानो उसका आतक डरावने श्याम वादलो की छटा के रूप में गभीर घडघडाहट के साथ हमारे ऊपर घिरा पडता है। सस्कृत-साहित्य के कवियो में इस समय हमको कालिदास की प्रसाद माधुर्य पूर्ण शैली का विलास भूलकर भवभूति की ओजस्विनी शैली का स्मरण हो जाता है।—पृ० ७७।

रुक्मी के ललकारने पर कृष्ण का रौद्र रूप और शर-सन्धान का स्वाभाविक चित्र देखिये —

विळकुळियौ वदन जेम वाकार्‌यौ, सग्रहि धनुख पुणच सर-सन्धि।
क्रिसन रुकम आउध छेदन कजि, वेलखि अणी मूठि द्रिठि बन्ध ॥१३१॥

ललकारो में भी वडी मनोवैज्ञानिक कुशलता का परिचय देते हुए रुक्मी आदि के क्रोध तथा घृणा की व्यजना के लिए कृष्ण के लिये 'ग्वाला' आदि कहलाया है —

अवळा लेइ घणी भुंइ आयौ, आयौ हूँ पग माँडि अहीर ॥१३०॥ अथवा
माँखण चोरी न हुवै माहव, महियारी न हुवै महर ॥११४॥

रस-विरोध

'वेलि' के इन स्थलों में वीर तथा रौद्र को अगी रूप में रखकर यह कठिनाई उपस्थित होती है कि शृगार ग्रंथ मे वीरादि का ऐसा वर्णन दोप की सीमा तक जा पहुँचा है। सामान्यत वीर रस शृगार की सहायता

ही किया करता है क्योकि उससे नायक की वीरता और उसकी शक्ति का उत्कर्ष ही प्रकट होता है। यही कारण है कि हिन्दी के वीर काव्यो में शृगार तथा वीर रस का ही परिपाक हुआ है। किन्तु यहाँ इस प्रकार की शका का कारण केवल इतना ही है कि वेलि खण्डकाव्य है और इसमे शृगार के परिपाक के वीच वीर का इतना विस्तृत वर्णन करते हुए रौद्र आदि की ऐसी सहायता ली गई है कि सहृदय यह भूल ही जाता है कि वह शृगार का ग्रथ पढ या सुन रहा था। फलस्वरूप शृगार की एकतानता में वाधा पड जाती है। इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य को हानि पहुँचती है।

यद्यपि रस-विरोव से वचने की वात सभी रसो के लिये कही गई है किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन ने शृगार को अत्यन्त सुकुमार मानते हुए उसके विरोध से विशेष रूप से वचना आवश्यक वताया है। उन्होने कहा —

विरोधमविरोव च सर्वत्रेत्थ निरूपयेत्।
विशेषतस्तु शृगारे सुकुमारतरो ह्यसौ॥

किन्तु शास्त्रो में इस प्रकार का विधान है कि रसो के कुछ अविरोधी रस भी होते है जिनका प्रयोग किया जा सकता है। यहाँ तक कि स्थायीभाव तक भी दूसरे रसो के सचारी वनकर आ सकते है। इन अविरोधी रसो में वीर तथा शृगार एव रौद्र तथा शृगार की गणना की गई है। इसी प्रकार शृगार के साथ वीभत्स का सहज विरोध मानकर उनका एक साथ वर्णन अनुचित माना गया है।

'वेलि' मे वर्णित वीर रस तो शृगार की सहायता ही करता है किन्तु वीच में १२० से १२५ तथा १२८वें छन्दो मे रौद्र तथा वीभत्स के आ जाने से जुगुप्सा भाव उत्पन्न होते ही शृगार की प्रधानता नष्ट हो जाती है। यद्यपि काव्यप्रकाशकार ने रसो में विरोध न मानते हुए इसी वात की स्थापना की है कि जहाँ साम्य अथवा स्मृति के कारण वीभत्स का वर्णन हो वहाँ कोई दोष नही मानना चाहिये —

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षित।
अगिनि अगमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परौ॥

परन्तु 'वेलि' के वीभत्स वर्णन में इन दोनो में से कोई भी वात नही दीख पडती। अतएव 'वेलि' का यह स्थल रस-विरोध की कल्पना का परिहार नही

आचार्य मुशीराम जी शर्मा, 'सोम' एम० ए०, पी-एच० डी० की ओर से प्रेरक पत्र मिला—'स्रस्तवनु अर्जुन की भाँति शिथिलतनु होकर नही वैठना है।' फलस्वरूप अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित करके मै गत कई मास से विखरी हुई सामग्री के सचय और सयोजन में लगा। वेलि का यह सस्करण उसी यत्न का परिणाम है।

वेलि के प्रस्तुत सस्करण में मैने अन्य सस्करणो से सहायता लेने के साथ साथ उनसे कही अधिक सामग्री पाठको को भेंट करने की चेप्टा की है। वेलि के नामकरण और वेलि-ग्रथो की परम्परा तथा मराठी के रुक्मिणी-हरण काव्यों की चर्चा हिन्दी के लिये मैने पहली वार प्रस्तुत की है। वेलि की पृप्ठभूमि में भागवत, हरिवश तथा विप्णुपुराण की तत्सम्वन्धी कथा का वर्णन भी मेरी ओर से ही किया गया है। अभी तक केवल, सकेत से, भागवत का नाम लिया जाता रहा है। अन्य पुराणो का अध्ययन मैने पहली वार प्रस्तुत किया है। वेलि के रचनाकाल पर भी मैने मेनारिया जी के पश्चात् पहली वार विचार अपने ढग से प्रस्तुत किया है। अन्य सम्पादको ने इन प्रश्नो को उठाया ही नहीं। नन्ददास तथा नरहरि के 'रुक्मिणी-मगल' एव रघुराजसिह देव के 'रुक्मिणी-परिणय' से वेलि की तुलना भी मेरी ओर से ही हिन्दी के पाठको के सम्मुख पहली वार प्रस्तुत की जा रही है। वेलि मे हिन्दी तथा राजस्थानी के पूर्ववर्ती काव्यो की समस्त प्रवृत्तियो का प्रतिविम्व देखने की चेष्टा भी वहुत कुछ नई है तथा शास्त्रीय ढग से वेलिगत शृगार-रस का सविस्तर वर्णन भी अन्य किसी ग्रथ में उपलव्व नही हो सकेगा। अभिप्राय यह कि प्रस्तुत सस्करण पूर्ववर्ती सस्करणो से लाभान्वित होते हुए भी उनमे कही अविक सामग्री प्रस्तुत करने की चेष्टा से ही प्रकाशित किया जा रहा है। मेरा विश्वास है कि सहृदय पाठको को इस सस्करण से वहुत सी पठनीय सामग्री मिल जायगी और सभव है नवीन दिशा की ओर सकेत भी मिल सके। कुछ त्रुटियाँ अथवा कतिपय न्यूनताएँ सर्वथा सभव है, किन्तु विद्वानो द्वारा उनका निर्देश पाकर भविप्य में उनका मार्जन भी असभव नही है। ग्रथ को वृहदाकार न वना देने की चेप्टा तथा अन्य कारणो से भी अभी कुछ और वातो पर यहाँ विचार करना सभव न हो सका, किन्तु मुझे आशा है कि इस रूप में भी यह ग्रथ उपयोगी सिद्ध हो सकेगा, और आवश्यकतानुसार भविप्य में इसका परिप्कार भी किया जा सकेगा। अभी तो विद्वानो के शुभाशीप की ही आकाक्षा है।

करता। इस प्रसग को उपयुक्तता हम भावशान्ति, भावोदय आदि भावध्वनि का सहारा लेकर भी सिद्ध नही कर सकते। 'वेलि' के इस स्थल पर रौद्र तथा वीभत्स के वर्णन से निश्चय ही शृगार को कोई सहायता नही पहुँचती। अतएव अगीरस का अग हो जाना भी यहाँ उपयुक्त नही। इससे उत्तम काव्य का स्वरूप नही खडा होता। पारीकजी के शब्दो मे —ज्यादा युक्तिसगत तो यह होगा कि हम इस रस-भाव-विरोध को मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूत व्यग्य के अन्तर्गत अपराग व्यग्य का एक उदाहरण मानें। प्रकृत प्रकरण में व्यगरस अर्थात् रतिमूलक शृगार रस दूसरे रस अथवा भाव का अग वनकर गौण हो गया है अतएव गुणीभूत व्यग्य हुआ।—पृ० ८७। उनकी स्पष्ट सम्मति है कि उपरोक्त ५–६ दोहलो में वर्णित बीभत्स वर्णन शृगार प्रधान 'वेलि' के लिये अनुचित है। किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कवि ने इस दोष को बचाने के लिये भी पर्याप्त प्रयत्न किया है। उसने इन दोहलो को वीर सम्बन्धी दोहलो के वीच जहाँ-तहाँ प्रयुक्त किया है और इस प्रकार शृगार रस से इनको दूर ही रखा है। ऐसा करने से वीर तथा शृगार ही सयुक्त रह जाते हैं और अन्य रसो का प्रभाव क्षीण हो जाता है। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार भी ऐसे विरोधी रसो के वीच किसी अन्य अविरोधी रस के आ जाने से दोष नही रहता। इस सम्वन्ध में दूसरी वात यह भी कही जा सकती है कि वर्षा का रूपक स्थापित करके लेखक ने वीभत्स की जुगुप्सा को उन्नत नही होने दिया है। अतएव केवल ५–६ दोहलो के आधार पर रस-विरोध की कल्पना करके काव्य को दोषपूर्ण कहना विशेष सगत नही।

कला-पक्ष

'वेलि' में जहाँ एक ओर काव्य के अन्तरग की पूर्णता है वहाँ दूसरी ओर उसका वाह्य भी अलकारो की दीप्ति, शब्दो की कोमलता, ओज की कान्ति आदि से झलमला रहा है। अन्तर्वाह्य का आकर्षक सम्मिलन ही इस काव्य की विशेषता है। भाव और कला दोनो के मधुर मिश्रण से कविता-कामिनी का रूप निखर उठा है। अलकारो से एक एक दोहला अलकृत और भाव से भावित है। रीतिकाल में अनेक कवियो ने जिस प्रकार पाण्डित्य

प्रदर्शन के लिये अलकारो का नीरस अथवा अस्थान प्रयोग किया है, वैसा इस रमणीय काव्य में कही देखने को नही मिलेगा। अलकार का महत्व काव्य में केवल इसलिये नही होता कि वह केवल वाहरी आडम्वर प्रदान कर सके और उससे सहज, स्वाभाविक और स्पप्ट चित्र भी कृत्रिम, प्रयत्नपूर्वक योजित तथा अस्पष्ट लगने लगे वलिक अलकार का काव्य में महत्व इसलिये है कि उससे कवि हमारे सम्मुख साम्य, साधर्म्य अथवा विरोध आदि के आधार पर एक चित्र उपस्थित करने में समर्थ हो सके हम श्रव्य का भी दृश्य के समान आनन्द ले सकें। उससे हमारे भावो का ही अनुरजन न हुआ, हमारे सम्मुख एक रूप खडा न हो गया तो काव्य में अलकार का उद्देश्य ही क्या है। अतएव भाव के साथ चलते रहने में ही अलकार की महत्ता है। वह भाव का अनुगामी होना चाहिये, उसका स्वामी नही। अलकार को खपाने के लिये ही जो कविता-पक्तियाँ लिखी जायँगी वे सीधे कवि के हृदय से न निकल कर उसकी वौद्धिकता का परिणाम होगी। काव्य, वुद्धि के नही, हृदय के आश्रित है। वेलिकार ने इस वात को पूर्णतया ध्यान में रखा है और अलकारो का ऐसा सुन्दर प्रयोग किया है कि उनसे भावोत्तेजन, रूप-निर्माण आदि में सहायता ही मिलती है।

अलंकार

वेलिकार का कोई भी पद ऐसा नही है जो अलकृत न हो। यदि अर्यालकार का प्रयोग न हो सका हो तो वहाँ शव्दालकार की रमणीयता अवश्य प्राप्त हो जायगी। यो वेलि में अर्यालकार का ही प्राधान्य है। शव्दालकारो में अनुप्रास, यमक तथा वक्रोक्ति का उन्होने विशेप प्रयोग किया है। सावारणत. अनुप्रास दो-दो पक्तियो तक निवाहा गया है। यथा —

जम्प जीव नहीं आवतौ जाणे, जोवण जावणहार जण।
वहु विलखी वीछडती वाळा, वाळ सँघाती वाळपण॥

लाटानुप्रास तथा छेकानुप्रास ही अनुप्रासो में लेखक को अधिक प्रिय है। अनुप्रासो के प्रयोग से अर्थ-सौष्ठव और भाव-कमनीयता में सहायता मिली है जिससे पक्तियाँ चमत्कारपूर्ण हो गई है। लाटानुप्रास, छेकानुप्रास, के साथ साथ विभावना का सुन्दर मिश्रण कितना मोहक और सफल है, भाव की कितनी स्पप्टता लाने में समर्थ है और कवि के लाघव को किस प्रकार व्यक्त करता

है, यह सभी बातें एक साथ निम्न पक्तियो से प्रकट हो जाती है। भाव तरगित हो उठते है —

लाजवती अगि एह लाज विधि, लाज करन्ती आवै लाज।

केवल एक पक्ति में ही कितनी स्वाभाविकता ओतप्रोत है। कथन की कुशलता कैसी मोहक है। सकोच और लाज भी मानो मूर्तिमन्त हो गये हो।

कवि की वक्रोक्तियाँ भी देखने योग्य है। कवि ने श्लेष वक्रोक्ति को नही अपनाया है यह इस वात का प्रमाण है कि वह ध्वनित अर्थ में अधिक विश्वास रखता था, शाब्दिक चमत्कार का चक्कर उन्हें प्रिय न था। रुक्मिणी के पत्र में ६१ से ६४ तक काकु वक्रोक्ति का प्रयोग हुआ है। किन्तु सबसे अधिक सुन्दर नाटकीय प्रयोग शिशुपाल की सेना-प्रयाण के समय का है। विवाह मात्र के लिये शिशुपाल वडे उत्साह से देश-देश के न जाने कितने (अगणित) राजा साथ लेकर चल पडा है। उक्ति की वक्रता के कारण भविष्य मे कृष्ण के द्वारा शिशुपाल की पराजय और तज्जन्य हीनता का सकेत पाठक को पक्ति पढते ही मिल जाता है —

हुइ हरख घणै सिसुपाळ हालियौ, ग्रथे गायौ जेणि गति।
कुण जाणै सँगि हुआ केतला, देस देस चा देसपति॥

दोहले को पढने से ऐसा अनुभव होता है मानो यह ध्वनि निकलती है कि अयोग्य को अचानक सम्पति हाथ लग गई है जिसकी प्रसन्नता में वह फूला नही समा रहा है।

अर्थालकारो मे कवि को उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक विशेष प्रिय है। सबसे अधिक प्रयोग उसने उत्प्रेक्षा का किया है। तदनन्तर उपमा और रूपक का। इन सभी अलकारो में कवि की मौलिक सूझ और कल्पना का वह मधुर प्रभाव है जो काव्य को सरल वनाने में अत्यन्त सफल है। रुक्मिणी के रूप वर्णन, रथ के चलने, सध्या आदि के वर्णन, सभी मे इन अलकारो का स्वाभाविक तथा उचित समाहार हुआ है। रुक्मिणी के कुचो की श्यामता की उत्प्रेक्षा देखिये —

अति स्यामता विराजति ऊपर, जोवण दाण दिखाळिया जाणि॥

कहकर कवि ने रुक्मिणी के मादक यौवन का कैसा रसमय सकेत कर दिया

है। इसी प्रकार कचुकी के वर्णन मे भी कवि ने जिस कौशल से रुक्मिणी का कृष्ण के प्रति उपासक भाव, उसके आकर्षक यौवन तथा उरोज की पीनता तथा कठोरता का एक साथ वर्णन कर दिया है वह सराहनीय है। उत्प्रेक्षा के सहारे भावो का ऐसा सकेत कवि के कौशल तथा भाव-गाम्भीर्य को प्रकट करता है और इस वात को प्रमाणित करता है कि काव्य का अन्तरग कवि की कलात्मकता से वहुत निखार पा गया है। कवि में एक सफल चित्रकार की सी कुशलता है जो जहाँ तहाँ तूलिका चलाकर भावुक की कल्पना और भावुकता को उद्दीप्त कर देता है। उसके मन को रस-मग्न कर देता है। पृथ्वीराज की तूलिका से काव्य का कलेवर झलमला रहा है और केवल अलकार के फेर में रहने वाले भी इस सुखद योजना से प्रसन्न हो सकेंगे।

कवि की उपमाएँ तो और भी वढी चढी और रूप-निरूपण में चित्र तथा वातावरण की सृष्टि करने वाली है। उनकी उपमाएँ सामान्य प्रचलित उपमाओ का सकलन मात्र नही है, रूढि का आतक उनमे नही पाया जाता। पृथ्वीराज अपनी उपमाओ के लिये नई सामग्री लाये है और इस प्रकार अपनी मौलिक स्थापना करने के कारण उनका काव्य विशेप मोहक हो गया है। उनकी उपमाएँ प्राय पूर्ण है। वे लुप्तोपमा मे उतना विश्वास रखते प्रतीत नही होते। इन उपमाओ के सहारे उन्होंने काव्य में जीवन डाल दिया है। एक एक उक्ति सरस और सजीव है। भाव की सजीवता तथा व्यजना की मधुर योजना के लिये निम्न पद उद्धृत किया जा सकता है —

सग सखी सीळ कुळ वेस समाणी, पेखि कळी पदमिणी परि।
राजति राजकुँअरि रायअगण, उडीयण वीरज अम्व हरि॥

यदि कवि रुक्मिणी की उपमा केवल चन्द्रमा से देता तो वह सौन्दर्य न आ सकता जो सखियो के वर्णन से सभव हो सका। सखियो को उडुगण कहते ही तारो से भरे हुए नीले आकाश के वीच मधु वरसते, कान्ति, दीप्ति और शोभा के भाण्डार, ज्योत्स्ना रूपी मुस्कान छिटकाते हुए चन्द्रमा का ध्यान आ जाता है, एक वातावरण की सृष्टि हो जाती है। चित्र के सहारे रुक्मिणी का स्वाभाविक सौन्दर्य उभार पा जाता है। साथ ही 'वीरज' आकाश के कथन तथा पद्मिनी के उल्लेख से सरोवर की कल्पना सहज ही पाठक के मन में प्रवेश

कर जाती है। चित्र प्रस्तुत करने की यह कुशलता सस्तुति के योग्य है।

मृदुल कोमल पदावली और सार्थक शब्द प्रयोग के साथ साथ उपमा तथा क्रम अलकार की छवि से छविवान निम्न दोहला भी पृथ्वीराज की अनुपम काव्य-शक्ति का परिचायक है —

रामा अवतार नाम ताइ रुषमणि, मानसरोवरि मेरुगिरि।
वाळकति करि हस चौ बाळक, कनकवेलि विहुँ पान किरि॥

इसी प्रकार; रूपको के प्रयोग में भी कवि ने नवीन आधारो पर दृष्टि दौडाई है और सागरूपको का सफल प्रयोग किया है। कवि को जहाँ अवसर मिला वही उसने अपनी सूक्ष्म-निरीक्षण-कुशलता को प्रदर्शित करने के साथ साथ काव्य को प्रभावात्मक बनाने के लिये रूपक का प्रयोग किया है। युद्ध और वर्षा का रूपक, लोहार और कृष्ण का रूपक, रति के पूर्व पति-पत्नी के हृदयाकर्षण के समय जुलाहे का रूपक, यह तो कुछ ऐसे वर्णन हे जो पाठक को हर समय स्मरण रहेंगे, साथ ही १९वें पद में ऋतुराज तथा यौवन का रूपक, अपनी निराली छटा से पाठक को मुदित करता रहेगा। अन्य स्थलो पर भी रूपक का अत्यन्त सुखद प्रयोग हुआ ह किन्तु यह स्थल रूपक के विचार से इस काव्य के प्राण है । रूपक की एक अत्यन्त चित्रमयी स्वाभाविक् योजना देखिये —

वधिया तनि सरवरि वेस वधन्ती, जोवण तणौ तणौ जळ जोर।
कामणि करग सु बाण काम रा, दोर सु वरुण तणा किरि डोर॥ २३॥

उक्त दोहले में कवि ने प्राकृतिक सत्य के रूपक के सुन्दर प्रयोग के साथ ही सहोक्ति अलकार को भी खीच लिया है। यौवन का उद्वेलन और अगों का उभार जितना स्वाभाविक है उतना ही चन्द्रमा को देखकर जल का उत्ताल तरगों से चढना भी, जिसका सकेत कवि ने 'शर्वरी, तथा 'जलजोर' शव्दो के द्वारा कर दिया है। उसी प्रकार रुक्मिणी के कराग्र आदि का रूपक भी अनूठा है। वह यौवन-जन्य `माँसलता की अनुभूति कराने के साथ साथ आकर्षण की सृष्टि भी करता है।

तात्पर्य यह कि कवि सकेत तथा अलकारो के सहारे अनुपम रूप-चित्र खडा करने में अत्यन्त कुशल है। उसके रूपक उसकी उपमाएँ आदि एकदम पूर्ण और

भावोत्तेजक है। अधिक उदाहरण न देकर अलकारो के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भाव के साथ अलकार का ऐसा सजीव सम्मिलन हिन्दी काव्य में महत्व का स्थान पाने योग्य है । सर्वत्र कवि की कल्पना, मजुल भावापन्नता और सूक्ष्म-निरीक्षण का प्रभाव लक्षित होता है। काव्य-शास्त्र मे वताये गये प्राय सभी अलकारो का उपयोग इनके काव्य में हुआ है और कई स्थलो पर तो एक साथ कई कई अलकार प्रयुक्त हुए है।

शब्द प्रयोग

काव्य-सौष्ठव के लिये वेलिकार ने शब्द-चयन और उनके प्रयोग में वडी कुशलता से काम लिया है। एक एक शब्द चुनकर रखा गया प्रतीत होता है। शब्द के द्वारा अर्थ और भाव का सफल द्योतन करा लेना ही सफल कवि की पहचान है। आपने यथास्थान कोमल कान्त पदावली, ओजमयी शब्दावली आदि से काम लिया है। 'वेलि' शृगार का ग्रथ है अतएव मार्दव तथा मधुरता उसका अपना गुण होना ही चाहिये। कोमल भावो को व्यजित करने की सामर्थ्य जिस पदावली में होगी वही शृगार की योजना में सफल होगी। 'वेलि' में शब्द-प्रयोग के अन्तर्गत अनेक चमत्कारो का दर्शन होता है। शब्दो पर कवि को पूर्ण अधिकार है और उसकी प्रशसा इस वात में है कि डिगल भाषा, जिसे केवल वीर रस के उपयुक्त समझा जाता है, को भी पृथ्वी-राज ने शृगार की मधुरता से भर दिया है । ऐसा प्रतीत होता है जैसे डिगल मे भी शृगार की योजना के लिये उतना ही मार्दव है जितना ब्रजभाषा में। निम्न पद में कोमल पद-योजना और माधुर्य का आनन्द लीजिये —

अन्तर नीळम्वर अवळ आभरण, अगि अगि नग नग उदित।
जाणे सदनि सदनि सजोई, मदन दीपमाळा मुदित ।।१०१।।

प्रवाह और सगीत लहरी के आनन्दानुभव के लिये द्वारिका का निम्न वर्णन पठनीय है —

पणिहारि पटळ दळ वरण चँपक दळ, कळस सीस करि कर कमळ।
तीरथि तीरथि जगम तीरथ, विमळ ब्राह्मन जळ विमळ ।।

कैसा हिन्दोल का सा शब्दो का उतार चढ़ाव है। पदावली पेंग लेती सी जान पडती है। साथ ही मन भी लहरे लेने लगता है। सगीत की कैसी अपूर्व गति ह। सगीत का आरोहावरोह अलग अलग एक एक पक्ति में देखना हो

तो आगे का ही पद इसका प्रमाण है जिसकी प्रथम पक्ति में स्वर का साधन और क्रमिक आरोह है दूसरी में श्वास की मृदुता का अनुभव होने लगता है और कुछ विश्राम सा मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक एक पग उतार में सभल सभल कर रखा जा रहा है, न चढ़ाव में सरपट दौड़ है न उतार में। पद इस प्रकार है —

जोवै जाँ गृहि गृहि जगन जागवै, जगनि जगनि कीजै तप जाप।
मारगि मारगि अम्ब मौरिया, अम्बि अम्बि कोकिल आलाप।।

तीसरी और चौथी पक्ति में भी वही क्रम स्पष्ट है।

त्वरा के प्रदर्शन में भी कवि ने शब्दो का विचारपूर्ण सार्थक प्रयोग किया है जिससे भाव स्पष्ट व्यक्त होता है। रुक्मिणी का पत्र पाने के पश्चात् कृष्ण कितने आतुर हो तुरन्त चल पडे इसका सुन्दर शब्दो में कवि ने वर्णन करते हुए कहा है —

सारग सिळीमुख साथि सारथी, प्रोहित जाणणहार पथ।
कागळ चौ ततकाळ कृपानिधि, रथ वैठा सांभळि अरथ।।

कैसे दौडते हुए शब्द है। कही रोक नही, कही साँस नही ली जा रही है। एक ही साँस में कवि ने सब कुछ एकत्र कर दिया है और कृष्ण की रथ में वैठने की उतावली दिखाते हुए अन्त में जो शब्द-प्रयोग किया है वह तो अपने आप में एक चित्र है। ध्यान दीजिये कि कवि ने कृष्ण को रथ में पहले ही वैठा दिया है, उसके पश्चात् यह कहा है कि वे पत्र का आशय समझने के वाद वैठे। यहाँ क्रम-भग की वात नही कहनी चाहिये, त्वरा प्रदर्शन की अपूर्व सफलता के लिये कवि की सराहना करनी चाहिये कि वह भावोपयुक्त शब्द-प्रयोग का महत्व जानता है। इसी प्रकार ६९ तथा अन्य पद भी है।

ब्राह्मण द्वारिका पहुँच गया है। उसके आश्चर्य को कवि ने शब्दो के प्रयोग से ही पूर्ण स्पष्ट प्रकट कर दिया है —

सम्प्रति ए किना किना ए सुहिणौ, आयौ कि हूँ अमरावती।
जाइ पूछियौ तिणि इमि जम्पियौ, देव सु आ दुआरामती।।

इसी प्रकार ललकार के समय अथवा रुक्मी द्वारा कृष्ण निन्दा के समय कृष्ण के लिये जो 'ग्वाला' आदि शव्द प्रयुक्त हुआ है वह भी रुक्मादि की ईर्ष्या, रोप आदि के प्रकट करने में सहायक है। उससे काव्य को स्वाभाविक सौन्दर्य मिला है। इसी प्रकार का सार्थक शव्द कवि ने—'गूंथियै जेणि सिंगार ग्रथ'—पक्ति मे 'गूंथियै' शव्द रखा है। इसके स्थान पर यदि रचियै शव्द रख दिया जाय तो ग्रथरचना की प्रयत्नशीलता, सगठन का प्रयत्न आदि का भाव जाता रहेगा।

गति के अनुकूल शव्द-योजना का एक उदाहरण और देखिये; पदावली कैसी मन्द गभीर है —

पदमिणि रखपाळ पाइदळ पाइक, हिळवळिया हलिया हसति।
गमे गमे मदगलित गुडन्ता, गात्र गिरोवर नाग गति॥

शव्द - प्रयोग के ही सहारे चित्र उपस्थित करने में भी पृथ्वीराज किसी से पीछे नही है। दूर से आते हुए व्यक्ति क्षितिज पर दीखती सी रेखा को किस प्रकार आँखो के ऊपर हाथ रखकर देखता है इसका सुखद चित्रण इस पक्ति में ह। —"दूरा नयर कि कोरण दीसै, धवलागिरि की ना धवळहर।"

शव्द-प्रयोग द्वारा अर्थ का मन-चाहा प्रयोग करा लेना कवि की कुशलता का प्रमाण होता है। पृथ्वीराज ने इस कौशल मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है। ओज के वर्णन मे भी उसी प्रकार की पदावली का प्रयोग कवि ने किया ह और स्थल स्थल पर केवल शव्दो की ध्वनि से ही अर्थ का द्योतन चमत्कार पूर्ण रीति से करा दिया है। उसका उदाहरण हम वीररस के अन्तर्गत दे आए है। यहाँ शव्द-शक्ति के प्रयोग के लिये भी एकाध स्थल का सकेत कर देना उचित होगा।

पृथ्वीराज अर्थध्वनि तथा लक्षणा के प्रयोग में अत्यन्त कुशल है। अर्थध्वनि के लिये निम्न पद में 'जागिया पयोहर' वाक्य-खण्ड पर ध्यान देना चाहिये जिसके द्वारा नायिका के आलस्य तथा उरोजो का क्रमश उन्नत होना आदि भावो का सकेत मिलता है।

पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ प्राची, अरुण कि अरुणोद अम्बर।
पेखे किरि जागिया पयोहर, सझा वन्दण रिखेसर॥

इसी प्रकार ४६ तथा ४७ पद में लक्षणा का चमत्कार भी दर्शनीय है। ४६ पद में केवल 'गहमह' शब्द के प्रयोग द्वारा दीपको की जगमगाहट बता दी गई तथा ४७ वें में 'जगति' शब्द का प्रयोग करके—द्वारिका को जगत कहकर—जगत् मे व्याप्त भगवान की व्यापकता का सकेत भी कर दिया। इस प्रकार एक ही शब्द मे पूर्ण चमत्कार समाया हुआ है। अपने अर्थ को व्यक्त करने के लिये न केवल ऐसे शब्दो का ही प्रयोग किया है वलिक दैनिक मुहावरो को भी अपना लिया है। यथा; अपनी असमर्थता प्रकट करने के लिये कवि कहता है —

जाणे वाद माँडियौ जीपण वागहीण वागेसरी॥

एक ही मुहावरे से कवि ने अपनी असमर्थता तथा प्रयत्न की व्यर्थता का सकेत कर दिया। साथ ही देखिये कि पक्ति में कितने चुनकर शब्द सजाये गये है कि 'वाकहीन' की तुलना में सरस्वती या भारती आदि न कहकर 'वागेसरी' का प्रयोग किया गया है। श्रीयुत मोतीलाल मेनारिया ने ठीक ही कहा है कि "जिस प्रकार एक चतुर सुनार किसी नग की ठीक ठीक परीक्षा कर लेने के पश्चात् फिर उसे आभूषण मे विठाता है उसी तरह पृथ्वीराज ने भी प्रत्येक शब्द को खूब सोच विचारकर, पूरी तरह से शोधकर, वेलि में स्थान दिया ह। अत कोई शब्द कही बेमौके नही है। प्रत्येक शब्द चित्रोपम, भावोपयुक्त एव उपादेय है और अपने स्थान पर ठीक बैठा है।"—रा० भाषा और सा०, पृ० १२५।

अन्त में इस सम्वन्ध में यह और कहना है कि पृथ्वीराज ने अपने भावो को प्रकट करने के लिये अन्यान्य भाषाओ से शब्द ग्रहण करने में तनिक भी सकोच नही किया है, जिनके कारण अरवी के सिलह, हवाई, रासि जैसे शब्द, फारसी के ज़ोर, बाजूवध, गरकाव, रुख, जुजुआ—जुदा जुदा, दूवै-दुआ—जसे शब्द, उरप, टाल्लौ आदि देशी शब्द, सूं, केम, कागळ, थई, अनै जैसे गुजराती प्रयोग, नयर, वयण, भौ-भय, सायर, अवर आदि प्राकृत शब्द उनके काव्य में अपने ही वनकर समा गये है। कही भी ऐसा अनुभव नही होता कि यह अपने नही है। सस्कृत तथा हिन्दी के भी वहुत से शब्दो का सहज प्रयोग लेखक ने किया है। सस्कृत के शब्द तो वहुत अधिक परिमाण में है। किन्तु

कवि की यह विशेषता है कि उसने अपने प्रयोग या छन्द-मात्रा के लिये कही भी किसी शब्द को तोडा मरोडा नही है। यथासभव उनके प्रचलित रूप ही ग्रहण किये है और त्रिमल, भ्रम, त्रिघपण, म्रजाद जैसे शब्द सख्या में बहुत कम ही है। साराश यह कि कवि को अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार था जिसके सहारे भाव के व्यक्त करने में उसे अद्भुत सफलता मिली है।

वयणसगाई अलंकार

यह शब्दालकार है। यह शब्दानुप्रास डिंगल काव्य में आवश्यक सा माना गया है और वयणसगाई का ठीक ठीक उपयोग करने वाला कवि प्रशसा का पात्र रहा है। 'वेलि' में इसका प्रत्येक चरण में निर्वाह करने का प्रयत्न किया गया है। इसका लक्षण इस प्रकार है —

आवै इण भाषा अमल वैण सगाई वेप।
दग्ध अगण वद दुगुण रो लागत नहि लवलेश ॥

इसमें अक्षरो को रखने का क्रम बताते हुए कहा गया है —

वरण मित्त जू धरण विध, कवियण तीन कहत।
आद अधिक, सममव अवर, न्यून अक सो अत ॥

यह अलंकार कभी कभी चरण के प्रथमाक्षर में तथा अन्तिम शब्द के प्रथमाक्षर में ही सघटित न होकर चरण के प्रथमाक्षर तथा चरण के मध्यवर्ती किसी शब्द के प्रथमाक्षर में भी सघटित हो जाता है। कभी कभी एक ही चरण के दो पृथक् भागो में भी इसका अलग अलग निर्वाह किया जाता है, जिसे अन्तरग वयणसगाई कहा गया है। यथा, 'कोकिल कण्ठ, सुहाइ सर।' अथवा छ० ६ १५, ४९, ६२, ८१, ९०, ९३ के प्रथम चरण तथा २० एवं १८६ के दूसरे चरण में पाया जाता है। कही कही कवि ने परिपाटी के बन्धन से मुक्त होकर अपना स्वतन्त्र कौशल दिखाते हुए वयण सगाई का प्रयोग किसी चरण के प्रथमाक्षर के उसी चरण के अन्तिम शब्द के आदि, मध्य अथवा अन्तर्वर्ती किसी अक्षर से सघटन के रूप में किया है। यथा—'ग्रिह ग्रिह प्रति भीति सुगारि हीगलू।' में हीगलू के ग से वयण सगाई पूरी हुई। इसी प्रकार अन्य दोहलो में भी यह प्रयोग मिल जायगा। वयण सगाई का यह नियम भी बताया जाता है कि यदि कारक चिह्न अन्त में ही हो तो उसे सज्ञा का अभिन्न भाग मानकर सज्ञा के प्रथमाक्षर